ARSHGRANTHAWALI LAHORE—Rgtr.L·No. 575.

Vol. V and VI] August 1909 to May 1910
Nos. 8-12 and 1-5

आर्षग्रन्थावलि।
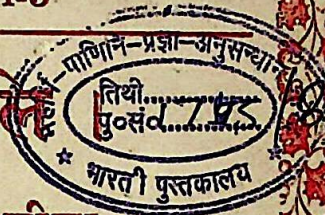
श्रीमद्-भगवद्-गीता

का

हिन्दी भाष्य

पं० राजाराम संस्कृत प्रोफैसर

डी० ए० वी० कालेज लाहौर प्रणीत

इसमें गीता के मूल श्लोक, पदच्छेद, पद २ के अर्थ, अन्वयार्थ, और तात्पर्यार्थ, अलग २ दर्शा दिये हैं। उपनिषद्वाक्यों से मेल और दूसरे आचार्यों के व्याख्याभेद भी टिप्पनी में देदिये हैं।

विषय सूची और श्लोक सूची भी साथ है।

1910.

PRINTED AT THE BOMBAY MACHINE PRESS, LAHORE.

पहली बार]

[मूल्य २)

कार्यालय आर्षग्रन्थावलि

(१)–इस कार्यालय से संस्कृत के उत्तम उत्तम पुस्तक हिन्दी भाष्य समेत प्रकाशित होते रहते हैं।

(२)–हर महीने कोई नया ग्रन्थ प्रकाशित होता है, अथवा एक ही ग्रन्थ बड़ा हो, तो कई महीनों में प्रकाशित होता है।

(३)–वार्षिक मू० ३) अगाऊ भेजकर आप वर्ष भर इन ग्रन्थों को ले सक्ते हैं।

(४) इस तरह नियत ग्राहक होजाने से यह ग्रन्थ आपको एक तो छपते ही मिल जाएंगे, और दूसरा सस्ते पड़ेंगे। और इसके सिवाय जो पहले के छपे हुए ग्रन्थ आप मंगवाएंगे, उनमें भी आपको विशेष रिआयत मिलेगी।

(५) इस कार्यालय से और भी सब प्रकार की पुस्तकें आप को रिआयत से मिलेंगी।

पत्र व्यवहार इस पते से करें—

मैनेजर आर्षग्रन्थावलि लाहौर।

पुस्तकों की सूची आगे देखो—

संस्कृत विद्या के अनमोल रत्न

यदि संस्कृत विद्या के अनमोल रत्न थोड़े मूल्य में और आसानी से पाना चाहते हो, तो इन पुस्तकों को पढ़ो–इन सब का भाष्य हिन्दी भाषा में किया गया है, जिसको आप आसानी से समझ लेंगे–और मूल संस्कृत पाठ भी साथ २ है—

श्रीमद्-भगवद्-गीता का विषय सूची

पहला अध्याय—अर्जुन की उदासी

दूसरा अध्याय—सांख्ययोग (३०)

तीसरा अध्याय–कर्मयोग (८२)

चौथा अध्याय–यज्ञ विभागयोग (११०)

पांचवां अध्याय कर्म संन्यासयोग (१४०)

छटा अध्याय—ध्यानयोग (१६२)

सतवां अध्याय—विज्ञानयोग (१९३)

आठवां अध्याय—अक्षरब्रह्मयोग (२१८)

नवां अध्याय–राजविद्या राजगुह्य योग (२४०)

दसवां अध्याय–विभूतियोग (२६६)

ग्यारहवां अध्याय—विश्वरूप—दर्शनयोग (२९१)

बारहवां अध्याय—भक्तियोग (३२५)

तेरहवां अध्याय—क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभागयोग (३३७)

चौदहवां अध्याय—गुणत्रय विभागयोग (३५६)

पन्द्रहवां अध्याय—पुरुषोत्तमयोग (३६९)

सोलहवां अध्याय—दैवासुर संपद्विभागयोग (३८०)

सत्तरहवां अध्याय श्रद्धात्रय विभागयोग (३९२)

अठारहवां अध्याय—मोक्ष संन्यासयोग (४०७)

श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों का अकारादि-सूची

श्लोकप्रतीकानि	अ०	श्लो०
अ.		
अकीर्तिं चापि भूतानि	२	३४
अक्षरं ब्रह्म परमम्	८	३
अक्षराणामकारोऽस्मि	१०	३३
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः	८	२४
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्	२	२४
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा	४	६
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च	४	४०
अत्र शूरा महेष्वासाः	१	४
अथ केन प्रयुक्तोऽयम्	३	३६
अथ चित्तं समाधातुम्	१२	९
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यम्	२	३३
अथ चैनं नित्यजातम्	२	२६
अथवा योगिनामेव	६	४२
अथवा बहुनैतेन	१०	४२
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा	१	२०
अथैतदप्यशक्तोऽसि	१२	११
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि	११	४५
अदेशकाले यद्दानम्	१७	२२
अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्	१२	१३
अधर्मं धर्ममिति या	१८	३२
अधर्माभिभवात्कृष्ण	१	४१
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य	१५	२
अधिभूतं क्षरो भावः	८	४
अधियज्ञः कथं कोऽत्र	८	२
अधिष्ठानं तथा कर्ता	१८	१४
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्	१३	११
अध्येष्यते च य इमम्	१८	७०
अनन्तविजयं राजा	१	१६
अनन्तश्चास्मि नागानाम्	१०	२९
अनन्यचेताः सततम्	८	१४
अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्	९	२२
अनपेक्षः शुचिर्दक्षः	१२	१६
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्	१३	३१
अनादिमध्यान्तमनन्त०	११	१९
अनाश्रितः कर्मफलम्	६	१
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च	१८	१२
अनुद्वेगकरं वाक्यम्	१७	१५
अनुबन्धं क्षयं हिंसाम्	१८	२५
अनेकचित्तविभ्रान्ताः	१६	१६
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्	११	१६
अनेकवक्त्रनयनम्	११	१०
अन्तकाले च मामेव	८	५
अन्तवत्तु फलं तेषाम्	७	२३
अन्तवन्त इमे देहाः	२	१८
अन्नाद्भवन्ति भूतानि	३	१४

गीता भाष्य की भूमिका

गीता यद्यपि एक छोटीसी पुस्तक है, पर इस के सारे शब्द मोतियों के तोल तुले हुए हैं। इस छोटीसी पुस्तक में मनुष्य की सर्वांग उन्नति का रहस्य भरा हुआ है। जीवन की वह उच्च अवस्था, जहां पहुंच कर मनुष्य सच्ची स्वतन्त्रता लाभ करता है, इस में दर्शाई है, और वहां पहुंचने का सीधा मार्ग बतलाया है। गीता मनुष्य को पुरुषार्थी बनाती है, गीता मनुष्य को अपने ऊपर भरोसा करना सिखलाती है,हां गीता मनुष्य को मनुष्यमात्र का समवेदक(हमदर्द) बना देती है। गीता वह मार्ग दिखलाती है, कि जिस से मनुष्य संसार में रहता हुआ भी संसार से निर्लेप रहता है, और कर्म करता हुआ भी कर्म से निर्लेप रहता है। गीता के उदार उपदेशों में निष्काम कर्म का उपदेश है, यह निष्काम कर्मही मनुष्य के हृदय का ऊंचा महत्व है। भक्ति रस में गीता मनुष्य को वह अमृतोपदेश देती है कि वह सर्वथा परमेश्वरपरायण होजाए, हां परमेश्वर उसका हो, और वह परमेश्वर का होजाए। ज्ञान के विषय में आत्मा और परमात्मा का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय इस में पूरा २ वर्णन किया है,अतएव गीताकी महिमा में यह श्लोक कहा गया है:—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

सारी उपनिषदें गौएं हैं, और श्रीकृष्ण दोहने वाले हैं। अर्जुन बछडा है, ज्ञानी जन दूध का पीने वाला है,और दूध जो बडा अमृत है वह यह गीता है।

इस अमृत का पान कराने के लिये हमने गीता का यह भाषा भाष्य आरम्भ किया है।

इस भाष्य में गीता का पदार्थ और अन्वयार्थ दोनों अलग २ लिखे हैं। पदार्थ में क्रम से एक २ पद का अलग २ अर्थ दिया है। पद (बन्धनी) में हैं, और अर्थ बन्धनी के बाहर। जहां सुगम जानकर एक ही बन्धनी में दो तीन पद रक्खे हैं, वहां एक २ पद के साथ लघु विराम(,) का चिन्ह दिया है। जैसे १।१ में (धर्म–क्षेत्रे, कुरु–क्षेत्रे) पुण्य स्थान कुरु क्षेत्र में। ऐसी जगह पर पदों के क्रम से ही अर्थ का भी क्रम रक्खा है। अर्थात 'धर्म क्षेत्रे' का अर्थ 'पुण्य स्थान' और 'कुरु क्षेत्रे' का कुरु क्षेत्र में। पर 'च' का अर्थ 'और' पहले लिखा गया है, जैसे १। १ में (पाण्डवाः, च) और पाण्डव। जहां समास है, वहां उस समस्तपद में जितने व्यस्त (अलग २) पद हैं, उन में संयोजक–चिन्ह दिया है जैसे १।१ में 'धर्म–क्षेत्रे' यहां धर्म और क्षेत्र इन दो पदों का समास है अर्थात् यह समस्त पद है। जहां समस्त पदों में सन्धि हुई है, वहां सन्धिच्छेद भी कर दिया है, जैसे 'पाण्डवानीकं' का (पाण्डव–अनीकं)। अलग २ पदों में जो सन्धि है, वह पदच्छेद करके स्पष्ट करदी गई है, जैसे १। १ में 'पाण्डवाश्चैव' का 'पाण्डवाः, च, एव'। जो पद केवल श्लोक की पूर्ति के लिये आया है उसका अर्थ नहीं दिया है, जैसे १। १ में (एव)। इससे श्लोक का पदच्छेद और पद २ का अर्थ पूरा २ ज्ञात हो सकेगा, तथा पदच्छेद में और पदों के अर्थ में कोई भ्रान्ति शेष नहीं रहेगी। विशेष्य विशेषण के विषयमें संस्कृत की चाल तो यह है, कि विशेषण और विशेष्य दोनों में ही अलग २ एकही विभक्ति दी जाती है, जैसे १।१ में 'धर्म क्षेत्रे, कुरु क्षेत्रे' दोनों में सप्तमी विभक्ति अलग २ है। वहां हिन्दी में केवल विशेष्य में विभक्ति दी जाती है, विशेषण में नहीं। सो हमने शब्दार्थ में यही नियम रक्खा है। जैसे 'धर्म क्षेत्रे, कुरु क्षेत्रे' के अर्थ में 'पुण्य स्थान कुरु क्षेत्र में, इस प्रकार सप्तमी विभक्ति 'में' विशेष्य के साथ लगाई है,

विशेषण के साथ नहीं । कर्तृवाचक भूत काल के अर्थ में हमने कहीं २ 'भया' वा 'भए' शब्द का प्रयोग किया है, जैसे १।१ में 'अकुर्वत' करते भए । क्योंकि 'हुआ' वा 'हुए' शब्द का प्रयोग कृदन्त प्रत्ययों में होता है, न कि आख्यात में, जैसे १।१ में 'समवेताः' इकट्ठे हुए। और यदि 'किम्, अकुर्वत' का 'क्या किया' अर्थ करें, अर्थात् इकट्ठे हुए मेरे लोगों और पाण्डवों ने क्या किया, तो यह वाक्य कर्मवाचक होजाता है, पर संस्कृत में कर्तृवाचक है, जिसको 'करते भए' शब्द ठीक प्रकट कर सक्ता है,इसलिये ऐसा ही किया है ।

अन्वय में फिर उन्हीं पदों की अन्वय क्रम से योजना की गई है हां जहां कहीं निरे पदार्थों की योजना में हिन्दी की शैली बिगड़ती है, वहां अन्वय में पदार्थों से अत्यल्पसा भेद करके हिन्दी की शैली से अन्वय लिखा गया है ।

जो बात अधिक व्याख्या के योग्य है, वह भाष्य वा टिप्पनी में स्पष्ट करदी गई है । और जो बात दूसरे ग्रन्थों की सहायता से सुस्पष्ट होती है, वह दूसरे ग्रन्थों के प्रमाण देकर पूरी स्पष्ट करदी गई है देखो १।२ में 'व्यूढं' का अर्थ, इस प्रकार व्याख्या करने से किसी को किसी प्रकार की कोई भ्रान्ति नहीं उत्पन्न होगी किन्तु अर्थ और तात्पर्य सब अलग २ स्फुट २ प्रतीत होंगे ।

गीता के यथार्थ अर्थ और यथार्थ तात्पर्य पर पहुंचने और पहुंचाने के लिये हमने जो परिश्रम उठाया है, वह इसके पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता जाएगा, उदाहरण के लिये देखो आरम्भ में ही १।१ पर 'कुरु क्षेत्र' की टिप्पणी । १।२ पर 'व्यूढं' की टिप्पणी। और १।१० पर 'अपर्याप्तं' और 'पर्याप्तं' पर का भाष्य ।

गीता में सिद्धान्त सम्बन्धी बहुत से वाद विवाद हैं, जो पुराने व्याख्याकारों में भी रहे हैं, और अब भी हैं, पर व्याख्याता का कर्तव्य यह नहीं होता कि वह अपने व्याख्येय ग्रन्थ को उलट फेर करके उसमे अपने सिद्धान्त निकाले, किन्तु व्याख्यता का कर्तव्य यही है, कि ग्रन्थ कर्ता के अभिप्राय को ही पूरे धर्मभाव के साथ अविकल प्रकट करे। इस लक्ष्य को सामने रख कर हमने यह व्याख्या की है।

जैसाकि गीतामें यह बात स्पष्ट है, कि एकही आत्मा सब प्राणियों में स्थित है, हमारा आत्मा उससे अलग नहीं है। इस अभिप्राय को हमने गीता के ही आशय पर स्पष्ट किया है, निकम्मी मोड़ तोड़ से उलट पलट नहीं किया, यद्यपि मेरा अपना दृढ़ विश्वास यहीहै, कि सर्वेश्वर परमात्मा हमारे आत्मा से अलग हमारे आत्मा का आत्मा हमारा पूज्य है*। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। मुझे आशा है, कि यह व्याख्या सचाई के प्रेमियों को अधिक प्रिय होगी :—

सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः ।

[ऋग् १०।३७।२]

राजाराम

---

* गीता भाष्य के अनन्तर एक अलग पुस्तक 'गीता की शिक्षा' लिखेंगे, जिसमें गीता की उच्च शिक्षाओंका वर्णन होगा और सिद्धान्त भेद पर विचार होगा। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, आदि सिद्धान्तों के भेदों को समझने के लिये 'उपनिषदों की भूमिका' अवश्य देखो।

॥ ओ३म् ॥

भगवद्गीता=भगवान् का गीत

धृतराष्ट्रउवाच=धृतराष्ट्र ने कहा

पहला अध्याय–(अर्जुनविषाद=अर्जुन की उदासी)

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१

शब्दार्थ–(धर्म-क्षेत्रे, कुरु-क्षेत्रे) पुण्य-स्थान कुरुक्षेत्र में (समवेताः) इकठ्ठे हुए (युयुत्सवः) युद्ध करने की इच्छा वाले (मामकाः) मेरे (पाण्डवाः, च) और पाण्डव (एव) (किम्, अकुर्वत) क्या करते भए (सञ्जय) हे सञ्जय !

अन्वयार्थ–हे सञ्जय ! पुण्यस्थान *कुरुक्षेत्र में इकठ्ठे हुए युद्धाभिलाषी मेरे लोग और पाण्डव क्या करते भए ?

सञ्जयउवाच=सञ्जय ने उत्तर दिया

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

---

* कुरुक्षेत्र अर्थात् कुरुओं का क्षेत्र (मैदान) । इस में यज्ञ आदिक कर्म बहुत हुएथे इससे इसको धर्मक्षेत्र वा पुण्य क्षेत्र कहते थे । राजा कुरु इन सब का बडा हुआ है, उसीके नाम से यह कौरव कहे जाते थे । पाण्डव भी उसी की सन्तान में से थे । अत एव यह भी कौरव कहलाते थे । १०।१९ में अर्जुन को 'कुरुश्रेष्ठ' 'कौरवों में श्रेष्ठ' कहा हैं । किन्तु पाण्डु के पुत्र होने से इनको पाण्डव कहतेथे । इनके लिये अलग शब्द 'पाण्डव' प्रसिद्ध हो गया था इस लिये इनको प्रायः इसी नामसेही बुलाते थे कौरव नामसे दुर्योधनादि को बुलाते थे ।

श०–(दृष्ट्वा) देखकर (तु) (पाण्डव-अनीकं) पाण्डवों की सेनाको (व्यूढं) व्यूह रूपसे खड़ी की गई* (दुर्योधनः,तदा) दुर्योधन तब (आचार्यं, उपसंगम्य) आचार्य के पास जाकर (राजा) राजा (वचनं, अब्रवीत्) वचन बोला ।

अ०–व्यूह रूपसे खड़ी की गई पाण्डवों की सेना को देखकर, तब राजा दुर्योधन आचार्य के पास जाकर (यह) बोला ॥

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

श०–(पश्य) देख (एतां) इस (पाण्डु–पुत्राणां) पाण्डु के पुत्रों की (आचार्य) हे आचार्य ! (महतीं,चमूं) बड़ी सेना को (व्यूढां) व्यूह रूप से खड़ी की गई (द्रुपद–पुत्रेण) द्रुपदके पुत्रसे (तव, शिष्येण) तेरे शिष्य (धीमता) बुद्धिमान् ।

अ०–देख हे आचार्य ! पाण्डु के पुत्रों की इस बड़ी सेना को, जो बुद्धिमान्, तेरे शिष्य * द्रुपद के पुत्र (धृष्टद्युम्न) से व्यूह रूपसे खड़ी की गई है ॥

---

*अक्षरार्थ व्यूह की गई तात्पर्य व्यूह के आकार में खडी की गई। युद्ध क्षेत्रको जाते समय वा युद्ध करते समय सेनाका जो निवेश (तरतीब) होता है उसको व्यूह कहते हैं अर्थात् जंगकी सफ battle-array मनु ७।१८७। १८८ में कुछ व्यूह वर्णन किये हैं, जैसे दण्ड व्यूह–अर्थात् दण्ड की नांई व्यूह एवं छकडे के नांई, सूअर की नांई,मगरकी नांई,सूई की नांई,और पद्म की नांई । यहां पाण्डवों ने जो व्यूह बांधा था वह वज्रव्यूह था जिस का वर्णन मनु ७ । १९१ में है ॥

*'तेरे शिष्य' कहने का अभिप्राय आचार्य के क्रोध को भड़कानेका है। कि तेराही शिष्यहोकर तेरे विरुद्ध युद्ध करने को खडा है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधनो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

श०—(अत्र) इस में (शूराः)शूर=सूरमे=बहादुर(महा-इष्वासाः) बड़े धनुषों वाले=बड़े धनुर्धारी (भीम-अर्जुन—समाः) भीम और अर्जुन के बराबर (युधि) युद्ध में—(युयुधानः, विराटः, च) युयुधान और विराट् (द्रुपदः, च) और द्रुपद (महारथः) महान् रथवाला।४। (धृष्टकेतुः, चेकितानः) धृष्टकेतु और चेकितान (काशि राजः, च) और काशि का राजा (वीर्यवान्) वीर्यवाला=पराक्रमी (पुरुजित, कुन्तिभोजः, च) पुरुजित् और कुन्तिभोज (शैब्यः, च) और शैब्य (नर—पुंगवः) मनुष्यों में श्रेष्ठ । ५ । (युधामन्युः, च) और युधामन्यु (विक्रान्तः) पराक्रमी (उत्तमौजाः, च) और उत्तमौजा (वीर्यवान्) बड़ापराक्रमी (सौभद्रः) सुभद्रा का पुत्र (द्रौपदेयाः, च) और द्रौपदी के पुत्र (सर्वे, एव) सारे ही (महारथाः) महारथ ॥६॥

अ०—इस (सेना) में बड़े धनुर्धारी सूरमे भीम और अर्जुन के बराबर हैं (नामतः) युयुधान,*विराट†और महारथ द्रुपद।४। धृष्ट-केतु, चेकितान, और बड़ा पराक्रमी काशि का राजा, पुरुजित् कुन्ति

*युयुधान=सत्यकि † विराट मत्स्यदेश का अधीश। महा-रथ का शब्दार्थ बड़े रथवाला है। पर पारिभाषिक अर्थ यह है—एक

भोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य ॥ ५ ॥ पराक्रमी युधामन्यु और शक्तिमान् उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र और द्रौपदी के पुत्र (यह) सारे ही महारथ हैं ॥६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ७॥

श०(अस्माकं) हममें से (तु) और (विशिष्ठाः) विशिष्ठ=सब से बढ़कर चुने हुए सूरमे (ये) जो (तान्, निबोध) उनको जान (द्विज–उत्तम) हे ब्राह्मणों में उत्तम (नायकाः) नायक = सरदार (मम, सैन्यस्य) मेरी सेना के (संज्ञार्थं) ठीक २ जानने के लिये (तान्, ब्रवीमि, ते) उन को बतालाता हूं तेरे ॥

अ०–और अब हे द्विजोत्तम! हमारे मध्यमें जो विशिष्ठ सूरमे हैं उनको जान जो कि मेरी सेनाके नायक हैं,(अब)उनको बतलाता हूं ताकि तू (उनको) अच्छी तरह जानले ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्चकृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥८॥

श०–(भवान्) आप (भीष्मः, च) और भीष्म (कर्णः, च) और कर्ण (कृपः, च) और कृप = कृपाचार्य (समितिं-जयः) युद्धों के जीतने वाला (अश्वत्थामा, विकर्णः, च) अश्वत्थामा और

ऐसा योद्धा जो युद्धविद्यामें पूरा शिक्षा पायाहुआ हो, जोकि अकेला दस सहस्र धनुर्धारियों को युद्ध करा सके। द्रुपद पाञ्चालदेश का अर्धांश। काशि देशका नाम है जिस की राजधानी वाराणसी (वर्तमान बनारस) थी। सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पुत्र पांच प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुत कीर्ति, शतानीक, और श्रुतसेन ॥

विकर्ण (सौमदत्तिः) सोमदत्त का पुत्र (तथा, एव, च) और वैसे ही ॥

अ०—आपस्वयं, भीष्म, कर्ण, बहुत से युद्धों के जीतने वाला कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और वैसे ही सोमदत्त का पुत्र* ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

श०(अन्ये, च) और भी (बहवः, शूराः) बहुत से सूरमे (मद्-अर्थे) मेरे अर्थ=मेरी खातिर (त्यक्त-जीविताः) जिन्हों ने जीवन दिये हैं, (नाना-शस्त्र-प्रहरणाः) भांति २ के शस्त्र चलाने वाले† (सर्वे) सारे (युद्ध-विशारदाः) युद्ध में प्रवीण ॥

अ०—और भी बहुत से सूरमे हैं जिन्हों ने मेरी खातिर अपने जीवन दिये हैं, जो भांति २ के शस्त्र चलने वाले हैं और (सब के) सब युद्ध में प्रवीण हैं ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् १०

श०—(अ-पर्याप्तं) अपरिमित (तत्) सो (अस्माकं, बलं) हमारी सेना (भीष्म-अभिरक्षितं) भीष्म से रक्षा की हुई (पर्याप्तं) परिमित

---

*अश्वत्थामा, द्रोणाचार्य का पुत्र। विकर्ण=दुर्योधन का छोटा भाई। सोमदत्त का पुत्र, भूरिश्रवा॥

† अथवा भान्ति २ के शस्त्र अस्त्रवाले। शस्त्र जो हाथ में पकड़े रखकर चलाया जाता है जैसे तलवार, और अस्त्र जो दूरसे फेंका जाता है जैसे तीर वा गोली॥

(तु) जब कि (इदं) यह (एतेषां, बलं) इनकी सेना (भीम–अभि-रक्षितं) भीम से रक्षा की हुई ॥

अ०–सो हमारी सेना, जोकि भीष्मसे रक्षा कीहुई है अपरिमित है, जब कि इनकी, जो भीम से रक्षा की हुई है, परिमित है* ॥

* अपरिमित=जो कहीं समा नहीं सकी, वहुत वड़ी, बेअन्दाज़, unlimited और परिमित=गिनती की, थोड़ी जगह में समाने वाली limited क्योंकि कौरवोंकी सेना पाण्डवोंकी डेढी से भी बढ करथी।

इन उत्साह भरे वचनों से दुर्योधन का यह अभिप्राय है कि यह इन का बल हमारे बल के सामने कोई वस्तु नहीं। इसी लिये यहां सेना को सेना न कह कर बल कहा है। जिन टीकाकारोंने 'अपर्याप्तं' का 'असमर्थ' और 'पर्याप्तं' का 'समर्थ' अर्थ किया है। और तात्पर्य यह निकाला है 'हमारी सेना असमर्थ है क्योंकि उसका रक्षक भीष्म है और उनकी सेना समर्थ है क्योंकि उसका रक्षक भीम है। भीम हम सबभाइयोंके वधकी दीक्षा लिये हुएहै और भीष्म पाण्डवों का पक्षपाती है' ऐसा अभिप्राय निकालने वालोंने इसबातकोनहींदेखा कि वह दुर्योधन, जिसने यह कहाथा, कि सूईकी नाकबराबर भूमिभी बिना युद्ध के नहीं दूंगा, वह कायर न था, जो डरगया हो, और न ही वह भीष्म को ऐसा पापी समझता था, कि सेनापति बनकर सेना को मरने देगा। यदि वह ऐसा समझता, तो भीष्म को सेनापति ही न बनाता। यह तो नीति से भी विरुद्ध है, कि संदिग्ध पुरुष को सेनापति बनाना, और फिर जिसके हाथ में अपनी सारी वागडोर देदेनी, उसी पर प्रकटतः संदेह प्रकाश करना। भीष्मने कोई धोखे की वात कभी भी नहीं की। जो कुछ वह पाण्डवों के पक्ष में कहता था, न्याय्य समझ कर कहता था और सब के सामने कहता था न कि धोखा खेलता था। अतएव यहां यही अभिप्राय है कि दुर्योधन उनकी सेना की प्रशंसा करके भी अपनी सेना की तुलना में उसको तुच्छ बतलाता है–हमारी सेना अपरिमित है और उनकी परिमित। हमारी सेनाके रक्षक भीष्महैं और उनकीसेनाके भीम हैं।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।११

श०—(अयनेषु,च) और मार्गों में* (सर्वेषु) सब (यथा—भागं) अपने २ भाग पर (अव स्थिताः) वर्तमान हुए=कायम हुए (भिष्मं) एव, अभिरक्षन्तु) भीष्म की ही रक्षा करें (भवन्तः, सर्वे, एव) आप सब ही (हि)

अ—और (इस लिये) आप सब ही (व्यूह में प्रवेश के) मार्गों में अपनी २ जगह पर अवस्थित रह कर केवल भीष्म की ही रक्षा करें ॥

सो हमारी सेना के सामने उनकी सेनाक्या है,और हमारेजरनेल के सामने उनका जरनैल क्या है। अतएव इस से अगले श्लोक में तुम सब भीष्म की रक्षा करो, कहा है। और दुर्योधन की बात समाप्त होते ही दुर्योधन को हर्ष उत्पन्न करने के लिये भीष्म का सिंहनाद से गर्जना कहा है। यह स्पष्ट प्रमाण इस बात का है, कि दुर्योधन ने भीष्म की प्रशंसा की है, न कि उस पर संशय प्रकट किया है ॥

*मार्ग=व्यूह में जो प्रवेश के मार्ग हैं। संग्राम के आरम्भ के समय में पूर्व पश्चिम आदि दिशाओं के बिभाग से सेनापतियों के लिये भिन्न २ स्थान नियत कर दिये जाते हैं, और प्रधान सेनापति (जरनैल) सारी सेना का अधिष्ठाता होकर मध्य में रहता है। यहां द्रोण, करण, कृप आदि सब सेनापति हैं। उनको दुर्योधन कहता है, हे सेनापतियो ! तुम्हारे लिये जो २ विभाग नियत किया है, उस २ को सावधनो से सम्भाले रहो, ताकि किसी भी मार्ग से शत्रु हमारे प्रधान सेनापति (भीष्म) पर आक्रमण करके उसको घबराहट में न डालें ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैःशंखं दध्मौ प्रतापवान् १२

श०—(तस्य) उसके (संजनयन्) उत्पन्न करता हुआ (हर्षं) उत्साह को (कुरु-वृद्धः) कुरुओं का वृद्ध,(पितामहः)पितामह=दादा (सिंहनादं,विनद्य) शेर की गर्ज गर्ज कर (उच्चैः) ऊंचा(शंख,दध्मौ) शंखको पूरता भया (प्रतापवान्) प्रतापी ॥

अ०—तब कुरुओंका वृद्ध, प्रतापी पितामह (भीष्म) दुर्योधन के उत्साह को उत्पन्न करने के लिये ऊंचा सिंहनाद करके अपना शंख पूरता भया ॥

ततःशंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्तसशब्दस्तुमुलोऽभवत्।१३

श०—(ततः) तब (शंखाः, च, भेर्यः, च) शंख और नगारे (पणव, आणक-गोमुखाः) ढोल, मृदंग, नरसिंहे (सहसा, एव) एक बारगी ही (अभ्यहन्यन्त) बजते भये (सः, शब्दः) वह शोर (तुमुलः) तुमुल=गड़बड़, घमसान का, जिसमें शंख मृदंग आदि का शब्द अलग २ प्रतीत न हो, (अभवत्) होता भया ॥

अ०—तब एक बारगी ही (सारी सेना में) शंख नगारे ढोल मृदंग और नरसिंहे बजने लगे, वह शोर घमसान का होता भया ॥

ततःश्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ ।
माधवःपांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः १४

श०–(ततः) तब (श्वेतैः, हयैः, युक्ते) श्वेत घोड़ों से युक्त (महति, स्यन्दने) बड़े रथ में (स्थितौ) स्थित (माधवः) माधव=कृष्ण (पाण्डवः, च) और पाण्डु का पुत्र=अर्जुन (एव) (दिव्यौ, शंखौ) दिव्य शंखों को (प्रदध्मतुः) पूरते भये ॥

अ०–तब (दूसरी ओर पाण्डवों की सेना में) श्वेत घोड़ों से युक्त बड़े रथ में स्थित हुए कृष्ण और अर्जुन अपने दिव्यशंखों को पूरते भये।

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः १५

१५–(पाञ्चजन्यं, हृषीकेशः) पाञ्चजन्य को हृषिकेश (देवदत्तं,धनंजयः*) देवदत्त को अर्जुन (पौण्ड्रं) पौण्ड्र को (दध्मौ) पूरता भया (महा-शंखं) महा शंख को (भीम–कर्मा,वृकोदरः) भयंकर कर्मों वाला भीमसेन ॥

अ०–पांचजन्य (शंख) को कृष्ण,देवदत्त को धनञ्जय और पौण्ड्र महाशंखको भयङ्कर कर्मों(के करने)वालाभीमसेन पूरता भया ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

---

* हृषीक-ईश, अक्षरार्थ, इन्द्रियों का मालिक। इन्द्रिय जिस के बस में हैं। यह शब्द सब जगह कृष्णके लिये आया है। धनं-जय का अक्षरार्थ, धनका जीतने वाला, यह शब्द अर्जुन के लिये आया है॥

श०–(अनन्त-विजयं) अनन्त विजय को (राजा, कुन्तीपुत्रः, युधिष्ठिरः) राजा, कुन्ती का पुत्र युधिष्ठिर (नकुलः,सहदेवः, च) नकुल और सहदेव (सुघोष–मणिपुष्पकौ) सुघोष और मणि पुष्पक को।

अ–कुन्ती का पुत्र राजा युधिष्ठिर अनन्त विजय (शंख) को, और नकुल और सहदेव (क्रम से) सुघोष और मणिपुष्पक को (पूरते भये)।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः १७

श०–(काश्यः, च) और काशि का राजा (परम–इष्वासः) उत्तम धनुषवाला (शिखंडी, च) और शिखण्डी (महारथः) महारथ (धृष्टद्युम्नः, विराटः, च) धृष्टद्युम्न और विराट (सात्यकिः,च) और सात्यकि (अ–पराजितः) न हारा हुआ।

अ–काशी (देश) का राजा (पुरुजित) जो बडे उत्तम धनुष वाला है, और महारथ शिखंडी, धृष्टद्युम्न और विराट और जो (कभी किसी से) पराजित नहीं हुआ वह सात्यकि–

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक्

श०–(द्रुपदः) द्रुपद (द्रौपदेयाः, च) और द्रौपदी के पुत्र (सर्वशः) सब तर्फ से (पृथिवी-पते) हे पृथिवी के मालिक=धृतराष्ट्र (सौभद्रः, च) और सुभद्रा का पुत्र (महा-बाहुः) बड़ी भुजाओं वाला(शंखान्,दध्मुः)शंखोंको पूरते भए(पृथक्,पृथक्)अलग अलग॥

अ–द्रुपद और द्रौपदी के पुत्र (प्रतिविन्ध्यादिपांचों) और हे पृथिवी के मालिक! बड़ी भुजाओंवाला सुभद्रा का पुत्र (अभिमन्यु) (यह सब) सब तर्फ से अलग अलग शंखों को पूरते भये।

स घोषोधार्तराष्ट्राणांहृदयानिव्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् १९

श०–(सः, घोषः) वह शोर (धार्तराष्ट्राणां) धृतराष्ट्र के लोगों के (हृदयानि) हृदयों को (वि-अदारयत्) फाड़ता भया (नभः, च) और आकाश (पृथिवीं, च) और पृथिवी को (एव) (तुमलः) घमसान (वि-अनु-नादयन्) गुञ्जता हुआ।

अ०–आकाश और पृथिवी को गूञ्ज से भरता हुआ वह घमसान का शोर धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को फाड़ता भया।

अथव्यवस्थितान्दृष्ट्वाधार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

श०–(अथ) अब,=इसके अनन्तर (व्यवस्थितान्) क्रम से खड़े हुए (दृष्ट्वा) देखकर (धार्तराष्ट्रान्) धृतराष्ट्र की तर्फ वालों को (कपि-ध्वजः) बानर के झण्डेवाला (प्रवृत्ते) तय्यार होने पर (शस्त्र-संपाते) शस्त्रों का चलना (धनुः,उद्यम्य) धनुष को उठा कर (पाण्डवः) पाण्डु का पुत्र=अर्जुन॥२०॥(हृषीक-ईशं) कृष्ण को (तदा) तब (वाक्यं, इदं) वाक्य यह (आह) कहने लगा (मही-पते) हे पृथिवी के मालिक=धृतराष्ट्र॥

अ–इसके अनन्तर (युद्ध के) क्रमसे खड़ेहुए धृतराष्ट्र की तर्फ वालों को देखकर जब कि शस्त्र चलने पर ही थे तब वानर की ध्वजावाला * पाण्डुपुत्र (अर्जुन) धनुष उठाकर कृष्णको यह वाक्य कहने लगा।

अर्जुन उवाच = अर्जुन बोला

सेनयोरुभयोर्मध्येरथंस्थापयमेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ।२२
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः । २३

श–(सेनयोः) सेनाओं के (उभयोः) दोनों (मध्ये) मध्य में (रथं, स्थापय) रथ को खड़ाकर (मे) मेरे (अच्युत) हे अच्युत=न बदलने वाले, न फिसलाने वाले !२१।(यावत्) कि(एतान्,निरीक्षे) इनको देखूं मैं (योद्धुकामान्) युद्ध की लालसा वालों को (अ-वस्थितान्) खड़े हुए (कैः) किन्होंने (मया) मेरे (सह) साथ (योद्धव्यं) लड़ना है (अस्मिन्) इस (रण-समुद्यमे) युद्ध के उद्योग में।२२।(योत्स्यमानान्) लड़ने वालोकों (अवेक्षे, अहं) देखूं मैं (ये, एते) जो यह (अत्र, समागताः) यहां इकट्ठे हुए हैं (धार्तराष्ट्रस्य) धृतराष्ट्र के पुत्र=दुर्योधन, का (युद्धे) युद्ध में (प्रिय-चिकीर्षवः) प्रिय करने की इच्छा वाले।२३।

---

* अर्जुन के झण्डे पर महावीर हनुमान् का चिन्ह था।

अ—हे अच्युत! दोनों सेनाओं के मध्य में मेरे रथ को खड़ाकर।२१ ताकि मैं इन खड़े हुए युद्ध करने की लालसावालों को देखूं, कि किन्होंने युद्ध के इस भारी उद्योग में मेरे साथ युद्ध करना है। २२। और कि मैं उन लड़नेवालों को देखूं, जो यहां इकट्ठे हुए हैं, जो दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में प्रिय करने की इच्छावाले हैं (अर्थात् जो युद्ध में दुर्योधन की सहायता के लिये आए हैं)

भाष्य—यह अर्जुन का अपने ऊपर प्रबल भरोसे का वाक्य है जिसमें उमङ्ग से भरे हुए एक शूरवीरका पूरा अभिमान झलकता है। 'किन्होंने मेरे साथ युद्ध करना है' इसमें प्रतिद्वन्दियों को बहुवचन और अपने आपको एक वचन देना और उनके जानने में उत्साह का होना, और पूर्वकाल में उनकी बाबत अपनी अज्ञातता प्रकाश करना उसके महान् उत्साह और महान् अहङ्कार का द्योतक है। "और मैं उनको देखूं, जो दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में प्रिय करना चाहते हैं, इसमें भी वही अहङ्कार है, अर्थात् वह कौन हैं, जो युद्ध में उसका प्रिय करना चाहते हैं, और तरह तो उसका प्रिय होसक्ता था, पर युद्ध में असम्भव है।

संजय उवाच=संजय बोला

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्येस्थापयित्वारथोत्तमम् २४
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति २५

श–(एवं,उक्तः)इसप्रकार कहाहुआ (हृषीक-ईशः) कृष्ण(गुडाका–ईशेन) निद्रा के मालिक*अर्जुन से (भारत) हे भरत† की सन्तान (सेनयोः) सेनाओं के (उभयोः) दोनों(मध्ये)मध्य में(स्थापयित्वा) खड़ा करके (रथ-उत्तमं) रथों में उत्तम को । २४ । (भीष्मः-द्रोण-प्रमुखतः) भीष्म और द्रोण के सामने (सर्वेषां, च) और सारे (महीक्षितां) पृथिवी पर हकूमत करनेवालों के=राजाओं के [उवाच] कहता भया [पार्थ] हे पृथा के पुत्र ! [पश्य] देख [एतान्, समवेतान्, कुरून्] इन इकट्ठे हुए कौरवों को [इति] यह ।२५।

अ–हे भारत ! इसप्रकार जब अर्जुन ने कृष्ण को कहा, तो [कृष्ण जी] दोनों सेनाओं के मध्य में भीष्म, द्रोण तथा अन्य सब राजाओं के प्रतिमुख रथ श्रेष्ठ को खड़ा करके कहते भये, हे पार्थ ! इकट्ठे हुए इन कौरवों को देख ।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

श–[तत्र, अपश्यत्] वहां देखता भया [स्थितान्] खड़े हुए

* निद्रा का मालिक=जितनिद्र आलस्य रहित । नीलकण्ठ ने १० । २० पर दूसरा अर्थ दिया है । घने बालों वाला ।

† भरत, दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र, जिसके नाम पर आर्य्यावर्त्त 'भारतवर्ष' कहलाता है । दोनों कौरव और पाण्डव उसकी सन्तान हैं, इसलिये धृतराष्ट्र को हे भारत=हे भरत की सन्तान, कहा है । और इसीलिये आगे अर्जुन को भी भारत, भरतश्रेष्ठ वा भरतसत्तम कहा गया है ।

[पार्थः] पृथा का पुत्र=अर्जुन [पितॄन्] पितरों को [अथ] तब [पितामहान्, आचार्यान्, मातुलान्, भ्रातॄन्, पुत्रान्, पौत्रान्, सखीन्, तथा] दादों आचार्यों मामों भाइयों पुत्रों पौत्रों तथा मित्रों को।२६। [श्वशुरान्, सुहृदः,च] ससुरों और सुहृदों को [एव] [सेनयोः] सेनाओं में [उभयोः] दोनों [अपि] भी

अ—तब अर्जुन वहां खड़े हुए पितर, दादे,आचार्य, मामे, भाई तथा पुत्र पौत्र सखा ससुर और सुहृदों * को, दोनों ही सेनाओं में देखता भया।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थिता-न्।२७। कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

[तान्) उन [समीक्ष्य] देखकर [सः, कौन्तेयः] वह कुन्ती का पुत्र=अर्जुन (सर्वान्,बन्धून्) सारे बन्धुओं को (अवस्थितान्) खड़े हुए (कृपया) कृपा से (परया) ऊंची=महती (आविष्टः) व्याप्त हुआ (विषीदन्) उदास होता हुआ (इदं,अब्रवीत्) यह बोला।

अ—उन सारे बन्धुओं को (वहां) खड़ा देखकर वह कौन्तेय महती कृपा से व्याप्त हुआ उदास होकर यह बोला।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सं समुपस्थितम् २८
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते। २९

---

* यहां जो सम्बन्धी शब्द हैं वह साक्षात् और तत्तुल्य दोनों सम्बन्धों को लेकर हैं। पितर=चाचे भूरिश्रवा आदि, दादे भीष्मादि, आचार्य द्रोणाचार्यादि, मामे शल्य आदि। भाई दुर्योधनादि। पुत्र, लक्ष्मणादि। पौत्र, लक्ष्मणादि के पुत्र। सखा, सङ्गी को कहते हैं। और सुहृद् जिसने अपने ऊपर कोई भलाई की हो।

श–(दृष्ट्वा) देखकर (इमं, स्व-जनं) इस अपने जन को (युयुत्सुं) युद्ध की इच्छावाले (समुपस्थितं) खड़े हुए (सीदन्ति) ढीले होते जाते हैं (मम, गात्राणि) मेरे अंग (मुखं, च) और मुख [परिशुष्यति] सूखा जाता है [वेपथुः, च] और कम्पा [शरीरे] शरीर में [मे] मेरे [रोम–हर्षः, च] और रोमाञ्च [जायते] होता जाता है।

अ–युद्ध की इच्छावाले [यहां] खड़े हुए इस बन्धुजन को देखकर हे कृष्ण। २८। मेरे अंग ढीले होते जाते हैं, मुख सूखा जाता है, और मेरे शरीर में कम्पा होती जाती है और रोमाञ्च होता जाता है।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुंभ्रमतीव च मे मनः ३०

श–(गाण्डीवं) गाण्डीव (स्रंसते) फिसला जाता है (हस्तात्) हाथ से (त्वक्, च) और त्वचा (एव) (परिदह्यते) सारी जल रही है (न, च) और नही (शक्नोमि) सक्ता हूं (अवस्थातुं) खड़ा होना [भ्रमति] चक्र खारहा है [इव] मानों [च] और [मे, मनः] मेरा मन।

अ–(हाथ से) गाण्डीव फिसला जाता है और त्वचा सारी जल रही है। मैं खड़ा नहीं होसक्ता हूं, मेरा मन मानों चक्र खारहा है।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वास्वजन माहवे ३१

श–[निमित्तानि, च] और निमित्त [पश्यामि] देखता हूं [विपरीतानि] उलटे [केशव] हे केशव! [न, च] और न

[श्रेयः] भलाई [अनुपश्यामि] देखता हूं [हत्वा, स्वजनं] मार कर बन्धुजन को [आहवे] युद्ध में।

अ—और हे केशव ! मैं उलटे निमित्त * देखता हूं । और न ही अपने बधुजन को युद्ध में मारकर कोई भलाई देखता हूं ।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किंनोराज्येनगोविन्दकिंभोगैर्जीवितनवा ३२

श—(न, काङ्क्षे) नहीं चाहता हूं (विजयं) विजय (कृष्ण) हे कृष्ण ! (न, च) न ही (राज्यं, सुखानि, च) राज्य और सुख (किं) क्या (नः) हमें (राज्येन) राज्य से (गोविन्द) हे गोविन्द ! (किं) क्या (भोगैः, जीवितेन) भोगों से जीवन से (वा) अथवा ॥

अ—हे कृष्ण ! मैं विजय नहीं चाहता हूं, न ही राज्य और सुखों को चाहता हूं । हे गोविन्द ! हमें राज्य से क्या ? और भोगों से वा जीवन से भी क्या ? (अर्थात् यह राज्य और भोग हमारे किस काम और जीवन भी किस काम, जब कि—) ॥

---

*उलटे निमित्त=उलटे निशान। भाइयों में मेल आर्यों की वृद्धि का चिन्ह था, अब यह उलटा वैर आर्यों की अवनति का चिन्ह हुआ है। और फिर सबके सब क्षत्रिय वीरों का इस घृणित युद्ध में हिस्सा लेना देश के विनाश का चिन्ह है, इत्यादि उलटे ही निशान दीखते हैं।

उलटे निमित्त=बुरे सगुन (यामुनाचार्य) बाईं आंख का फर्कना आदि (आनन्द गिरि) लोक क्षय कारक निमित्त, भूकम्प आदि (नीलकण्ठ) जिनका फल महान् क्षय है, वह सगुन पूर्व महाभारत भीष्म पर्व २।१७ से ४५ तक सविस्तार कहे हैं। जैसे बाजों और गिद्धों का इकट्ठे हो २ कर वृक्षों पर उड़ना और संघ बनाना इत्यादि (सम्पादक) ॥

येषामर्थेकांक्षितंनोराज्यंभोगाःसुखानि च ।
तइमेऽवस्थितायुद्धेप्राणांस्त्यक्त्वाधनानि च

श-(येषां, अर्थे) जिनके अर्थ (कांक्षितं) चाहा हुआ= प्यारा (नः) हमें (राज्यं,भोगाः,सुखानि,च) राज्य भोग और सुख (ते, इमे) वह यह [अवस्थिताः] खड़े हैं [युद्धे] युद्ध में [प्राणान्, त्यक्त्वा] प्राणों को छोड़ कर [धनानि च] और धनोंको ॥

अ-जिनके अर्थ राज्य भोग और सुख हमें प्यारा है, वह [सब] यह प्राणों और धनों को छोड़ कर युद्ध में खड़े हैं ॥

आचार्याः पितरःपुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाःश्वशुराःपौत्राःश्यालाःसंबंधिनस्तथा

श-[आचार्याः, पितरः, पुत्राः] आचार्य पितर पुत्र [तथा एव, च] और वैसे ही [पितामहाः] पितामह=दादे [मातुलाः, श्वशुराः, पौत्राः, श्यालाः] मामे ससुरे पोते साले [सम्बन्धिनः] सम्बन्धी=रिश्तेदार [तथा] वैसे ॥

अ-आचार्य पितर पुत्र और पितामह और वैसे ही मामे ससुरे पोते साले तथा और सम्बन्धी ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपित्रैलोक्यराज्यस्यहेतोःकिंनुमहीकृते ३५।

श-[एतान्] इनको [न, हन्तुं, इच्छामि] नहीं मारना चाहता हूं [घ्नतः, अपि] मारते हुओं को भी [मधु-सूदन] हे मधुसूदन* [अपि] भी [त्रैलोक्य-राज्यस्य] तीनों लोकों के

*मधु दैत्य का मारने वाला ॥

राज्य के [हेतोः]हेतु=अर्थ [किं,नु] क्या फिर [मही-कृते] पृथिवी के अर्थ ॥

अ-हे मधुसूदन ! यह मुझे मारें भी, तौ भी मैं इनको मारना नहीं चाहता हूं-तीनों लोकों के राज्य के अर्थ भी, क्या फिर केवल इस पृथिवी के अर्थ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।३६।

श०-[निहत्य] मारकर [धार्तराष्ट्रान्] धृतराष्ट्र के पुत्रों को [नः] हमारी [का, प्रीतिः] क्या प्रीति=क्या खुशी [स्यात्] होगी [पापं, एव] पाप ही [अश्रयेत्] लगेगा [अस्मान्] हम को [हत्वा, एतान्, आततायिनः] मारकर इन आततायिओं को ॥

अ-धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हे जनार्दन ! हमारी क्या प्रीति [खुशी] होगी ? इन आततायिओं* को मारकर हमें पाप ही लगेगा ॥

---

*आततायि=बड़ा अपराधिधी=सख्त मुजरिम। अग्नि देने वाला, विष देने वाला, शस्त्र हाथ में लिये हुए (मारने को तय्यार) धन का छीनने वाला, भूमि का छीनने वाला और स्त्री का छीनने वाला, यह छः आततायी गिने गए हैं। आततायी के विषय में मनु की यह आज्ञा है कि गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुतश्रुम्। आततायिन मायान्तं हन्यादेवाविचारयन्। ३५०। नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ३५१ (मनु०८)चाहे गुरु हो वा बालबूढ़ा हो अथवा वेदवेत्ता ब्राह्मण हो,पर जब आततायी बनकर सामने आता है तो उसको बिनबिचारे

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ३७।

श- (तस्मात्) इससे=इसहेतु से (न, अर्हाः, वयं) नहीं योग्य हम (हन्तुं) मारने को (धार्तराष्ट्रान्) धृतराष्ट्र के पुत्रों को (स्व-बान्धवान्) अपने बान्धव (स्व-जनं) अपने जनको (हि) क्योंकि (कथं) कैसे (हत्वा, सुखिनः,स्याम) मारकर सुखी हों (माधव)

अ-इस हेतु से धृतराष्ट्र के पुत्र जो अपने बान्धव हैं, उन का मारना हमें योग्य नहीं, क्योंकि अपने जनको मारकर हे माधव ! हम कैसे सुखी हों ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

श-(यद्यपि) यद्यपि=चाहे (एते, न, पश्यन्ति) यह नहीं देखते हैं (लोभ-उपहत-चेतसः) लोभ से नष्ट हुए विवेक वाले

मारडाले ।२५०। आततायी के मारने में मारने वाले को कोई दोष नहीं होता । ३५१ । इस आज्ञा के अनुसार धृतराष्ट्र के पुत्रोंके मारने में कोई पाप नहीं समझना चाहिये था, क्योंकि धृतराष्ट्र के पुत्र पाण्डवों के आततायी हैं, उन्होंने भीम को विष दिया, इन सबको लाख घरमें जलाया, इनकी भूमि छीन ली, द्रौपदी का अपमान किया था । तथापि अर्जुन कहता है इन आततायिओं को मार कर हमें पाप ही लगेगा,क्योंकि यद्यपि यह आततायी हैं, तथापि हमारे भाई हैं। भाई भाईसे कैसे मारे जासक्ता है,चाहे आततायी ही क्यों न हो।

(कुल-क्षय-कृतं) कुल के क्षय से उत्पन्न होने वाले (दोषं) दोष को (मित्र-द्रोहे च) और मित्र द्रोह में (पातकं) पातक को ।३८। (कथं, न, ज्ञेयं) कैसे नहीं विचारना चाहिये (अस्माभिः) हमें (पापात्) पाप से (अस्मात्) इस (निवर्तितुं) हटना (कुल-क्षय कृतं,दोषं) कुलक्षय से उत्पन्न होने वाले दोष को (प्रपश्यद्भिः) देखते हुए (जनार्दन) हे जनार्दन ! ॥

अ-यद्यपि(राज्य के)लोभ से नष्ट हुए विवेक वाले यह (धृतराष्ट्र के पुत्र) कुलक्षय से होने वाले दोष को और मित्रद्रोह में जो पातक है उसको नहीं देखते हैं ।३७। तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षय से होने वाले दोष को देखते हुए हमको इस पाप से हटना क्यों नहीं विचारना चाहिये ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत४०॥

श-(कुल-क्षये) कुलके क्षय होने पर (प्रणश्यन्ति) नाश हो जाते हैं (कुल-धर्माः) कुल के धर्म=कुलाचार (सनातनाः) सनातन (धर्मे, नष्टे) धर्म के नष्ट होने पर (कुलं, कृत्स्नं) कुल सारे को (अ-धर्मः) अधर्म (अभि भवति) दबा लेता है (उत) ॥

अ-कुलके नाश होने पर सनातन कुलधर्म* नाश हो जाते हैं, धर्म के नष्ट होने पर (शेष बचे हुए) सारे कुलको अधर्म दबा लेता है ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।

---

*आचार पर चलेहुए वृद्धों के न रहने के कारण कुलके आचार नष्ट हो जाते हैं।

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥४१॥

(अधर्म-अभिभवात्) अधर्म के व्यापने से (कृष्ण) हे कृष्ण! (प्रदुष्यन्ति) दूषित होजाती हैं (कुल-स्त्रियः) कुल की स्त्रियां (स्त्रीषु, दुष्टासु) स्त्रियों के दुष्ट होने पर (वार्ष्णेय) हे वार्ष्णेय (जायते) होजाता है (वर्ण-संकरः) वर्ण संकर=वर्णकी गड़बड़॥

अ-अधर्म के व्यापने से हे कृष्ण! कुलकी स्त्रियां दूषित हो जाती हैं। स्त्रियों के दुष्ट होने पर हेवार्ष्णेय* ? वर्णसंकर हो जाता है॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः४२

श-(संकरः) संकर (नरकाय, एव) नरक के लिये ही (कुल-घ्नानां) कुल घातियों के (कुलस्य,च) और कुल के (पतन्ति) गिरपड़ते हैं=अधोगति को प्राप्त होते हैं (पितरः) पितर (हि) क्योंकि (एषां) इनके (लुप्त-पिण्ड-उदक,क्रियाः) लुप्त होगया है पिण्ड और उदक कर्म जिनका॥

अ-(यह) संकर कुलघातियों के और कुल के नरक के लिये ही होता है, क्योंकि इनके पितर जिनका कि पिण्डकर्म और उदक कर्म लुप्त होगया है, (स्वर्ग से) गिरपड़ते हैं†

---

*वृष्णिकुल में उत्पन्न हुए।

†उदककर्म और पिण्डकर्म जो मरे हुओं के लिये किया जाता है, उसी से यहां तात्पर्य्य है। महाभारत में अन्यत्र भी इसका वर्णन पायाजाता है। पिण्ड के लोप में स्वर्ग से गिरने का भाव भी पुराना है, महाभारत आदि पर्व अध्याय १३ में जरत्कारु और उसके

दोषैरेतैःकुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः । उत्सा-द्यन्तेजातिधर्माः कुलधर्माश्चशाश्वताः ४३

श-(दोषैः) दोषों से (एतैः) इन (कुल-घ्नानां) कुलघातियों के (वर्ण-संकर-कारकैः) वर्णसंकर बनाने वाले (उत्साद्यन्ते) उखाड़ दिये जाते हैं (जाति-धर्माः, कुल-धर्माः, च) जाति धर्म और कुल धर्म (शाश्वताः) सनातन ॥

अ-कुलघातियों के यह दोष जो कि वर्ण संकर बनाने वाले हैं इन (दोषों) से सनातन जाति धर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं ॥

पितरों के संवाद से इस अभिप्राय को रूपक द्वारा स्पष्ट वर्णन किया है। इसमें संदेह नहीं, कि आर्यों में यह कर्म बहुत पुराने समय से प्रचलित है, सारे धर्म सूत्रों और गृह्यसूत्रों में इसका निरूपण है देखो पारस्कर गृह्यसूत्र ३ । १० । आर्य समाज का भी इसके वैदिक होने में विवाद है, न कि प्राचीनता में ।

नीलकण्ठ ने इस पर यह विशेष शंका समाधान किया है, कि यद्यपि पुत्र नियोग से भी हो सके हैं, पर 'न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति'=हे अग्ने ! दूसरे से उत्पन्न हुई सन्तान (अपनी) नहीं है यह श्रुति कहती है, और 'अन्योदर्यो मनसापि न मन्तव्यो ममायं पुत्रः'= अन्य उदर से उत्पन्न हुआ मन से भी नहीं समझना चाहिये कि यह मेरा पुत्र है, यह यास्क ने भी कहा है। इत्यादि प्रमाणों से वास्तव में वह सन्तान बीजपति (नियुक्तपति) की होती है, न कि क्षेत्रपति (असली पति) की इसलिये बीजपति को ही पिण्डादि की प्राप्ति होती है, इसलिये उदक और पिण्ड के लोप से अवश्य ही पितरों का गिरना होता है, नियोग से सन्तानोत्पत्ति की स्मृति का तात्पर्य्य इस लोक में ही वंशस्थापनामात्र है, न कि इससे क्षेत्रपति का कोई पारलौकिक उपकार भी होता है।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

श–(उत्सन्न–कुल–धर्माणां) जिनके कुलधर्म नष्ट हो गए हैं उन (मनुष्याणां) मनुष्यों का (जनार्दन) हे जनार्दन ! (नरके) नरक में (नियतं) निःसंदेह (वासः) वास (भवति) होता है (इति) ऐसा (अनुश्रुशुम) सुना है ॥

अ–हे जनार्दन ! जिनके कुलधर्म नष्ट हो गए हैं, उन मनुष्यों का निःसंदेह नरक में वास होता है, ऐसा हमने सुना है ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ४५॥

श–(अहो, बात) हा खेद (महत्,पापं,कर्तुं) बड़ा पाप करने को (व्यवसिताः,वयं) तय्यार हो गए हम (यत्) जो [राज्य–सुख-लोभेन) राज्य के सुखों के लोभ से (हन्तु) मारने को (स्व–जनं) अपने जनको (उद्यताः) उद्यत हुए, ॥

अ–हा खेद ! हम बड़ा (दारुण) पाप करने को तय्यार हो गए,जो राज्य के सुखों के लोभ से बन्धुजनके मारनेको उद्यत हुए ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्४६।

श–(यदि) यदि (मां) मुझको [अ–प्रतीकारं] बदला न लेते हुए (अ–शस्त्रं) शस्त्र रहित (शस्त्र–पाणयः) जिनके हाथ में शस्त्र हैं (धार्तराष्ट्राः)धृतराष्ट्र के पुत्र (रणे, हन्युः) रण में मार डालें (तत्) वह (मे) मरा (क्षेमतरं) अधिक भला (भवेत्) हो ॥

अ—यदि (अपने) हाथों में शस्त्र पकड़े हुए धृतराष्ट्र के पुत्र बदला न लेते हुए और शस्त्र रहित मुझको रण में मार डालें तो वह मेरे लिये अधिक भला हो (अर्थात् बदला लेने के बिना और शस्त्र उठाने के बिना चुपचाप उनकी मारको सहलूं यह मेरे लिये भला हो) ॥

संजय उवाच=संजय बोला।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ४७॥

श—(एवं, उक्त्वा, अर्जुनः) ऐसा कह कर अर्जुन (संख्ये) युद्ध में (रथ, उपस्थे) रथकी पीठ पर (उपाविशत्) बैठ गया (विसृज्य) छोड़कर=फैंककर (स-शरं, चापं) वाण सहित धनुष को (शोक-संविग्न-मानसः) शोकसे भरे हुए मन वाला ॥

अ—इस प्रकार कह कर अर्जुन अपने धनुष वाण को फैंक कर शोक से भरे हुए मन वाला हुआ युद्ध के (अखाड़े) में रथकी पीठपर बैठ गया ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संबादे अर्जुन विषाद योगो नाम प्रथमो अध्यायः।

यह श्रीभगवान् से गाई हुई उपनिषदों में-ब्रह्मविद्या में-योगशास्त्र में, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, अर्जुन की उदासी नामी पहला अध्याय समाप्त हुआ।

दूसरा अध्याय–सांख्ययोग ।

संजय उवाच=संजय बोला।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥

(तं) उसको (तथा) उस प्रकार (कृपया, आविष्टं) दया से व्याप्त हुए (अश्रु–पूर्ण–आकुल–ईक्षणं) आसुओं से पूर्ण डुबडुबाते हुए नेत्रों वाले (विषीदन्तं) उदास हुए (इदं, वाक्यं) यह वचन [उवाच] कहता भया [मधु–सूदनः] मधुका मारने वाला ॥

अ–इस प्रकार दया से व्याप्त हुए, आसुओं से पूर्ण डुबडुबाते हुए नेत्रों वाले उदास हुए उस [अर्जुन] को मधुसूदन यह वचन कहता भया ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच=श्री भगवान् बोले

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

श–[कुतः] कहां से (त्वा) तुझे (कश्मलं) मलीनता* (इदं) यह (विषम) संकट में (समुपस्थितं) प्राप्त हुई (अनार्य–जुष्टं) अनार्यों सेवित [अ–स्वर्ग्यं] स्वर्ग की विरोधिनी (अकीर्ति–करं) अपयश की करने वाली (अर्जुन) हे अर्जुन !

अ–हे अर्जुन ! अनार्यों से†सेवित, स्वर्ग प्राप्ति की‡विरोधिनी और अपयश के करने वाली यह मलीनता (इस युद्ध) संकट (की अवस्था) में तुझे कहां से प्राप्त हुई ॥

---

*अथवा कश्मल=शोक, वा मोह, भ्रान्ति । वैलक्षव्य=घबराहट (नील कण्ठ) †अनार्योंसे सेवित=कमीनो, ‡स्वर्गके द्वारको बन्दकरने वाली, वह क्षत्रिय जो युद्ध में पीछे हटता है, उसके लिये स्वर्ग का द्वार बन्द हो जाता है ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३॥

श–(क्लैब्यं) नपुंसकता=नामर्दी को (मा स्म, गमः) मत प्राप्त हो (पार्थ) हे पृथा के पुत्र ! (न, एतत्) नहीं यह (त्वयि, उपपद्यते) तुझ में युक्त है (क्षुद्रं) तुच्छ=कमीनी (हृदय-दौर्बल्यं) हृदय की दुर्बलता को (त्यक्त्वा) त्याग कर (उत्तिष्ठ) उठ= खड़ा हो (परं–तप) हे शत्रुओं के तपाने वाले !

अ–नपुंसकता को मत प्राप्त हो हे पृथा के पुत्र ! यह तेरे योग्य नहीं है । इस तुछ हृदय की दुर्बलता को त्याग और खड़ा हो हे शत्रुओं के तपने वाले !

संगति–इन उत्तेजक वचनों से श्रीकृष्ण ने वीर अर्जुन को उभारना चाहा है, पर उसके हृदय के संदेह अभी नहीं कटे, इस लिये फिर–

अर्जुन उवाच=अर्जुन बोला

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ४॥

श–(कथं) कैसे (भीष्मं,अहं) भीष्मको मैं (संख्ये) युद्ध में (द्रोणं,च) और द्रोण को (मधु–सूदन) हे मधु के मारने वाले ! (इषुभिः) बाणों से (प्रतियोत्स्यामि) सामना करूंगा (पूजा–अर्हौ) पूजा के योग्य- (अरि–सूदन) हे शत्रुओं के मारने वाले !

अ–हे मधुसूदन हे अरिसूदन ! कैसे मैं युद्ध में भीष्म और द्रोण

का बाणोंसे* सामना करूंगा जो कि पूजाके योग्य है ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् ।
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव ।
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

श–(गुरून्,अहत्वा) गुरुओं को न मार कर (हि)(महानुभावान्) महानुभावों को (श्रेयः) अच्छा (भोक्तुं) खाना (भैक्ष्यं,अपि) भिक्षा का अन्न भी (इह,लोके) इस लोक में (हत्वा) मारकर (अर्थ–कामान्) भलाई चाहने वाले (तु) किन्तु (गुरून्) गुरुओं को (इह, एव) यहां ही (भुञ्जीय) भोगूं (भोगान्) भोगों को (रुधिर–प्रदिग्धान्) रुधिर से लिबड़े हुए ॥

अ–इन महानुभाव गुरुओंको न मार कर इस लोक में भिक्षा का अन्न खालेना †अच्छा है । भलाई चाहने वाले ‡इन गुरुओं

---

*जिनके साथ बाणों से लड़ना भी अयोग्य है, उनके साथ बाणों से कैसे लड़ूं ॥

† यद्यपि क्षत्रिय के लिये भीख मांग कर खाना निषिद्ध है, पर वह इन महानुभाव गुरुओं को मार कर ऐश्वर्य भोगने की अपेक्षा अच्छा है ॥

‡ भीष्म द्रोण आदि पाण्डवों के भी शुभचिन्तक हो थे किन्तु दुर्योधन का अन्न खाया हुआ था, इस लिये उसकी ओर से लड़े। पर वह पहले बहुतेरा कहते रहे, कि पाण्डवों को उनका राज्य वापिस दिया जाए, और लड़ाई में भी हृदय से उनके शुभचिन्तक हो रहे (देखो महाभा० भीष्म० अध्याय ४३ आदि) ॥

को मारकर क्या यहां ही*मैं रुधिर से लिबड़े हुए भोगों को भोगूं ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

श–(न, च) और न (एतत्, विद्मः) यह जानते हैं (कतरत्) कौन सी (नः) हमारे लिये (गरीयः) अच्छी (यद्वा) कि (जयेम) जीतें (यदि, वा) या (नः) हमें (जयेयुः) जीतें (यान्) जिन को (एव) ही (हत्वा, न, जिजीविषामः) मार कर हम नहीं जीना चाहते (ते, अवस्थिताः) वह खड़े हैं (प्रमुखे) सामने=मुकाबिल में (धार्तराष्ट्राः) धृतराष्ट्र के पुत्र ॥

अ–न ही मैं यह जानता हूं, कि हमारे लिये कौन सी बात अच्छी होगी, क्या यह कि हम उनको जीतें, या यह कि वह हमको जीतें* जिनको मारकर हम जीना नहीं चाहते हैं, वह धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं ॥

---

*यहां ही, न कि परलोक में, और वह भी रुधिर से लिबड़े हुए क्योंकि इनका रुधिर बहाए बिना नहीं मिलेंगे ॥

*इस भ्रातृ युद्ध में न हमारी जीत अच्छी है, न उनकी जीत अच्छी है। यह सच है, कि अपनी जीत सर्वत्र अच्छी होती है, पर यहां हमारे सामने वह हैं, जिनको मार कर हम जीना ही नहीं चाहते, क्या फिर विजय ऐश्वर्य का भोगना। अथवा इस श्लोक का यह अर्थ संभव है, कि न ही मैं यह जानता हूं कि हममें से कौनसा (पलड़ा) भारी होगा क्या हम जीतेंगे अथवा वह जीतेंगे।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।७।

श—(कार्पण्य–दोष–उपहत–स्वभावः) कृपणता के दोष से दबे हुए चित्त वाला (पृच्छामि,त्वां) पूछता हूं तुझे(धर्म–संमूढ–चेताः) कर्तव्य में संदिग्ध हुए मन वाला (यत्, श्रेयः, स्यात्, निश्चितं) जो भली बात हो निश्चित (ब्रूहि, तत्, मे) कहो वह मुझे (शिष्यः,ते, अहं) शिष्य तेरा मैं (शाधि,मां) शासन कर मुझ को (त्वां, प्रपन्नं) तेरी शरण आए ॥

अ—कृपणता*के दोष से दबे हुए चित्तवाला और कर्तव्य में संदिग्ध हुए मनवाला मैं तुझे पूछता हूं, जो बात मेरे लिये निश्चित भली हो, वह मुझे कहो, मैं तेरा शिष्य हूं, तेरी शरण में आए मुझ को शासन कर ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

---

* कृपणता=मन की दीनता=बेबसी की अवस्था=हृदय की दुर्बलता। अथवा मन की दीनता से जिसका (क्षत्रियों) वाले स्वभाव दबगया है अर्थात् शौर्य तेज धृति आदि (देखो गीता० १८। ४३)

अ–(न) नहीं (हि) क्योंकि (प्रपश्यामि) देखता हूं (मम) मेरे (अपनुद्यात्) दूर करे (यत्) जो (शोकं) शोक को (उच्छोषणं, इन्द्रियाणां) सुखाने वाले इन्द्रियों के (अवाप्य) पाकर (भूमौ) पृथिवी पर (अ–सपत्नं, ऋद्धं, राज्यं) निष्कण्टक समृद्ध राज्य को (सुराणां, अपि, च) और देवताओं के भी (आधिपत्यं) आधिपत्य=स्वामित्व ॥

अ–क्योंकि मैं नहीं देखता हूं, कि पृथिवी पर निष्क-ण्टक समृद्ध राज्य को पाकर वा देवताओं के आधिपत्य को पाकर भी जो बात मेरे इन्द्रियों के सुखाने वाले इस शोक को *दूरकरे ॥

संजय उवाच=संजय बोला ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ॥
नयोत्स्यइतिगोविन्दमुक्त्वा तूष्णींबभूवह९॥

श–(एवं, उक्त्वा) ऐसे कहकर (हृषीक–ईशं) कृष्ण को (गुडाका–ईशः)जितनिद्र=अर्जुन (परं–तपः) शत्रुओंका तपाने वाला (न,योत्स्ये) नहीं युद्ध करूंगा (इति) यह (गोविन्दं,उक्त्वा) गोविन्द को कहकर (तूष्णीं, बभूव) चुप होगया (ह)

अ–शत्रुओं का तपाने वाला, गुडाकेश हृषीकेश को ऐसा कह कर (तदनन्तर) 'मैं युद्ध नहीं' करूंगा यह बात गोविन्द को कह कर चुप होगया ॥

तमुवाच हृषीकेशःप्रहसन्निव भारत ।

---

*अर्थात् बन्धुनाश से बेचैनी की गर्मी जो मेरे इन्द्रियों को सुखा रही है वह पृथिवी के राज्य लाभ से तो क्या देवताओं केस्वामित्व लाभ से भी निवृत्त नहीं हो सक्ती ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥१०॥

श–(तं,उवाच) उसको बोला (हृषीके-इशः) हृषीकेश (प्रहसन्, इव) मुसकराता हुआ सा (भारत) हे भरत की सन्तान= धृतराष्ट्र (सेनयोः) सेनाओं के (उभयोः) दोनों (मध्ये) मध्य में (विषीदन्तं) उदास हुए (इदं, वचः) यह वचन ॥

अ–तब हे भारत ! दोनों सेनाओं के मध्य में उदास हुए उसको मुसकराता हुआ हृषीकेश यह बचन बोला ॥

संगति–अर्जुन को दो प्रकार का मोह हुआ है एकतो देहके नाश में नाश समझना दूसरा अपने धर्मरूप युद्ध को अर्धम समझना इस को यहां से ३८वें श्लोक तक दूर करते हैं ॥

श्रीभवानुवाच=श्री भगवान् बोले ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्चभाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ११

श–(अशोच्यान्) जो शोक के योग्य नहीं, उनको (अनु-अशोचः) शोक करता है (त्वं) तू (प्रज्ञा–वादान्,) और पण्डिताई की बातें (भाषसे) कहता है (गत–असून्) गए हुए प्राणों वालों=मरों को (अ–गत–असून्) न गए हुए प्रणों वालों=जीतों को (न, अनुशोचन्ति) नहीं शोक करते हैं (पण्डिताः) पण्डित ॥

अ–तू उनके लिये शोक करता है जो शोक के योग्य नहीं और दानाई की बातें*कहता है । पण्डित जन मरों जीतों पर शोक नहीं करते ॥

---

* जो कि गहरी दृष्टि में दानाई नहीं है ॥

संगति—कैसे वह अशोचनीय हैं ? क्योंकि नाश होने वाले नहीं है, यह बतलाते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२॥

श—(न, तु) न ही (एव) ही (जातु) कभी (न, आसं) नहीं था (न, त्वं) न तू (न, इमे, जन—अधिपाः) न यह मनुष्यों के राजे (न, च) और न (एव) ही (न,भविष्यामः) न होंगे (सर्वे, वयं) सब हम (अतः, परं) इस से पीछे ॥

अ—न ही किसी समय मैं नहीं था, न तू (नहीं था) न ये राजे (नहीं थे) और न ही हम सब (मैं तू और यह राजे) इससे पीछे नहीं होंगे (अपि तु सदा होंगे)

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।१३

श—(देहिनः) देही=देहधारी=जीवात्मा का (अस्मिन्) इस (यथा) जैसे (देहे) देह में (कौमारं, यौवनं, जरा) बचपन, जवानी बुढ़ापा (तथा) वैसे (देहान्तर—प्राप्तिः) दूसरे देह की प्राप्ति (धीरः) धीर=बुद्धिमान् (तत्र, न, मुह्यति) उसमें नहीं धोखा खाता है।

अ—जैसे इस देह में देही [जीवात्मा] का बचपन जवानी और बुढ़ापा होता है, वैसे दूसरे देह की प्राप्ति है, धीर पुरुष उसमें धोखा नहीं खाता है।

भाष्य—जिस तरह देह में रहता हुआ जीवात्मा बचपन जवानी और बुढ़ापे का अनुभव करता है, इसीतरह देहान्तर की प्राप्ति को अनुभव करता है। पर यह देहान्तर की प्राप्ति प्रत्यक्ष नहीं दीखती,

इसलिये साधारण लोगों को इसमें धोखा होता है, वह मरा जानकर बेचैन होते हैं, और रोते धोते हैं, पर धीर पुरुष तत्व को समझता हुआ इस बिषय में धोखा नहीं खाता है ।

संगति—यद्यपि आत्मा देह से अलग हैं, पर देह में सुख दुःखादि अनुभव तो उसी को होता है ? इसका उत्तर देते हैं :—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेयशीतोष्णसुखदुःखदाः
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्वभारत

श—[मात्रा-स्पर्शाः] मात्राओं के सम्बन्ध [तु] किन्तु [कौन्तेय] हे कुन्ती के पुत्र ! [शीत-उष्ण-सुख-दुःख-दाः] सर्दी, गर्मी, सुख दुःखके देनेवाले [आगम-अपायिनः] आने जाने वाले [अ-नित्याः] अनित्य [तान्, तितिक्षस्व] उनको सहार [भारत] हे भारत की सन्तान=अर्जुन ।

अ—मात्राओं के सम्बन्ध * हे कौन्तेय ! सरदी और गरमी, सुख और दुःख के देने वाले हैं, यह आने जाने वाले हैं अनित्य हैं, उनको सहनकर हे भारत !

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते १५।

---

* मात्रा, कौषीतकि में दस इन्द्रियमात्रा और दस भूतमात्रा कही हैं, अर्थात् विषय और इन्द्रिय दोनों ही मात्रा हैं । सो मात्राओं के सम्बन्ध, विषय इन्द्रियों के परस्पर संबंध ही सरदी गरमी और सुख दुःख के देने वाले हैं यह आने जाने वाले हैं, इन से आत्माका कुछ नहीं बिगड़ता, इनको बहादुरीसे सहनकर ।

संगति–शीत उष्णादि हारने वाले को क्या फल होगा–

श–(यं) जिस (हि) क्योंकि (न) नहीं (व्यथयन्ति) पीड़ा देते (एते) यह (पुरुषं) पुरुषको (पुरुष–ऋषभ) पुरुषों में श्रेष्ठ (सम-दुःख-सुखं) जिसको सुख दुःख बराबर हैं, उस (धीरं) धीर (सः,अमृतत्वाय, कल्पते) वह मोक्ष के लिये समर्थ होता है ॥

अ–क्योंकि हे पुरुष श्रेष्ठ ! जिस पुरुष को यह मात्राओं के सम्बन्ध पीड़ा नहीं देते, जो सुख दुःख में बराबर है धीर है वह मोक्ष के लिये समर्थ होता है ॥

नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः।
उभयोरपिदृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः १६

श– (न) नहीं (असतः) असत् का (विद्यते) होता है (भावः) भाव=होना [न, अभावः] नहीं, अभाव [विद्यते,सतः] होता है सत् का [उभयोः, अपि] दोनों का ही [दृष्टः, अन्तः] देखा है अन्त=निर्णय [तु] पर [अनयोः] इन [तत्त्व–दर्शिभिः] तत्त्वदर्शियों ने ॥

अ–जो असत् है उसका भाव नहीं होता, और जो सत् है उस का अभाव नहीं होता, इन दोनों का अन्त तत्त्वदर्शियोंने देखा है ॥

---

* असत् जो देहादि है उसका सद्भाव अर्थात् अविनाशी होना नहीं होता,और सत् जो आत्मा है उसका असद्भाव अर्थात् विनाशी होना नहीं होता (श्री रामानुजाचार्य) देहादि और शीत उष्णादि द्वन्द्व और उसका कारण (मात्रास्पर्श) यह असत् है, क्योंकि यह असली वस्तु नहीं विकार मात्रहै,औरविकार सत्य नहीं होताहै सत्य असली वस्तुही होती है जैसे मट्टीके बर्तन मट्टीके विकार हैं वह कोई असली वस्तु नहीं केवल प्रतीत होते हैं सत्य नहीं, सत्य वहां मट्टी ही है । इस लिये असत् देहादि काभाव नहीं होता और सत्

भाष्य—अभिप्राय यह है, कि ज़ाहरा दो वस्तुएं हैं, आत्मा जो कि अविनाशी है, और सुख दुःखादि की वेदना, जोकि आने जाने वाली है, क्योंकि वह सदा टिकनेवाली नहीं, अतएव तत्त्वका देखने वाला इस दूसरी वस्तु को असत् समझता है इस लिये वह इसकी कोई परवाह नहीं करता। मानों इसकी कोई सत्ता [हस्ती] ही नहीं। और पहली वस्तु को सत् [असली] वस्तु समझता है अतएव उसको अविनाशी समझता हुआ शोक मोह में नहीं आता॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥१७

श—[अविनाशि] अविनाशि=न नाश होने वाला [तु] [तत्, विद्धि] उसको जान [येन] जिसने [सर्वं, इदं, ततं] सब

जो आत्मा है उसका अभाव अविद्यमानता नहीं होती। इस प्रकार आत्मा अनात्मा जो कि सत् असत् हैं इन दोनो का निर्णय कि सत् सत् ही है और असत् असत् ही है यह तत्त्वदर्शियों ने देखा है सो तू तत्त्वदर्शियों की दृष्टि का आश्रय करके शोक मोह को छोड़कर, यह शीत उष्णादि द्वन्द्व जो आने जाने वाले हैं यह सब विकारमात्र असत् हैं मृगतृष्णा की तरह मिथ्या भासता है ऐसा मैं मन निश्चय करके इनको सहार (आ: शंकराचार्य) सांख्य सूत्र और सांख्य कारिकाओं के व्याख्यकारोंने यह श्लोक सत्कार्यवाद में प्रमाण दिया है अर्थात् अभाव से भाव और भाव से अभाव (नेस्ती से हस्ती और हस्ती से नेस्ती) नहीं होता पर सांख्य के व्याख्याकारोंने इस अभिप्राय का इस प्रकरण में क्या सम्बन्ध देखा है वह यही होसक्ता है कि अभाव आत्मा का होता है न कि देहादि का। आत्मा सदा वही रहता है सो उसकेलिये शोक कैसा? और देहादि अनित्य हैं इस लिये वह सदा रहसक्ते ही नहीं। आप ही आप बदल जाते हैं उनके लिये भी शोक कैसा (सम्पादक)॥

यह तना है [विनाशं] विनाश [अ–व्ययस्य] न खर्च होने वाले= न घटने वाले का [अस्य] इस [न] नहीं [कश्चित्, कर्तुं, अर्हति] कोई करने के योग्य है=करसक्ता है ॥

अ–उसको तू अविनाशी जान, जिसने यह सब तना है,* विनाश इस अव्यय का कोई कर नहीं सक्ता है ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत १८

श–(अन्तवन्तः) अन्तवाले (इमे, देहाः) यह देह (नित्यस्य) नित्य (उक्ताः) कहे गए हैं (शरीरिणः) देही=आत्मा के (अ–नाशिनः) न नाश होने वाले (अ–प्रमेयस्य) अप्रमेय=अथाह, बेहद (तस्मात्, युध्यस्व, भारत) इस लिये युद्ध कर हे भारत

अ–देही जो नित्य अविनाशी और अप्रमेय† है, उसके यह देह अन्तवाले कहे गए हैं। इस लिये युद्ध कर हे भारत (अर्जुन)

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते १९

श–[यः, एनं, वेत्ति, हन्तारं] जो इसको जानता है मारने वाला [यः, च] और जो [एनं, मन्यते, हतं] इसको मानता है

---

* जैसे मकड़ी अपने गिर्द जाल तनलेती है, इस प्रकार जिसने अपने गिर्द यह देहादिका जाल तना है, वह तनने वाला जीवात्मा अविनाशी है । अथवा 'येनसर्वमिदं ततम्'=जिस से यह व्याप्त है, जो इन जड़ देहों में अन्दर प्रविष्ट है ॥

† अप्रमेय=प्रमाणों का अविषय, क्योंकि आत्मा स्वयं प्रकाश है (श्रीशंकराचार्य) प्रमाता है न कि प्रमेय है (श्रीरामानुजाचार्य).

मरा हुआ [उभौ, तौ, न, विजानीतः) दोनों वह नहीं जानते हैं [न, अयं, हन्ति] न यह मारता है [न,हन्यते] न मारा जाता है ।

अ—*जो इस [जीवात्मा]को मारनेवाला जानता है† और जो इसको मारा जाने वाला मानता है, वह दोनों नहीं जानते हैं, यह न मारता है न मारा जाता है ।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे । २०

श—[न, जायते] नहीं उत्पन्न होता है [म्रियते] मरता है [वा] या [कदाचित] कभी [न, अयं] न यह [भूत्वा] होकर [भविता] होगा [वा] अथवा [न, भूयः] न फिर [अजः, नित्यः] अज, नित्य [शाश्वतः] सदा रहनेवाला=परिणाम रहित [अयं] यह [पुराणः] पुराना [न, हन्यते] नहीं मारा जाता है [हन्यमाने] मारा जाने पर [शरीरे] शरीर के ।

अ—यह न उत्पन्न होता है और न ही कभी मरता है,और न ही

---

* यह श्लोक पूर्वार्द्ध में पाठ भेद करके कठ २ । १९ से लिया गया है ।

† जैसे लोहे का गोला अग्नि के सम्बन्ध से जलाने वाला बनता है, न कि स्वतः, इसी प्रकार मात्रा आदि के सम्बन्ध से आत्मा (मारने वाला आदि कर्म्म का) कर्ता होता है, नकि स्वतः, इस लिये वह मात्रा आदि का धर्म्म है,न कि आत्मा का,आत्मा में कर्तृत्व-प्रतीति उनके सम्बंध से ही होती है, (नीलकण्ठ) ।

यह होकर फिर न होगा * यह अजन्मा, नित्य, सदा रहने वाला, और पुराना है, शरीर के मारा जाने पर यह नहीं मारा जाता है

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् २१

श-[वेद] जानता है [अविनाशिनं, नित्यं] अविनाशी नित्य [यः] जो [एनं] इसको [अजं, अव्ययं] अजन्मा, अपरिणामी [कथं] कैसे [सः, पुरुषः] वह पुरुष [पार्थ] हे पृथा के पुत्र [कं, घातयति] किसको मरवाता है [हन्ति, कं] मारता है किसको ।

अ-जो इसको अविनाशी नित्य अजन्मा अपरिणामी जानता है, कैसे वह पुरुष हे पार्थ ! किसी को मरवाता है वा मारता है :-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२

श-[वासांसि] वस्त्रों को [जीर्णानि] जीर्ण हुए [यथा, विहाय] जैसे छोड़कर [नवानि, गृह्णाति] नये ग्रहण करता है [नरः] मनुष्य [अपराणि] और [तथा] वैसे [शरीराणि] शरीरों को [विहाय) छोड़कर [जीर्णानि] जीर्ण हुए [अन्यानि]

---

* किन्तु फिर २ होगा, अर्थात् फिर २ देह धारेगा। श्रीशंकराचार्य्य ने इसका दुहरा अर्थ किया है, यह होकर फिर अभविता= अभाव को प्राप्त होगा, ऐसा नहीं । इसलिये मरता नहीं । दूसरा 'न' "वा" के सम्बन्ध से यह अर्थ-अथवा न होकर फिर होगा, यह नहीं । न होकर फिर होना ही जन्मना है, सो यह जन्मता भी नहीं ।

और [नवानि] नये [संयाति] प्राप्त होता है [देही] आत्मा ।

अ–जैसे मनुष्य जीर्ण हुए वस्त्रों को छोड़कर और नये ग्रहण करता है, वैसे आत्मा जीर्ण हुए शरीरों को छोड़कर और नये [शरीरों] को प्राप्त होता है ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः २३
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः २४।

श–(न) न ही (एनं, छिन्दति, शस्त्राणि) इसको काटते हैं शस्त्र (न,एनं,दहति,पावकः) नहीं इसको जलाती है अग्नि (न, च) और न (क्लेदयन्ति, आपः) गीला करते हैं जल (न, शोषयति, मारुतः) न सुखाता है वायु । २३ । (अच्छेद्यः) नहीं काटने योग्य (अयं) यह (अ-दाह्यः) नहीं जलाने योग्य (अयं) यह (अ-क्लेद्यः) नहीं भिगोने योग्य (अ-शोष्यः) नहीं सुखाने योग्य (एव) ही (च) और (नित्यः) नित्य (सर्वगतः) सर्वगत(स्थाणुः) स्थिर स्वभाव=टिका हुआ (अ-चलः) अचल (सनातनः) सनातन । २४ ।

अ–शस्त्र इसको नहीं काटते, अग्नि इसको नहीं जलाती, जल इसको नहीं भिगोते, और वायु इसको नहीं सुखाता । २३ । यह काटने योग्य नहीं, जलाने योग्य नहीं,और निःसन्देह भिगोने योग्य नहीं, सुखाने योग्य नहीं, यह नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल और सनातन है ।

भाष्य–टुकड़ों में कटना सावयव वस्तु का होता है, और सावयव में ही अग्नि प्रवेश करके उसको जलाती है, पानी प्रवेश करके

भिगोता है, और वायु प्रवेश करके सुखाता है। आत्मा निरवयव है उसमें और किसी के समाने को स्थान ही नहीं, इसलिये शास्त्र और अग्नि आदि उसमें प्रवेश ही नहीं कर सकते, अतएव वह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य है। नित्य है=उसका कोई कारण नहीं। सर्वगत है=सब में प्रविष्ट है, स्थिर है, एक रस टिका हुआ है, नये आकार धारण नहीं करता है, अचल है, अडोल है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

श–(अ-व्यक्तः) अप्रकट (अयं) यह (अ–चिन्त्यः) अचिन्त्य (अयं) यह (अ–विकार्यः) विकार के अयोग्य (अयं) यह (उच्यते) कहा कजाता है (तस्मात्) इस लिये (एवं,विदित्वा ऐसा जानकर (एनं) इसको (न, त्वं, शोचितुं, अर्हसि) नहीं तू शोक करने योग्य है ॥

अ–यह अप्रकट है (इन्द्रियों का अविषय है) (मन से भी) अचिन्त्य है, और यह (शास्त्रों से) विकार के अयोग्य 'कहा जाता है' *इस लिये इस (आत्मा) को ऐसा जानकर (उसके निमित्त) तू शोक करने योग्य नहीं है ॥

संगति–इस प्रकार तत्त्ववेता की दृष्टि से शोक उचित नहीं, यह कहा, अब प्राकृत जनकी दृष्टि से भी शोक उचित नहीं यह बतलाते हैं—

---

* जिसके विषय में शास्त्र बतलाता है, कि वह विकार के योग्य ही नहीं, न उस में अपने आप कोई विकार होता है, न किसी से किया जासक्ता है, वह जीने मरने आदि सब अवस्थाओं में एक जैसा है, तो फिर उसके लिये शोक कैसा ?

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि २६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि २७॥

श्०-(अथ-च) और यदि (एनं) इसको (नित्य-जातं) सदा उत्पन्न होने वाला (नित्यं) सदा (वा) और (मन्यसे) मानता है (मृतं) मरने वाला (तथा, अपि) तौभी (त्वं) तू (महा-बाहो) बड़ी भुजावाले=पराक्रमी भुजा वाले (न, एनं, शोचितुं, अर्हसि) नहीं इसकोशोक करने योग्य॥२६॥(जातस्य)उत्पन्न हुए का(हि)क्योंकि (ध्रुवः) अटल (मृत्युः) मृत्यु (ध्रुवं) अटल (जन्म, मृतस्य) जन्म मरे हुए का (च) और (तस्मात्) इस लिये (अ-परिहार्ये) अवर्जनीय =न हटाई जाने वाली (अर्थे) बात में (न, त्वं, शोचितुं, अर्हसि) नहीं तू शोक करने योग्य है॥

अ०-और यदि तू इस को सदा उत्पन्न होने वाला और सदा मरने वाला मानता है, तौभी हे महाबाहो! तुझे इसका शोक करना योग्य नहीं है॥२६॥ क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है, उसका मृत्यु अटल है और जो मरा है, उसका जन्म अटल है, इस लिये इस अवर्जनीय बात में तुझे शोक करना योग्य नहीं है॥

भाष्य-वस्तुतः आत्मा न जन्मता है न मरता है, उसके लिये शोक कैसा? पर यदि तू उसको जन्मने और मरने वाला ही समझता

है, तौभी तो शोक की कोई जगह नहीं, क्योंकि जो जन्मा है, उसने अवश्य ही मरना है ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना २८॥

श-[अव्यक्त-आदीनि] अव्यक्त है आदि जिनका [भूतानि] भूत=जीव [व्यक्त-मध्यानि] व्यक्त है मध्य जिनका [भारत] हे भारत=अर्जुन [अव्यक्त-निधनानि] अव्यक्त है अन्त जिनका [तत्र] उनमें [का,परि देवना] क्या विलाप ॥

अ-हे भारत जब यह भूत ऐसे हैं, कि इनका आदि अव्यक्त [बेमालूम] है, मध्य व्यक्त है, अन्त फिर अव्यक्त ही है, तब उन में विलाप (रोना धोना) कैसा ?

भाष्य-**अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः । नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना**=अदर्शन से आया और फिर अदर्शन को ही प्राप्त हो गया, वह न तेरा है, न तू उसका है, फिर व्यर्थ क्यों विलपता है ॥

संगति-ऊपर आत्मा के उत्पत्ति विनाश को मानकर भी शोक का अनवसर दिखलाया है,पर वस्तुतः वह उत्पत्ति विनाशवाला है ही नहीं, हां उसका जानना किसे विरले के भाग्य में होता है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥२९॥

श--[आश्चर्यवत्] आश्चर्यसा [पश्यति] देखता है [कश्चित्, एनं] कोई इसको [आश्चर्यवत्] आश्चर्यसा [वदति] कहता है [तथा, एव] वैसे ही [च] और [अन्यः] दूसरा [आश्चर्यवत्, च] और आश्चर्यसा [एनं, अन्यः, शृणोति] इसको अन्य सुनता है [श्रुत्वा,अपि,एनं] सुनकर भी इसको [वेद] जानता है (न, च,एव) और नहीं ही (कश्चित्) कोई॥

अ--*आश्चर्यवत् कोई इसको देखता है, और आश्चर्यवत् ही दूसरा बतलाता है, आश्चर्यवत् कोई इसको सुनता है, सुनकर भी इस को कोई नहीं जानता है ॥

भाष्य--इसका कहने सुनने और देखने वाला जन कोई विरला ही है ॥

संगति--अब प्रकृत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं--

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ॥
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ३०।

श--(देही) देही (नित्यं, अवध्यः) सदा,अवध्य = न मारा जाने वाला (देहे) देह में (सर्वस्य) सब के (भारत) हे भारत=अर्जुन (तस्मात्) इस लिये (सर्वाणि भूतानि) सारे भूतों को (न, त्वं, शोचितुं, अर्हसि) नहीं तू शोक करने योग्य है ॥

---

* मिलाओ कठ० २ । ७॥

अ–देही सब के देह में सदा अवध्य है,इसलिये हे भारत ! तुझे किसी भी भूत का शोक करना योग्य नहीं है।

संगति–इसप्रकार तत्त्व दृष्टि से शोक हो नहीं सकता, यह कहा है। पर न केवल परमार्थ दृष्टि से किन्तु :—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य नविद्यते।

श–(स्व-धर्मं, अपि, च) और अपने धर्म को भी (अवेक्ष्य) देखकर (न, विकम्पितुं, अर्हसि) नहीं डोलने योग्य है (धर्म्यात्) धर्मयुक्त (हि) क्योंकि (युद्धात्) युद्ध से (श्रेयः) प्रशस्ततर (अन्यत्) और (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय के लिये (न, विद्यते) नहीं है।

अ–अपने धर्म * को देखकर भी तुझे डोलना योग्य नहीं है- क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त युद्ध से प्रशस्ततर (अधिक भला) और नहीं है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनःक्षत्रियाःपार्थ लभन्तेयुद्धमीदृशम् ३२

श–(यदृच्छया, च) अपने आप (उपपन्नं) प्राप्त हुआ (स्वर्ग-द्वारं, अपावृतं) स्वर्ग का द्वार खुला हुआ (सुखिनः) सुखी=भाग्यवाले (क्षत्रियाः) क्षत्रिय (पार्थ) हे पृथा के पुत्र ! (लभन्ते) पाते हैं (युद्धं, ईदृशं) युद्ध ऐसा ।

अ–भाग्यवाले हैं वह क्षत्रिय हे पार्थ ! जो खुले हुए स्वर्ग के द्वार के तौर पर अपने आप प्राप्त हुए ऐसे युद्ध को लाभ करते हैं ॥

---

* अपना धर्म=क्षत्रिय का निज धर्म, जिसका वर्णन गीता १८। ४३ में है॥

संगति—इसप्रकार उपस्थित युद्ध जब धर्मयुक्त है, तो उससे हटना पाप के लिये और अकीर्त्ति के लिये होगा यह बतलाते हैं:—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततःस्वधर्मंकीर्तिं च हित्वापापमवाप्स्यसि ३३

श—(अथ, चेत, त्वं) पर यदि तू (इमं, धर्म्यं, संग्रामं) इस धर्म-युक्त युद्ध को (न, करिष्यसि) नहीं करेगा (ततः, स्व-धर्मं, कीर्तिं च) तब अपने कर्त्तव्य और कीर्त्ति को (हित्वा, पापं, अवाप्स्यसि) त्यागकर पाप को प्राप्त होगा ।

अ—पर यदि तू धर्मयुक्त इस संग्राम को नहीं करेगा, तब तू अपने कर्त्तव्य और कीर्त्ति को त्यागकर (केवल) पाप को प्राप्त होगा ।

अकीर्तिंचापिभूतानिकथयिष्यन्तितेऽव्ययाम्
संभावितस्य चाकीर्तिर्मराणादतिरिच्यते ३४।

श—(अकीर्त्तिं, च, अपि) और अकीर्त्ति को भी (भूतानि, कथयिष्यन्ति) लोग कहेंगे (ते) तेरी (अ-व्ययां) न नाश होने वाली (सम्भावितस्य, च, अकीर्त्तिः) और माननीय की अकीर्त्ति (मरणात, अतिरिच्यते) मरने से बढ़कर है ।

अ—किञ्च, सब लोग न नाश होनेवाली तेरी अकीर्त्ति को भी कहेंगे,और माननीय की अकीर्त्ति मरने से बढ़कर होती है (धर्मानुष्ठान और शौचादिगुणों से मानपाये हुए का अकीर्त्तिसे मरना भला है)

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्३५

श–(भयात्, रणात्, उपरतं) भय से रण से निवृत्त हुआ (मंस्यन्ते, त्वां, महा-रथाः) मानेंगे तुझे महारथ (येषां च, त्वं, बहु-मतो, भूत्वा) और जिनके तू बहुत माना हुआ होकर (यास्यसि, लाघवं) प्राप्त होगा लघुता को।

अ–और भय के हेतु रण से निवृत्त हुआ तुझे महारथ (करणादि) समझेंगे, जिनके तू बहुत माना हुआ होकर अब लघुता को प्राप्त होगा।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यंति तवाहिताः। निन्दन्तस्तव सामर्थ्यंततो दुःखतरंनुकिम् ३६

श–(अ-वाच्य-वादान्, च) और अनुचित शब्दों को (बहून्) बहुत (वदिष्यन्ति, तव, अ-हिताः) कहेंगे तेरे शत्रु (निन्दन्तः, तव, सामर्थ्यं) निन्दते हुए तेरे सामर्थ्य को (ततः, दुःखतरं, नु, किम्। उससे बढ़कर दुःख क्या।

अ–किंच, तेरे शत्रु तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए (तेरे लिये) बहुत अनुचित शब्दों को कहेंगे,इससे बढ़कर दुःख क्या होगा)

संगति–और युद्ध के करने पर तो :—

हतोवा प्राप्स्यसिस्वर्गंजित्वा वा भोक्ष्यसेमहीम् तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ३७

श–(हतः) मारागया (वा) अथवा (प्राप्स्यसि, स्वर्गं) प्राप्त होगा स्वर्ग को (जित्वा, वा, भोक्ष्यसे, महीं) जीतकर अथवा भोगेगा पृथिवी को (तस्मात्, उत्तिष्ठ, कौन्तेय) इसलिये खड़ा हो हे कुन्ती के पुत्र(युद्धाय)युद्ध के लिये(कृत-निश्चयः)किये हुए निश्चयवाला

अ—यदि तू मारागया तो स्वर्ग को प्राप्त होगा। और जीता, तो पृथिवी को भोगेगा, * इसलिये हे कुन्ती के पुत्र !† दृढ़ निश्चय वाला होकर युद्ध के लिये खड़ा हो।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौजयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ३८।

श—(सुख-दुःखे, समे, कृत्वा) सुख दुःख बराबर करके (लाभ-अलाभौ, जय-अजयौ) लाभ हानि जय पराजय (ततः, युद्धाय, युज्यस्व) तब युद्ध के लिये तय्यार हो (न, एवं, पापं, अवाप्स्यसि) नहीं इसतरह पाप को प्राप्त होगा।

अ—सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय ‡ को सम मानकर तब युद्ध के लिये तय्यार हो, इसतरह तू पाप को प्राप्त नहीं होगा।

भाष्य—पर हां युद्ध करते हुए तुझ के लिये यह उपदेश है, इसको सुन। कि जो कोई राज्य के लोभ से स्वजनों का वध करता है, उसको पाप होता ही है, पर तू सुख दुःख लाभ अलाभ जय पराजय को तुल्य जानकर केवल कर्त्तव्यबुद्धि से युद्धकर, ऐसा करने में तुझे पाप नहीं होगा, क्योंकि यह कर्म फल की कामना से रहित है। यहां आचार्य ने फल की कामना का त्यागही एक नया मार्ग दिखलाया है, वही आगे स्फुट होगा।

---

* इसप्रकार जय और पराजय दोनों में लाभ है। मिलाओ (महा० उद्यो० पर्व १२८। २० और ७६। ८ से १३ और ७८। ५, ६)

† तू कुन्तीका पुत्र है, युद्धमें मरना वा मारना ही तुझे योग्य है।

‡ सुख दुःख फल हैं। लाभ हानि उनके कारण हैं और यहां जय पराजय लाभ हानि के कारण हैं।

संगति—इसप्रकार आत्मज्ञान का उपदेश करके कर्मयोग का उपदेश आरम्भ करते हैं :—

एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमांशृणु
बुद्ध्या युक्तोययापार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ३९

श—(एषा, ते, अभिहिता, बुद्धिः, सांख्ये) यह तुझे कही है बुद्धि सांख्य में (योगे, तु, इमां, शृणु) योग में अब इसको सुन (बुद्ध्या, युक्तः) बुद्धि से युक्त हुआ (यया) जिस (पार्थ) हे पृथा के पुत्र (कर्म-बन्धं, प्रहास्यसि) कर्म के बन्धन को त्यागेगा।

अ—यह तुझे सांख्य विषय में बुद्धि कही है, अब योग विषयमें इस (बुद्धि) को सुन, जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू हे पार्थ ! कर्म के बन्धन को त्यागेगा।

भाष्य—" नत्वेवाहं " (२। १२) से लेकर 'तस्मात् सर्वाणि भूतानि ' (२। ३०) तक आत्मतत्व ही कहा है। यही यहां सांख्य से अभिप्रेत है। अर्थात् आत्मतत्व विषय में जो बुद्धि करनी चाहिये वह तुझे कह दी है। अब योग अर्थात् कर्मयोग विषय में जो बुद्धि कहेंगे वह सुन। यहां योग से निष्कामकर्म रूप कर्मयोग अभिप्रेत है, जैसा आगे कहेंगे—'योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय। सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योगउच्यते' (२।४८) 'दूरेणह्यवरं कर्मबुद्धियोगात् (२। ४९)'योगः कर्मसु कौशलम् ' (२। ५०)। सो फल कामना से युक्त कर्म्म संसार में बांधता है, और फलकामना से विमुक्त कर्मयोग उस बन्धन को काटता है,यही यहां अभिप्राय है।*

---

*पूर्वापर की आलोचना से यहां सांख्ययोग शब्दों से तत्वज्ञान और कर्मयोग ही अभिप्रेत हैं, भिन्न २ व्याख्याताओं ने प्रतिपादन

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

श-(न, इह, अभिक्रम-नाशः, अस्ति) नहीं इसमें आरम्भ का नाश है (प्रत्यवायः) प्रत्यवाय=आज्ञालंघनका अपराध (न, विद्यते) नहीं होता है (स्वल्पं, अपि, अस्य, धर्मस्य) थोड़ा भी इस धर्म का त्रायते, महतः, भयात्) बचाता है बड़े भय से ।

अ-इस (मार्ग) में आरम्भ (मात्र) का भी नाश नहीं है, और (टूटने में) प्रत्यवाय (विधि के उलांघने का पाप) नहीं होता है। थोड़ा (अंश) भी इस धर्म का बड़े भय से बचाता है।

भाष्य-काम्यकर्म में (चाहे लौकिक हो वा वैदिक) जब तक सारे अंग पूरे न हों, फल की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे खेती में हल चलाना और बीज बोना आदि करके भी जल सेचन के बिना खेती नहीं होती। इसीप्रकार वैदिक काम्य कर्मों में। तथा काम्यावस्था में प्राप्त कर्म के न करने वा विधि से रहित होने में प्रत्यवाय

के प्रकार में भेद करते हुए भी परमाशय यही निकाला है। जैसे सांख्य=परमार्थ वस्तु का विवेक (श्रीशंकर) संख्या=बुद्धि, उस से जानने योग्य आत्मतत्त्व=सांख्य (श्रीरामानुज) संख्या=परमात्म तत्व को बतलाने वाली अर्थात् उपनिषद्, उससे प्रतिपादित सांख्य अर्थात् औपनिषद पुरुष (श्री मधुसूदन) इत्यादि। वस्तुतः सांख्य शास्त्र का विषय प्रकृति पुरुष का विवेक है, इसलिए सांख्य से तत्व-ज्ञान अभिप्रेत है। और योगशास्त्र का विषय चित्त का समाधान है। सो अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए चित्त को परमात्मा में लगाए रखना ही कर्मयोग यहां कहा है, जैसा कि 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' (४।२४) इत्यादि से स्पष्ट होगा। यह किसी पञ्जाबी भक्त ने क्या सुन्दर कहा है "हत्थ कार वल्ल, चित्त यार वल्ल" इसप्रकार ईश्वर का आराधन कर्मयोग है।

होता है। पर जब फल कामना के बिना केवल कर्त्तव्यबुद्धि से कर्म किया जाता है, तब किसी रुकावट से समाप्ति न होने पर भी निष्फल नहीं जाता है, और न कभी विच्छेद में कोई प्रत्यवाय होता है। क्योंकि उस थोड़े अनुष्ठान को भी हृदयदर्शी ईश्वर बहुत मानते हैं। "पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते" ६। ४० यह स्वयं ही आगे कहेंगे। *

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१

श–(व्यवसाय–आत्मिका) निश्चय स्वरूपा (बुद्धिः) बुद्धि (एका) एक (इह) इसमें (कुरु-नन्दन) हे कुरु नन्दन=कुरुओं के खुश करने वाले=कुरुओं की सन्तान (बहु–शाखाः, अनन्ताः च, बुद्धयः) बहुत शाखाओं वाली और अनगिनतन बुद्धियां (अ–व्यवसायिनां) न निश्चय वालों की हैं।

अ–इस (कर्मयोग) में हे कुरु-नन्दन निश्चयात्मिक बुद्धि (केवल) एक निष्ठा वाली होती है, और जो निश्चय रहित हैं, उनकी बुद्धियां बहुत शाखाओं वाली और अनगिनतन होती हैं।

भाष्य–कर्मयोग में मनुष्य का लक्ष्य एक होता है, वह सारे

---

*श्रीविश्वनाथ का यह कथन कि "नैष्कर्म्य मप्यच्युतभाव वर्जितम्" (भागव० १। ५। १२)=निष्कर्म होना भी जो विष्णु की भक्तिसे वर्जित है, इस भागवतवाक्यके आश्रयसे यहां निष्कामकर्म रूपी योग का विधान नहीं, किन्तु श्रवण, कीर्तन आदि भक्ति रूप योग का विधान है' शोभा नहीं पाता क्योंकि यहां कर्मयोग में "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः। (४। २४) इत्यादियों में ब्रह्मभावना (भक्तिभावना) से युक्त ही कर्मयोग का विधान किया है।

कर्म ईश्वर के उद्देश से ही करता है, इसलिये उसकी अटल निश्चय वाली बुद्धि केवल एकनिष्ठ होती है, पर जो बहिर्मुख हैं, बाहर की कामनाओं के प्यारे हैं, न कि ईश्वर के, उनके लक्ष्य अनेक होते हैं, वह एक निश्चय वाले नहीं, कभी इस कामना को चाहते हैं कभी उसको, उनकी बुद्धियां पुत्र पशु धन ऐश्वर्यादि कामनाओं के के भेद से बहुत शाखाओं वाली और अनगिनतन होती हैं।

संगति—अब काम्य कर्मों की निन्दा करते हैं तीन श्लोकों से—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ४२
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ४४

श—(यां इमां, पुष्पितां, वाचं, प्रवदन्ति) जिस इस पुष्पित बाणी को बोलते हैं (अ—विपश्चितः) अविवेकी (वेद—वाद—रताः) वेद के वचनों में प्रसन्न होते हुए (पार्थ) हे पृथा के पुत्र (न, अन्यत् अस्ति, इति—वादिनः) नहीं और है ऐसा कहने वाले। ४२। (काम-आत्मानः) कामना जिनका आत्मा है=जो कामना स्वरूप हैं=काम नाओं से ग्रसे हुए चित्त वाले (स्वर्ग—पराः) स्वर्ग परायण=स्वर्ग जिन का परला लक्ष्य है (जन्म-कर्म-फल-प्रदां) जन्म रूप कर्मों का फल देने वाली (क्रिया-विशेष-बहुलां) कर्म विशेष जिसमें बहुत हैं (भोग-ऐश्वर्य-गतिं, प्रति) भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये।४३। (भोग-ऐश्वर्य-

प्रसक्तानां) भोग ऐश्वर्य में फंसे हुए(तया,अपहृत–चेतसां) उससे खींचें हुए चित्त वालों की (व्यवसाय–आत्मिका,बुद्धिः,समाधौ,न,विधीयते) निश्चयात्मिक बुद्धि समाधि में नहीं उत्पन्न होती है।

अ–अविवेकी लोग जोकि वेदों में कहे हुए (फल के) वचनों में ही रत हैं, और उससे अधिक (फल) नहीं है–ऐसा कहने वाले हैं, जोकि कामात्मा हैं (कामनाओं से ग्रसे हुए चित्त वाले हैं) और स्वर्ग परायण हैं (स्वर्ग ही जिनका अन्तिम लक्ष्य है), वह पुरुष, जिस इस पुष्पित(फूले हुए वृक्ष की तरह सुहावनी)वाणी(फल वाले वचनों) को बोलते हैं जो जन्म को कर्मफल के तौर पर देने वाली है,और भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये जिसमें बहुत कर्म विशेष (अग्नि-ष्टोमादि) हैं, ऐसी वाणी से, जिनके चित्त खींचे गए हैं, और भोग और ऐश्वर्य में फंसे हुए हैं,उनकी बुद्धि निश्चयात्मिक होकर समाधि (परमेश्वर में चित्त की एकाग्रता) में नहीं उत्पन्न होती है।

भाष्य–वेद का परम तात्पर्य यह है, कि मनुष्य निष्काम होकर अपने कर्तव्य को पाले, जैसाकि कहा है ' तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत् परमं पदम् '=बनिये न बनकर (अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करते हुए) जो पुरुष जागे हुए हैं, वह उस पद को (हृदय में) प्रदीप्त करते हैं, जो विष्णु का परम पद है (यजु० ४४।२)। पर संसारी मनुष्य प्रायःसांसारिक कामनाओं में बन्धे हुए होते हैं, वह इन कामनाओं को छोड़कर पहले ही निष्कामभाव पर नहीं पहुंच सक्ते, उनको मर्यादा में रखने के लिये वेद ने काम्य कर्म बतलाए हैं, और नित्य नैमित्तिक कर्मों के भी अनेक प्रकार के लौकिक फल बतलाए हैं।

सो जो लोग सांसारिक भोगों में ही फंसे रहते हैं, वह वेद के उन सुहावने वचनों पर ही मोहित हैं, जिनमें वह अनेकविध लौकिक फल बतलाए हैं, वह इससे परे और कुछ नहीं मानते, वह अपना सब से ऊंचा लक्ष्य स्वर्ग को ही मानते हैं, अत एव उनके कर्म का फल जन्म है, क्योंकि वह फिर इस लोक में आकर जन्मते हैं '**प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मैलोकाय कर्मणे**'=जो कुछ यह यहां करता है, उस के फल को वहां भोगकर उस लोक से इस लोक की ओर फिर आता है कर्म करने के लिये(बृह० ४।४।६)। सो इस प्रकार के कामात्मा पुरुष, जो भोग और ऐश्वर्य में फंसे हुए वेद के फल-वाद पर ही मोहित हैं, और भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये भिन्न २ कर्मों को करते हैं,उनकी बुद्धि सदा भिन्न २ कामनाओं में डांवांडोल रहती हैं,निश्चयात्मिक होकर एक लक्ष्य पर नहीं टिकती।

संगति–यदि यह कामनाएं त्याज्य हैं, तो क्यों फिर वेद इन भिन्न२ कामनाओंको बतलाते हैं, और किसतरह वैदिककर्म में प्रवृत्त हुआ भी इन कामनाओं से ऊपर होजाता है, यह बतलाते हैं :–

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वोनित्यसत्वस्थोनिर्योगक्षेम आत्मवान्.

श–(त्रै-गुण्य-विषयाः) तीनों गुणोंवाले जिसका विषय (वेदाः) वेद (निः-त्रै-गुण्यः, भव, अर्जुन) तीनों गुणों के मेल से ऊपर हो हे अर्जुन ! (निः-द्वन्द्वः) द्वन्द्व रहित (नित्य-सत्त्व-स्थः) सदा सत्त्व में स्थित (निः-योग-क्षेमः) योग क्षेम से रहित (आत्मवान्) आत्मा वाला=अप्रमत्त=प्रमादशून्य ।

अ—वेद ऐसे हैं, जिनका विषय तीनों गुणवाले पुरुष हैं, पर तू हे अर्जुन तीनों गुणों के सम्बन्ध से रहित हो, द्वन्द्वों से रहित, सदा सत्त्व (उत्साह) में स्थित, योग क्षेम से रहित, और अप्रमत्त हो।

भाष्य—वेद सब के लिये हैं, अब प्रायः पुरुषों की रुचि सत्त्व रजस्, तमस् इन तीन गुणों की प्रधानता से सांसारिक भोगों में ही होती है। उनकी कामनाओं को पूर्ति के लिये उस रुचि के बल से स्वभावतः वह उन्हीं के प्रार्थी होते हैं। अतएव वेदों में धन जन पश्वादि विषय के स्तोत्र पाये जाते हैं, और उनके प्रयोग से उन्हीं फलों वाले नानाविध यज्ञ बतलाये गये हैं। उनके अनुष्ठान से इसी लोक में जल्दी ही धन पुत्रादि का लाभ होता है। जैसा कि गीता(४।१२)में कहेंगे। सो वेद में सांसारिक कामनाओं की बहुलता देखकर इस भ्रान्ति में मत पड़ो, कि यही मनुष्य का परम लक्ष्य है। परम लक्ष्य परमानन्द है, जो तीनों गुणों से ऊपर चढ़कर मिलता है, इसलिये तू हे अर्जुन! इन तुच्छ कामनाओं से ऊपर हो अर्थात् त्रिगुणातीत हो, त्रिगुणातीत होने के लिये यह उपदेश देते हैं, कि शीत, उष्ण, सुख दुःखादि द्वन्द्वों को सहनकर, न सांसारिक सुखों की प्राप्ति में हर्षवान्, न दुःखों की प्राप्ति में शोकवान् हो, सदा उत्साहवान् हो। संसारी जन जिसतरह अपने भरण पोषण की भावना से कमाते और कमाये हुए की रक्षा करते हैं, तू इस भावना से रहित हो, क्योंकि जो ईश्वर परायण हैं, उनके योग क्षेम को ईश्वर स्वयं निबाहते हैं (देखो गीता ८ । २२) और सदा अप्रमत्त हो, सावधान हो, कभी भी किसी विषय के परवश न हो।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥४६

श–(यावान्,अर्थः,उद-पाने)जितना प्रयोजन जलाशय में(सर्वतः-संप्लुत-उदके) सब ओर से उछलते हुए जलवाले (तावान्, सर्वेषु, वेदेषु) उतना सारे वेदों में (ब्राह्मणस्य, विजानतः) ब्राह्मण विज्ञानी को।

अ–एक विज्ञानी ब्राह्मण को सारे वेदों में उतना प्रयोजन है, जितना सब ओर से उछलते हुए जलवाले जलाशय में होता है।

भाष्य–जो एक बहुत बड़ा जलाशय जल से मुंहामुंह भरा हुआ है उससे एक प्यासा उतनाही जल लेता है,जितना उसकी प्यास मिटा सक्ता है,न कि सारे जल को ले लेता है,इसीप्रकार विज्ञानी पुरुष अनेकों प्रकार के अधिकारियों की कामनाओं से मुंहामुंह भरेहुए वेदमें से उतनाही ग्रहण करता है, जितना कि उसके लिये प्रयोजनीय है। *

संगति–कर्म के विषय में वेद में कही हुई कौन बात तुझे लेनी चाहिये, और कौन छोड़नी चाहिये, यह स्पष्ट कहते हैं :–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७

---

* श्रीशंकराचार्य्य ने इसका यह आशय प्रकट किया है, कि कुआं तालाव आदि थोड़े पानी वाले अनेक जलाशय में से जितना स्नान पानादि प्रयोजन सिद्ध होसक्ता है,वहसारेका सारा एकबहुतबड़े और भरे हुए जलाशय में होजाता है, इसीतरह वेदोक्त सारे कर्मों में जितना प्रयोजन है, वह सारा एक ज्ञान में आजाता है अर्थात् कर्म फल सारे ज्ञानफल के अन्तर्गत होते हैं, जैसा कि छान्दोग्य ४।१।४ और गीता ४।३३ में कहा है (नीलकण्ठ ने इस अर्थ में यह त्रुटि दिखलाई है, कि पूर्वार्ध में तो 'अनेकस्मिन्, यथा, तथा, भवति' इन चार पदों का अध्याहार करना पड़ता है, और उत्तरार्ध में "यावान्, तावान्" इन दो पदों का अनुषङ्ग)।

श–(कर्मणि, एव, अधिकारः, ते) कर्म में ही अधिकार तेरा (मा, फलेषु, कदाचन) मत फलों में कभी (मा, कर्म-फल-हेतुः, भूः) मत कर्म फल जिसका प्रेरक है ऐसा हो (मा, ते, संगः, अस्तु, अकर्मणि) मत तेरा लगाव हो कर्म के न करने में।

अ–तेरा अधिकार कर्म में ही है, उसके फलों में कभी नहीं, मत कर्मों का फल तेरा प्रेरक हो, और मत तेरा लगाव अकर्म में हो।

भाष्य–साधारण जन फल के लोभ से अपने कर्तव्य में प्रवृत्त होते हैं; उनकी प्रवृत्ति के लिये वेद उनको उनही फलों का उपदेश करता है,जो उनके प्रेरक होसक्ते हैं;क्योंकि उसके जाने विना वह कर्ममें प्रवृत्त नहीं होते। पर विवेकी वह है, जिसको अपना 'कर्त्तव्य कर्म ही अपनी ओर प्रेरता है, नकि उसका फल। पर फल की वासना छोड़कर भी वह अकर्म में प्रवृत्त नहीं होते, किन्तु कर्म करते ही हैं क्योंकि कर्म त्यागा जाही नहीं सक्ता*।

* यही तात्पर्य्य आचार्य्यको अभिप्रेत है जैसाकि 'ये मे मतं' (३।३१) इत्यादि में कहेंगे। श्रीशंकराचार्य्य ने 'कर्म्मणि, एव'= कर्म्म में ही, इस 'एव=ही' का तात्पर्य्य यह निकाला है, कि कर्म्म में ही तेरा अधिकार हैं, ज्ञान में नहीं। पर यह अभिप्राय यहां है नहीं, क्योंकि 'ही' का तात्पर्य्य 'श्लोक के अन्दर ही स्फुट किया गया है, कि कर्म्म में ही तेरा अधिकार है, फलो में नहीं। अर्जुन ज्ञान का अनधिकारी नहीं, यदि ऐसा होता, तो उसके लिये ज्ञान का उपदेशही निष्फल होता। किञ्च कर्म्म तो ज्ञानीके लियेभीसर्वथा त्याज्य नहीं होसक्ता (देखो गीता ३।८, अनुगीता २०।६, ७); और उद्यो० प० २८।६, ७ में ज्ञान को कर्म्म मे ही सफलता दिखलाई है, इसलिये कर्म्म का ज्ञान से विरोध भी नहीं है, प्रत्युत ज्ञान कर्म्ममें लगाताहै जैसे उपदेशादिमें,औरकर्म्म मे ज्ञान फुरताहै, जैसे पढ़ाने आदि से, इसलिये उपरोक्त अभिप्राय ही आचार्य्य को अभिप्रेत है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वंयोगउच्यते

श-(योग-स्थः, कुरु, कर्माणि) योग में स्थित हुआ कर कर्मों को (संगं, त्यक्त्वा, धनञ्जय) संग को त्यागकर हे धनञ्जय (सिद्धि-असिद्ध्योः, समः, भूत्वा) सिद्धि असिद्धि में सम होकर (समत्वं, योगः, उच्यते) समता योग कहलाती है।

अ-हे धनञ्जय ! योग में स्थित हुआ सङ्ग (फल में लगाव) को त्यागकर, सिद्धि असिद्धि में सम (हर्ष विषाद से शून्य) होकर कर्मों को कर, यह (जो सिद्धि, असिद्धि में) समता (है यही) योग* कहलाती है।

संगति-योग में बुद्धि निश्चयात्मिका होती है, यह कहकर समता ही योग है, यह निर्णय करके, अब इस योग की काम्य कर्म से श्रेष्ठता वर्णन करते हैं। :-

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९

श-(दूरेण, हि, अवरं, कर्म) दूर अत्यन्त छोटा कर्म (बुद्धि-योगात, धनञ्जय) बुद्धि योग से हे धनञ्जय (बुद्धौ, शरणं, अन्विच्छ) बुद्धि में शरण ढूंढ (कृपणाः, फल-हेतवः) कृपण+हैं+फल जिनका प्रेरक।

---

* चित्त का विक्षिप्त न होना ही योग है। जब चित्त सिद्धि असिद्धि में सम है, तो विक्षेप कैसा। इसी योग में स्थिति 'योगस्थ' शब्द से कही है।

अ–हे धनञ्जय (काम्य-) कर्म बुद्धियोग * से अति दूर छोटा है, (सो) तू बुद्धि में शरण (पनाह) ढूंढ, फल जिनका प्रेरक है वह कृपण † हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।

श–(बुद्धि-युक्तः, जहाति, इह) बुद्धि से युक्त हुआ त्यागता है यहां (उभे, सुकृत-दुष्कृते) दोनों पुण्य और पाप (तस्मात्, योगाय, युंज्यस्व) इसलिये योग के लिये युक्त हो (योगः, कर्मसु, कौशलं) योग कर्मों में निपुणता।

अ–(निश्चयात्मिक) बुद्धि से युक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को यहां छोड़ देता है ‡ इसलिये तू योग के लिये युक्त हो, योग कर्मों में निपुणता है।

---

* कर्मयोग में एक निश्चयवाली बुद्धि होती है (देखो पूर्व २।४१) इसलिये उसको बुद्धियोग कहा है। अथवा पूर्वोक्त समता की बुद्धि से अभिप्राय है अर्थात् समताकी बुद्धि से युक्त कर्म से काम्य कर्म अति दूर नीचे है॥

† कृपण, कृपा के पात्र, अर्थात् उन पर तर्स आता है, जो परमात्मा को लक्ष्य न बनाकर क्षुद्र कामनाओं को ही लक्ष्य बनाते हैं "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः" जो पुरुष हे गार्गि! इस अविनाशी को जाने विना इस लोक से चल बसता है, वह कृपण है (उस पर दया आती है)।

‡ (प्रश्न) माना कि बुद्धियुक्त होकर कर्म के अनुष्ठान से पाप दूर होजाय, क्योंकि श्रुति कहती है। "धर्मेण पापमपनुदति"=धर्म से पाप को दूर करता है (तैत्ति० आ० १०। ६३। ७)

संगति—तुच्छ फल के त्याग से मोक्ष फल की प्राप्ति कहते हैं:—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।

श—(कर्म-जं) कर्म जन्य (बुद्धि-युक्ताः) बुद्धि से युक्त (हि) (फलं-त्यक्त्वा, मनीषिणः) फल को त्यागकर विवेकी (जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः) जन्म के बन्धन से निर्मुक्त हुए (पदं, गच्छन्ति, अना-मयं) पद को प्राप्त होते हैं निरुपद्रव।

श—(निश्चियात्मिक) बुद्धि से युक्त विवेकी पुरुष कर्मजन्य (अन्तवाले तुच्छ) फल को त्यागकर, जन्म के बन्धन से निर्मुक्त (आज़ाद) हुए निरुपद्रव (सर्वतः शान्त) पद (स्थान) को प्राप्त होते हैं।

संगति—कब मैं इस योग को प्राप्त हूंगा, अर्जुन की इस आकांक्षा का उत्तर देते हैं:—

पर पुण्य किस तरह दूर हो, क्योंकि पुण्य पुण्य का विरोधी नहीं होता (उत्तर) अन्तःकरण की शुद्धि से ज्ञान की उत्पत्ति द्वारा पुण्य को त्यागता है, यह प्राचीन आचार्य कहते हैं, और नवीन यह कहते हैं, कि पाप का त्याग तो पूर्वोक्त रीति से ही होता है, पर फल के त्याग से पुण्यका त्यागभी कर्मयोगीके लिये होताहै, क्योंकि पुण्यभी उसके मोक्ष का प्रतिबन्धक नहीं होता (नीलकण्ठ) वस्तुतस्तु कर्मयोगी को फलकी आकांक्षा न होने से उसका कर्म स्वाभाविक होता है, नकि पुण्यबुद्धि से, इसलिये वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता। इसी अभिप्राय से आगे कहा है 'योग कर्मों में निपुणता है' निपुणता यही है, कि कर्म करते हुए भी न करना, और यह इस तरह ठीक है, कि उसको फल की आकांक्षा नहीं होती, इसलिये बन्धक भी कर्म उसका बन्धक नहीं होता।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ५२

श–(यदा, ते, मोह-कलिलं, बुद्धिः, व्यतितरिष्यति) जब तेरी मोह जंजाल को बुद्धि तर जाएगी (तदा, गन्तासि, निर्वेदं, श्रोतव्यस्य, श्रुतस्य, च) तब प्राप्त होगा वैराग्य को सुनने योग्य और सुने हुए के ।

अ–जब (उक्त प्रकार से कर्म करते हुए की) तेरी बुद्धि मोह की उलझन से पार होजाएगी, तब तू सुने हुए और सुनने योग्य दोनों से वैराग्य को प्राप्त होगा ।

भाष्य–मोह=अविवेक, देहादि में आत्मभ्रान्ति, इस मोह से आगे फिर पुत्रादि में, एवं अपने तथा पुत्रादि के अनुकूल वस्तुओं में, मोह होता है, इस प्रकार यह मोह आत्मा को अपने स्वरूप से हटाकर अपनी ही उलझनों में उलझाए रखता है । सो हे अर्जुन! जब तू मोह की इन उलझनों से पार हो जाएगा, तब तेरी निर्मल बुद्धि आप ही ऐसा शीशा बन जाएगी, कि फिर तुझे न आगे सुनने की जरूरत रहेगी, न पिछले सुने हुए की जरूरत रहेगी, क्योंकि शास्त्रों में सार वस्तु आत्मतत्त्व है, वह तेरे हाथ आजाएगी, उसके पाने के लिये न सुनने के जरूरत न सुने हुए के स्मारण की जरूरत होगी । वेदोंका परमतात्पर्य परमात्म का जानना ही तो है जैसा कि **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'** (ऋग् १ । १६४ । ३९) इस ऋचा में स्पष्ट कहा है, सो जब वह जान लिया, तो फिर उसके पाठ से कोई प्रयोजन नहीं है, नदी से पार होजाने पर नौका से कोई प्रयोजन नहीं रहता । इसी उक्त ऋचा का आश्रय लेकर ब्राह्मण भी

सावित्राग्नि विद्या के जानने वाले के विषय में कहता है 'नहवा एतस्यर्चा न यजुषा न साम्नाऽर्थोऽस्ति, यः सावित्रं वेद' (तैत्ति० ब्रा० । ३ । १०।९) न इसको ऋचा से, न यजु से, न साम से, प्रयोजन है, जो सवित्र को जानता है (भागवत ४ । २९ । ४६) श्लोकभी इसी अभिप्राय को लिये हुए हैं) ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ५३

श–(श्रुति–विप्रतिपन्ना) श्रुति से भुलाई हुई (ते) तेरी (यदा स्थास्यति, निश्चला) जब ठहरेगी अडोल होकर (समाधौ, अचला, बुद्धिः) समाधि में अचल बुद्धि (तदा, योगं, अवाप्स्यसि) तब योग को प्राप्त होगा।

अ–(इससे पहले फलवाद की) श्रुति से भुलाई (जा) तेरी बुद्धि (है वह) जब अडोल होकर समाधि* में गड़कर ठहरेगी, तब तू योग† को प्राप्त होगा ॥

संगति–बुद्धि की अचल स्थिति में परमात्मा का साक्षात्कार रूप योग कहा है, अब स्थिर बुद्धिवाले का लक्षण आदि पूछता है ॥

अर्जुन उवाच=अर्जुन पूछता भया ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव
स्थितधीः किंप्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ५४

---

*समाधि=एकाग्रता (परमात्मा में)। समाधि=परमेश्वर (श्री श्रीधर)।

† योग=मेल (परमात्मा से)। कर्म में ईश्वरेच्छा के साथ अभेद योग है ॥

श—(स्थित—प्रज्ञस्य, का, भाषा, समाधि—स्थस्य, केशव) स्थिर बुद्धि वाले का क्या लक्षण समाधि में स्थित का हे केशव ! (स्थितधीः किं,प्रभाषेत,किं, आसीत,व्रजेत,किं) स्थिर बुद्धि वाला कैसे बोलता है कैसे ठहरता है, कैसे चलता है (विचरता है ।

अ—हे केशव ! (पूर्वोक्त प्रकार से) जो समाधिनिष्ठ स्थिर बुद्धिवाला है, उसका क्या लक्षण (निशान) होता है, स्थिर बुद्धि वाला पुरुष कैसे बोलता है, कैसे ठहरता है, कैसे चलता है ?

श्री भगवानुवाच=श्री भगवान् उत्तर देतेभए ।

प्रजहातियदा कामान्सर्वान्पार्थमनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मनातुष्टःस्थितप्रज्ञस्तदोच्यते५६

श—(प्र—जहाति, यदा, कामान् सर्वान्, पार्थ, मनः-गतान्) बिल्कुल त्याग देता है जब कामनाओं को सारी हे पार्थ! मनमें होने वाली (आत्मनि, एव, आत्मना, तुष्टः) आत्मा में ही आत्मा से तृप्त (स्थित—प्रज्ञः,तदा,उच्यते) स्थिर बुद्धि वाला तब कहलाता है ॥

अ—*हे पार्थ ! जब यह मनोगत† सारी कामनाओं को बिल्कुल

---

*पहले स्थिर बुद्धि वाले का लक्षण कहते हैं । यहां जो स्थिर-बुद्धि वाले के लक्षण कहेंगे, वही मन की स्थिति के साधन हैं । सर्वत्र अध्यात्म शास्त्र में जो कृतार्थ के लक्षण हैं, वही साधक के लिये साधन हैं, क्योंकि उसके लिये वह यत्नसाध्य होते हैं, और जो साधक के साधन हैं वही कृतार्थ के लक्षण होते हैं, क्योंकि कृतार्थ में वह स्वाभाविक होते हैं ।

†विषय कामनाएं सारी मनोगत ही होती हैं,न कि आत्मगत । यदि आत्मगत होतीं, तो स्वाभाविक होने से कभी त्यागी न जा सकतीं ।

त्याग देता है, आत्मा में ही आत्मा से* तृप्त रहता है, तब यह स्थिर बुद्धि वाला कहाजाता है॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते५६॥

श–(दुःखेषु, अनुद्विग्न–मनाः) दुःखों में न घबराए हुए मन वाला (सुखेषु, विगत–स्पृहः) सुखों में दूर हुई तृष्णा वाला (वीत–राग–भय क्रोधः) दूर होगए हैं राग भय और क्रोध जिस से (स्थित–धीः, मुनिः, उच्यते) स्थिर बुद्धिवाला मुनि कहलाता है ॥

अ–दुःखों में जिसका मन घबराता नहीं, सुखों में जिसको तृष्णा नहीं, जो राग, भय और क्रोध से अलग (आज़ाद) है, वह स्थितर बुद्धि वाला मुनि† कहलाता है ‡॥

संगति–'कैसे बोलता है' का उत्तर देते हैं :—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति नद्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता५७

श (यः, सर्वत्र, अनभिस्नेहः) जो सब में स्नेह रहित (तत्, तत्, प्राप्य, शुभ-अशुभं) उस २ प्राप्त होकर शुभ अशुभ को (न,

---

*आत्मा में ही,न कि तुच्छ विषयों में। आत्मा से,नकि वाहर के लाभ से 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' (मुण्ड ३। १। ४)।

†मुनि=मौनव्रती, सन्त महात्मा।

‡ बलदेव, मधुसूदन और विश्वनाथ ने इस श्लोक को "किं प्रभाषेत' =कैसे वोलता है"के उत्तर के तौर पर व्याख्यात किया है। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि 'उच्यते' कहाजाता है, इस पद से श्लोक का तात्पर्य लक्षण कहनेमें स्पष्ट है जो कि "का भाषा"=क्या बोला जाता है' से पूछा है।

अभिनन्दति, न, द्वेष्टि) न नपसन्द करता है, न नापसन्द करता है, (तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता) उसकी बुद्धि स्थिर है।

अ–जो सब में स्नेह रहित हुआ उस २ शुभ अशुभ को पाकर न पसन्द करता है न नापसन्द करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

भाष्य–स्नेह=प्रेम, लगाव। आत्मभिन्न जो देह पुत्र धनआदि हैं, उन में लगाव, इस लगाव से पुरुष इनकी हानि वृद्धि को अपने में आरोप कर लेता है, जो पुरुष इन सब में लगाव से रहित है, अतएव उस २ शुभाशुभ अर्थात् अनुकूल प्रतिकूल=सुख के हेतु वा दुःख के हेतु-को पाकर, न पसन्द करता है, न नापसन्द करता है=न उसकी प्रशंसा करता है, न निन्दा करता है, स्तुतिनिन्दारूप वाणी को नहीं बोलता है, किन्तु उदासीन की नाई बोलता है, उसका मन टिका हुआ है।

संगति–'कैसे ठहरता है' का उत्तर देते हैं :—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता

श–(यदा, संहरते, च, अयं) और जब खींचलेता है यह (कूर्मः, अङ्गानि, इव, सर्वशः) कछुवा अंगों को जैसे सब ओर से (इन्द्रियाणि, इन्द्रिय-अर्थेभ्यः) इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से (तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता) उसकी बुद्धि स्थिर है।

अ–जब यह (कर्मयोगी) इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से सब ओर से खींचलेता है, जैसे कछुवा अपने अंगों को * (अपने अन्दर खींचलेता है) तब उसका मन टिका हुआ होता है।

---

* इन्द्रिय भी पांच हैं, कछुआ भी अपने चारों पाओं और सुख इन पांच अंगों को अन्दर खींचलेता है, जब कोई उसे भय हो।

संगति-(प्रश्न) इन्द्रियों की विषयों में अप्रवृत्ति ही स्थितप्रज्ञ का लक्षण नहीं होसक्ती, क्योंकि विषयों में अप्रवृत्ति तो रोगी आदि की भी वैसी ही होती है, उस पर कहते हैं :—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९

श-(विषयाः, विनिवर्तन्ते) विषय निवृत्त होजाते हैं (निर्-आराहस्य, देहिनः) निराहार देही के (रस-वर्ज) रसको छोड़कर (रसः, अपि, अस्य, परं, दृष्ट्वा, निवर्तते) रस भी इसका पर को देख कर निवृत्त होता है ।

अ—निराहार देही के विषय निवृत्त होजाते हैं, पर राग को छोड़कर (अर्थात् राग निवृत्त नहीं होता) राग भी इसका परमात्मा को देखकर निवृत्त होता है ।

भाष्य—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह पांच विषय इन्द्रियों का आहार हैं, इस आहार से रहित यहां निराहार अभिमेत है । घोर तप में स्थित हुए वा उपवास व्रत करते हुए के भी विषय निवृत्त होजाते हैं, पर विषयों में जो रस (सूक्ष्म राग) है,वह इससे निवृत्त नहीं होता । अतएव यह निवृत्ति ऐसी ही है जैसे रोगी की । यह जो राग है वह परमात्मा को साक्षात् करने से ही निवृत्त होता है ।

संगति—इन्द्रिय-संयम के बिना स्थितप्रज्ञता सिद्ध नहीं होती, और इन्द्रियसंयम सामान्ययत्न से सिद्ध नहीं होता, इसलिये इस में महान् यत्न करना चाहिये, यह कहते हैं :—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ६०

श–(यततः, हि, अपि, कौन्तेय, पुरुषस्य, विपश्चितः) यत्न करते हुए के भी हे कुन्ती के पुत्र! पुरुष बुद्धिमान् के (इन्द्रियाणि, प्रमाथीनि, हरन्ति, प्रसभं, मनः) इन्द्रिय धक्के खोर हरलेते हैं धक्के से मन को।

अ–हे कौन्तेय! बुद्धिमान्*पुरुष के यत्न करते हुए भी † यह धक्के खोर (तूफानी) इन्द्रिय धक्के से मनको हर लेजाते हैं (विषयों में झुका देते हैं)।

भाष्य–जैसे प्रबल डाकु मालिक के देखते हुए धक्के से धन लूट लेजाते हैं, इसी तरह धक्के खोर इन्द्रिय धक्के से मन को विषयों में झुका देते हैं।

संगति–इन्द्रियों को वस में करके क्या करना चाहिये :—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता६१

श–(तानि, सर्वाणि, संयम्य) उन सबको बस में करके (युक्तः, आसीत, मत्-परः) एकाग्र होकर ठहरे मेरे परायण हुआ (वशे, हि, यस्य, इन्द्रियाणि) बस में क्योंकि जिसके इन्द्रिय (तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठता) उसकी बुद्धि स्थिर है।

अ–उन सब (इन्द्रियों) को बस में करके एकाग्र होकर मेरे परायण हुआ ठहरे, क्योंकि इन्द्रियां जिसके बस में है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

---

* बुद्धिमान्=समझ वाला, शास्त्र और आचार्य के उपदेशवाला विषयों के दोषों का जानने वाला।

† बार २ विषयों के दोष देखना ही यत्न है।

भाष्य–' मत्परायणः '=मेरे परायण हुआ=मुझ में अनन्य भक्ति वाला हुआ। (प्रश्न) यहां पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को परमात्मा के स्थान अपनी भक्ति का उपदेश कैसे किया है ? (उत्तर) उपासक को चाहिये, कि अपने उपास्य के रंग में ऐसा रंगा हुआ हो, कि दुई सर्वथा जाती रहे, जैसाकि ऐतरेयी पढ़ते हैं "तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं "=सो जो मैं हूं, वह वह है, जो वह है, वह मैं हूं' इसी प्रकार जाबाल पढ़ते हैं " त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वै त्वमसि "=हे भगवन् ! देव ! तू मैं हूं, मैं तू है'। वास्तव में वह प्रेम ही क्या, जिसमें दुई बनी रहे। अतएव परमात्मा पर जो आसक्त(आशिक) है, वह भूल जाता है, अपने आपको उसके प्रेम में, पर नहीं भूलता है, उस प्रियतम को कभी भी, इसलिये अपने सद्भाव (हस्ती) को उस महती सत्ता में निमग्न करके कहता है " अहं ब्रह्मास्मि " (बृह० १। ४। १०) इसी दृष्टि से श्रीकृष्ण का यह उपदेश है, यह दृष्टि शास्त्रदृष्टि है। " शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् "(वेदान्त१।१।३०)शास्त्र कीदृष्टि से उपदेश है वामदेव की नाईं। अर्थात 'तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चेति'=यह देखते हुए ऋषि वामदेव ने स्वीकार किया ' मैं मनु हुआ हूं, मैं सूर्य'(बृह०१।४।१०) वामदेव की नाईं ही इन्द्र ने राजा प्रतर्दन को शास्त्र की दृष्टि से यह उपदेश किया है " मामुपास्व "=मेरी उपासना कर (कौषी० ३। ३। २) " मामेव विजानीहि "=मुझे ही जान (३। ९) इत्यादि। पर ऐसा कहने का अधिकार उसी को है, जो उस प्रियतम

को साक्षात् देख रहा है अतएव कहा है 'देखते हुए ऋषि वामदेव ने *'।

---

* यह शास्त्र दृष्टि श्रीशंकराचार्य के अनुसार अपने आपको परमात्मा जानना है, अर्थात् "अहं ब्रह्मास्मि" इस शास्त्रदृष्टि के अनुसार "मैं ही परब्रह्म हूं" यह जानते हुए ने अपने आपको परमात्मत्वेन उपदेश किया हैं (देखो वेदान्त १ । १ । ३० का शांकर भाष्य) इसी सूत्र के भाष्य में श्री रामानुज का यह आशय है, कि "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः" = जो आत्मा में स्थित होकर आत्मा से अलग है, (शतपथ) इत्यादि शास्त्र से परमात्मा को अपने आत्मा का आत्मा जानकर'अहं'इत्यादि जीव वाचक शब्दों का परम अर्थ परमात्माको ही जानकर ऐसा कहा गया है, क्योंकि जीव शरीरमात्र है,परमात्मा उसका आत्मा है,आत्मा का वाचक'अहं'शब्द परमार्थ में आत्मा के भी आत्मा(परमात्मा)पर जा ठहरता है।द्वैतवादी श्रीमाध्व ने इस सूत्र में शास्त्र का अर्थ शासन करने वाला अर्थात् अन्तर्यामी लिया है, और शास्त्रदृष्टि से=अन्तर्यामी की दृष्टि से अर्थात् उसको अपना अन्तर्यामी देखते हुए 'अहं' इत्यादि शब्दों से उसी को कहा है। श्री जीव ने यह कहा है, अपने आपको परमेश्वर की नाईं उपदेश 'तत्त्वमसि' इत्यादि अभेद प्रतिपादक शास्त्र की दृष्टि से बनसक्ता है, अभेद का तात्पर्य यह है, कि दोनों चेतन हैं। वेदान्तस्यमन्तक में श्री बलदेवनेकहाहै 'अस्मत्'शब्द का अर्थ परमात्मा जाननाचाहिये,क्योंकि'अहमात्मा गुडाकेश' (गीता १०। २०) इत्यादि में आत्मा और अहं के अर्थका अभेद बतलाया हैं, 'ब्रह्माविर्भावेषु भेदग्राही निन्द्यते' ब्रह्म के जो आविर्भाव (ज़हूर) हैं, उन में भेद ग्राही निन्दा किया जाता है।

"प्रायः इस शास्त्र में 'अहं, मम, मयि' इत्यादि शब्दों से और ब्रह्म शब्द से अन्तर्यामी का ग्रहण आचार्य को अभिप्रेत है, क्योंकि

संगति—बाह्य इन्द्रियों को रोक कर भी मन को रोके बिना सिद्धि नहीं होती, क्योंकि :—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धि नाशात्प्रणश्यति

श—(ध्यायतः, विषयान्, पुंसः) चिन्तन करते हुए विषयों, को पुरुष का (संगः, तेषु, उपजायते) लगाव उन में होजाता है (संगात्, संजायते, कामः) संग से उत्पन्न होता है काम (कामात् क्रोधः, अभिजायते) काम से क्रोध उत्पन्न होता है । ६२ । (क्रोधात् भवति, संमोहः) क्रोध से होता है संमोह (संमोहात्, स्मृति-विभ्रमः) संमोह से स्मृति का भूलना (स्मृति-भ्रंशात्, बुद्धि-नाशः) स्मृति के नाश से बुद्धि का नाश (बुद्धि-नाशात्, प्रणश्यति) बुद्धि के नाश से नष्ट होता है ॥ ६३ ॥

अ—विषयों का चिन्तन करते हुए पुरुष का उन (विषयों) में लगाव (प्रीति) होजाता है, लगाव से (उनकी प्राप्ति की) कामना

अन्तर्यामी के साथ अभिन्नभाव से स्थिति में योग (परमात्म के साथ मेल) की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। और योग (मेल) दो में ही होता है इसलिये वस्तुतः दोही हैं, (सम्पादक)।

उत्पन्न होती है, कामना से क्रोध*उत्पन्न होता है,क्रोध से संमोह†, संमोह से स्मृति का नाश†, स्मृति के नाश से बुद्धि का नाश†,और बुद्धि के नाश से वह आप नष्ट होजाता है† ।

संगति–विषयों के ध्यान से अनर्थ की उत्पत्ति कहकर अब मोक्ष का कारण कहते हैं ।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ६४
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५

श–(राग-द्वेष-वियुक्तैः, तु) राग द्वेष से रहित तो (विषयान्, इन्द्रियैः, चरन्) विषयों को इन्द्रियों से भोगता हुआ (आत्म-वश्यैः, विधेय-आत्मा) अपने वस में वर्तने वालों से वशवर्ती मन वाला (प्रसादं, अधिगच्छति) प्रसन्नता को प्राप्त होता है ॥६४॥ (प्रसादे, सर्व-दुःखानां, हानिः, अस्य, उपजायते) प्रसन्नता में सारे दुःखों की हानि इसके होती है (प्रसन्नता-चेतसः, हि, आशु) प्रसन्न चित्त वाले

---

* कामना उत्पन्न होजाए, और काम्य विषय न मिले, तो उस के रोकने वाले पर वा यूँही आस पास के लोगों पर क्रोध उत्पन्न होता है ।

† संमोह=अविवेक, अविचार । क्रोध में कार्य अकार्य का विचार नहीं रहता, क्रुद्ध हुआ पुरुष माता पिता और गुरु को भी झिड़क देता है । स्मृति का नाश, अर्थात् ऐसी अवस्था में शास्त्र और आचार्य के उपदेश भूलजाते हैं । बुद्धि का नाश अर्थात् मन कार्य अकार्य को निखेरने के योग्य ही नहीं रहता । बुद्धि के नाश से नष्ट होजाता है=पुरुष तबतक ही पुरुष है, जबतक उसका मन कार्य अकार्य की विवेचना के योग्य है, इस योग्यता के दूर होजाने से वह पुरुषार्थ (अपनी भलाई) के योग्य नहीं रहता ।

की निःसंन्देह जल्दी (बुद्धिः, पर्यवतिष्ठते) बुद्धि पूरी स्थिर होजाती है।

अ–रागद्वेष (प्रेम और घृणा) से रहित (अतएव) अपने बस में वर्तने वाले इन्द्रियों से विषयों को भोगता हुआ * अपने वशवर्ती मन वाला पुरुष प्रसन्नता (निर्मलता, चित्त की सफाई, शान्ति) को प्राप्त होता है, प्रसन्नता में इसके सारे दुःखों की हानि होजाती है, और प्रसन्न मन वाले की बुद्धि जल्दी ही पूरी स्थिर होजाती है।

संगति–इन्द्रिय संयम ही स्थितप्रज्ञता का साधन है, यह व्यतिरेकमुख से सिद्ध करते हैं :—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
नचाभावयतः शान्तिरशान्तस्यकुतः सुखम्

श–(न, अस्ति, बुद्धिः, अयुक्तस्य) नहीं है बुद्धि अयुक्त की (न, च, अयुक्तस्य, भावना) और न अयुक्त का ध्यान (न, च, अभावयतः, शान्तिः) और न ध्यान रहित को शान्ति (अ-शान्तस्य, कुतः, सुखं) शान्ति रहित को सुख कहां।

अ–जो अयुक्त है उसको बुद्धि होती ही नहीं है(बुद्धि की स्थिति की बात तो दूर है) न ही अयुक्त को ध्यान होता है,ध्यान रहित को शान्ति नहीं होती, शान्ति रहित को सुख कहां?

भाष्य–जो अयुक्त है, जिसका मन एकाग्र नहीं, इत उत विषयों में दौड़ रहा है, उसको शास्त्र और आचार्यों के उपदेश सुनकर भी

---

* इसमें "कैसे चलताहै"का उत्तर देदिया है। अर्थात् इन्द्रियों को अपने बस में रखकर विषयों में विचरता है। यही विवेकी और अविवेकी का भेद है। अविवेकी इन्द्रियों का दास होजाता है, पर विवेकी विषयों को भोगता हुआ इन्द्रियों को अपना दास रखता है।

आत्मा के विषय में बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती,उसकी स्थिति की तो बात ही क्या। और न ही उसका ध्यान जमता है,जब तक ध्यान न जमे, शान्ति=विषयतृष्णा की निवृत्ति, नहीं होती, विषयतृष्णा की निवृत्ति हुए बिना आत्मानन्द कहां ?

संगति-फिर भी, उक्त प्रकार से इन्द्रियों को न रोकने वाले के लिये अनर्थ (हानि) बतलाते हैं :—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७

श-(इन्द्रियाणां, हि, चरतां) इन्द्रियों के विचरते हुए (यत्, मनः, अनुविधीयते) जब मन पीछे लगायाजाता है (तत्, अस्य, हरति, प्रज्ञां) वह इसकी हरलेजाता है बुद्धि (वायुः, नावं, इव, अम्भसि) वायु नौका को जैसे जल में।

अ-इस प्रकार घूमते हुए इन्द्रियों के पीछे ज्यों ही मन लगाया जाता है, वह इसकी बुद्धि को (आत्मा से हटाकर विषयों की ओर) खींच लेजाता है, जैसे वायु (तूफान) जल (समुद्र) में नौका को (खींच लेजाता है)।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

श-(तस्मात्, यस्य, महा-बाहो) इसलिये जिसकी हे महाबाहो (निगृहीतानि, सर्वशः) रुकी हुई हैं सब ओर से (इन्द्रियाणि, इन्द्रिय-अर्थेभ्यः) इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों से (तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता) उसकी बुद्धि पूरी स्थिर है।

अ—इसलिये हे महाबाहो*जिसकी इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों से सब ओर से रुकी हुई हैं, उसकी बुद्धि पूरी स्थिर है।

संगति—मन और इन्द्रियों को अपने वस में किये हुए पुरुष की सिद्धि कहते हैं :—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः

श—(या, निशा, सर्व-भूतानां) जो रात सब भूतों की (तस्यां, जागर्ति, संयमी) उसमें जागता है संयमी (यस्यां, जाग्रति, भूतानि) जिस में जागते हैं भूत (सा, निशा, पश्यतः, मुनेः) वह रात देखते हुए मुनि की।

अ—जो सब भूतों के लिये रात है,संयमी उसमें जागता है, जिस में (अन्य सब) भूत जागते हैं, देखते हुए मुनि के लिये वह रात है।

भाष्य—संयमी जिस तत्त्व (आत्मतत्त्व) की ओर जागता है, साधारण लोग उस ओर से बेखबर सोए हुए हैं, और जिन तुच्छ कामनाओं की ओर साधारण लोग जागे हुए हैं, तत्त्वदर्शी मुनि उस तर्फ से बेखबर सोया हुआ है।

संगति—इन्द्रियों को विषयों से रोककर आत्मा में स्थिति वाला हो, यह कहा है। सो क्या यह सारे व्यवहारों से हटाने के लिये कहा है, अथवा इससे यह अभिप्राय है, कि विषयों में आसक्ति से रहित हुआ सदा एकरस रहे, इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं:—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं,

---

* महाबाहो ! बड़ी भुजावाले=वैरियों को रोकने में समर्थ। ऐसे तुझ का इन्द्रियों के रोकने में भी सामर्थ्य होना चाहिये।

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वें,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।

श-(आपूर्यमाणं, अचल-प्रतिष्ठं,समुद्रं) चारों ओर से भरे हुए निश्चल स्थिति वाले समुद्र में (आपः, प्रविशन्ति, यद्वत्) जल प्रवेश करते हैं जिसतरह (तद्वत्, कामाः, यं, प्रविशन्ति, सर्वें) उस तरह कामनायें जिसमें प्रवेश करती हैं सारी (सः, शान्ति, आप्नोति) वह शान्ति को प्राप्त होता है (न, काम-कामी) न कामनाओं का चाहने वाला ।

अ-(पानी से) चारों ओर से भरे हुए और निश्चल स्थिति वाले (मर्य्यादा में कायम) समुद्र में जिस प्रकार जल प्रवेश करते हैं, इसप्रकार जिसमें सारी कामनाएं प्रवेश करती हैं, वह शान्ति को प्राप्त होता है, न कि कामनाओं का चाहने वाला ।

भाष्य-समुद्र अपने आप में पूर्ण है, नदियाँ अपने आप उस की तर्फ बहती हैं,उनकेआमिलने से समुद्र में कोई विशेषता नहीं होती, वह वैसे का वैसा है, इसप्रकार जो अपने आप में तृप्त है,और जिसकी ओर कामनाएं अपने आप बहती हैं, पर उसमें कोई विकार नहीं लासक्तीं, वह उन कामनाओं को भोगता हुआ भी शान्ति को प्राप्त होता है, पर जिसको इनकी चाह रहती है, वह शान्त नहीं रहता ।

संगति-जिसलिये ऐसा है इसलिये :-

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमाँश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममोनिरहङ्कारःसशान्तिमधिगच्छति ॥
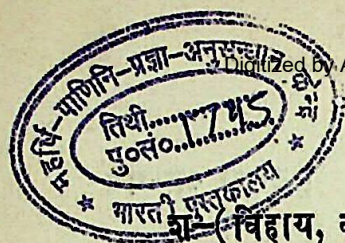
श-(विहाय, कामान्, यः, सर्वान्) छोड़कर कामनाओं को जो सारी (पुमान्, चरति, निः-स्पृहः) पुरुष विचरता है इच्छा रहित (निर्-ममः, निर्-अहंकारः) ममता रहित अहंकार रहित (सः, शान्तिं, अधिगच्छति) वह शान्ति को प्राप्त होता है।

अ-जो पुरुष सारी कामनाओं को छोड़कर इच्छा, ममता और अहङ्कार से रहित होकर विचरता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है।

भाष्य-जो पास नहीं, उसकी चाह नहीं, जो है, उसमें ममता नहीं, क्योंकि ममता जिस (शरीर) के लिये होती है, उसमें अहङ्कार नहीं। यह "कैसे चलता है" का उत्तर है।

संगति-स्थितप्रज्ञता की स्तुति करते हुए उपसंहार करते हैं।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति

श-(एषा, ब्राह्मी, स्थितिः, पार्थ) यह ब्राह्मी स्थिति है हे पार्थ (न, एनां, प्राप्य, विमुह्यति) नहीं इसको पाकर भूलता है (स्थित्वा, अस्यां, अन्तकाले, अपि) स्थित होकर इसमें अन्तकाल में भी (ब्रह्म, निर्वाणं, ऋच्छति) ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है।

अ-यह ब्राह्मी * स्थिति है, हे पार्थ, इसको पाकर फिर नहीं

---

* ब्राह्मी=ब्रह्म में होने वाली अर्थात् ब्रह्मरूप से स्थिति (श्री शंकर) ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली (श्री रामानुज) ब्रह्म विषयक (श्री मधुसूदन) "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है, इस श्रुति से ब्रह्मवेत्ता ही यहां ब्रह्म शब्द से अभिप्रेत है। उसकी यह स्थिति ब्राह्मी स्थिति है (श्री नीलकण्ठ) 'वस्तुतस्तु जैसे ब्रह्म निर्लेप होकर इस जगत् को रचता पालता और संहार करता है और जीवों के अपने २ कर्मानुसार किसी को घटाता, किसी को बढ़ाता हुआ भी स्वयं निर्लेप रहता है, यह कर्म उसमें

भूलता है, अन्तकाल में भी †इस में स्थित होकर ब्रह्म निर्वाण* को प्राप्त होता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीत० सांख्य योगो नाम द्वितीयो अध्यायः।

कोई विकार नहीं लाते, वा यह सब कुछ करता हुआ भी अपने चैतन्य स्वरूप में एकरस निर्विकार रहता है, इस स्थिति का नाम ब्राह्मी स्थिति है। कर्मयोगी भी इसीप्रकार अपने कर्मयोग को करता हुआ भी अपने चैतन्य स्वरूप में एकरस निर्विकार रहता है उसकी यह इसप्रकार की स्थिति ब्राह्मी स्थिति कहलाती है "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"—ब्रह्म हो हुआ ब्रह्म में लीन होता है। यह श्रुति भी इसी आशय को प्रकट करती है और "समाधि सुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता"=समाधि सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्मरूपता होती है। (५। ११६) यह सांख्यसूत्र भी इसी अभिप्राय से कहा गया है। हां ब्रह्मकीयह स्थिति स्वतःसिद्ध है, पर जीव इसको प्रयत्न से लाभ करता है अतएव कहा है "इसको पाकर" (सम्पादक)

† मृत्यु समय में भी इस स्थिति में स्थित हुआ जब ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त होता है, तब यह क्या कहना है, कि जो कुछ देर से अथवा बाल्यकाल से ही उसमें स्थित हुआ है वह ब्रह्म को प्राप्त होता है।

* ब्रह्म निर्वाण—ब्रह्मनिर्वृति—ब्रह्ममें आराम—मोक्ष (श्रीशंकराचार्य्य) निर्वाण ब्रह्म—सुखस्वरूप ब्रह्म (यामुनाचार्य्य) ब्रह्म में निर्वाण=ब्रह्म में लीन होना "ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति" ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म में लीन होता है (बृह० ४।४।६) ब्रह्मानन्द में मग्न होना ब्रह्म में लीन होना है (सम्पादक)।

"इस अध्याय में नित्यात्मा विषयक सांख्य बुद्धि और आत्म ज्ञान पूर्वक असंग होकर कर्मों का अनुष्ठानरूप कर्मयोगबुद्धि और योग का साधनभूत स्थितप्रज्ञता प्रतिपादन की है"।

तृतीय-अध्याय (कर्मयोग)

अर्जुनउवाच-अर्जुन बोला।

संगति-पिछले अध्याय में 'अशोच्यानन्व शोचस्त्वं' (२।११) इत्यादि से पहले आत्मा का ज्ञान कहा, उसके पीछे 'एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमांश्रृणु (२।३९) इत्यादि से कर्म कहा। पर इन में कौन गौण कौन मुख्य है यह स्पष्ट नहीं कहा। तथापि स्थितप्रज्ञ की प्रशंसा करते हुए उसको निष्काम निर्मम निरहङ्कार बतलाने से और 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' इस प्रकार प्रशंसा सहित ज्ञान में ही उपसंहार (ख़ातिमा) करने से अर्जुन को यह सम्भावना हुई है, कि श्रीकृष्ण कर्म से ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, तथापि मुझे कर्म में ही लगाते हैं, मन में यह सम्भावना करके सखा होने के हेतु उपालम्भ देकर पूछता है :—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव १॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् २॥

श-(ज्यायसी, चेत् कर्मणः, ते, मता बुद्धिः, जनार्दन) श्रेष्ठ यदि कर्म से तुझे मानागया है ज्ञान हे जनार्दन (तत्, किं, कर्मणि घोरे, मां, नियोजयसि, केशव) तौ क्यों कर्म भयङ्कर में मुझे लगाता है हे केशव ॥ १ ॥ (व्यामिश्रेण, इव, वाक्येन) मिले जुले हुए जैसे वाक्य से (बुद्धिं, मोहयसि, इव, मे) बुद्धि को भ्रमाता है मानों मेरी (तत्, एकं, वद, निश्चित्य) वह एक कहो निश्चय करके (येन,

श्रेयः, अहं, आप्नुयां) जिस से कल्याण को मैं प्राप्त होउं ॥ २ ॥

अर्थ- हेजनार्दन ! यदि कर्म की अपेक्षा ज्ञान तुझ से श्रेष्ठ माना गया है, तौ मुझे क्यों इस भयङ्कर कर्म में लगाते हो । हे केशव ! मिलेजुले जैसे* वाक्य से मेरी बुद्धि को मानो ! भ्रमाते हो * मुझे वह एक (बात) निश्चय करके कहो, जिस से मैं कल्याण को प्राप्त होउं ॥ २ ॥

श्री भगवानुवाच-श्री भगवान् उत्तर देते भए ।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठापुराप्रोक्तामयानघ
ज्ञानयोगेनसांख्यानांकर्मयोगेनयोगिनाम्३ ।

श-(लोके, अस्मिन्) लोक इस में (द्वि-विधा, निष्ठा) दो प्रकार की स्थिति (पुरा, प्रोक्ता, मया, अनघ) पूर्व कही है मैंने हे निष्पाप (ज्ञान-योगेन, सांख्यानां) ज्ञानयोग से सांख्यों की

---

* मिलेजुले=द्व्यर्थक, सन्देह उत्पन्न करने वाले 'दूरेणह्यवरं कर्म बुद्धियोगात्' (२ । ४९) इत्यादि में यह भी ज्ञात होता है कि आप कर्म से हटा कर ज्ञान में प्रेरते हैं, और यह भी कि सकाम कर्म से हटाकर निष्काममें प्रेरते हैं । इसी तरह कभी कर्म की प्रशंसा करते हैं कभी ज्ञान की, इस से तुम्हारा अभि-प्राय समझने में मुझे सन्देह होता है । यहां मिले जुले जैसे, यह जैसे शब्द इस लिये कहा है, कि वस्तुतः तुम्हारा अभिप्राय मुझे सन्देह में डालने का नहीं और नहीं तुम्हारे बचन ऐसे हो सक्ते हैं, मैं ही पूरा न समझ कर स्वयं ही सन्देह में पड़ रहा हूं । सो मुझे निखेर कर कहो 'मानो भ्रमाते हो ' यहां मानो कहने का भी यही अभिप्राय है, कि वास्तव में तुम धोखा नहीं देरहे हो, मुझे ही अपनी अल्प बुद्धि के हेतु धोखा लगरहा है ।

कर्म–योगेन, योगिनां) कर्म योग से योगियों की।

अ–हे निष्पाप ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा (स्थिति) है जैसी मैंने पूर्व कही है, ज्ञान योग से साख्यों की और कर्म योग से योगियों की।

भाष्य–श्री भगवान् कहते हैं इसलोक में दो प्रकार के अधिकारी हैं, एक शमप्रधान और दूसरे कर्मप्रधान। इन अधिकारी भेद से एक ही ब्राह्मीनिष्ठा (ब्रह्मीस्थिति) दो प्रकार की हो जाती है। शमप्रधान तत्त्ववेत्ताओं की ज्ञानयोग से, जिसका वर्णन पूर्वाध्याय में 'प्रजहाति यदा कामान्' २। ५५) इत्यादि से किया है, और जो कर्मप्रधान हैं, उनकी स्थिति कर्मयोग से होती है, जिसका वर्णन पूर्वाध्याय में 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (२। ४७) इत्यादि से किया है। शमप्रधान पुरुष अष्टावक्रादि हुए हैं, और कर्मप्रधान जनकादि। यह निष्ठा परस्पर विरुद्ध नहीं, अपितु एक ही ब्राह्मी स्थिति के दो भेद हैं। अतएव आगे कहेंगे 'एकंसांख्यं च योगं च यःपश्यति स पश्यति (५। ५) ज्ञान योग भी कर्म से विमुख नहीं करता, प्रारम्भ में चाहे ज्ञानयोगी कर्म से विमुख हों भी, पर शीघ्र ही वह भगवान् की प्रेरणा से दुष्कर कर्म साधन में प्रवृत्त हो जाता है। श्री शंकराचार्य ही इस में स्पष्ट उदाहरण हैं, जिन्हों ने लोगों की भलाई के लिये लगातार इतना भारी परिश्रम किया, कि अकाल में ही उनका शरीर पात होगया। हां यह सत्य है, कि ज्ञानयोगी अपनी अवस्था के योग्य कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। एवं कर्मयोगी भी ज्ञान से विमुख नहीं होते, भगवान् को अर्पण करके कर्म करते हुए भगवान् की इच्छा से अभिन्न इच्छा वाले हुए

अपने प्रेरक भगवान् को हृदय में साक्षात करते हैं* अतएव कहा है 'एक मप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्' (५।४)॥

संगति–जो कहा है, यदि कर्म से ज्ञान ऊंचा है, तो मुझे क्यों भयंकर कर्म में प्रेरते हो, इसका उत्तर देते हैं:—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥४॥

श–(न, कर्मणां, अनारम्भात्) न ही कर्मों के आरम्भ न करने से (नैष्–कर्म्यं, पुरुषः,अश्नुते) निष्कर्म भाव को पुरुष प्राप्त होता है (न, च, संन्यसनात्, एव) और न त्याग से ही (सिद्धिं, समधिगच्छति) सिद्धि को प्राप्त होता है ।

अ–कर्मों के आरम्भ न करने से पुरुष निष्कर्म भाव (ज्ञान-निष्ठा, निष्क्रिय आत्म स्वरूप से स्थिति) को प्राप्त नहीं होता है,† ‡और न ही त्यागमात्र से कोई सिद्धि पाता है ।

---

* कर्म योग ज्ञान का साधन भी है, इस लिये यद्यपि कर्म योगी को प्रारम्भ में ही साक्षात् नहीं होने लगता, तथापि कर्म योग ज्ञान योग के सम्मुख अवश्य होता है, विमुख नहीं होता ।

† क्योंकि श्रुति कहती है 'तमेतं वेदानु वचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इस को ब्राह्मण वेद के स्वाध्याय,यज्ञ,दान और विषयों में निवृत्ति रूप तप से जानना चाहते हैं (बृह० ६।४।२२) ।

‡ इस उत्तरार्ध से यह बात झलकती है, कि उस समय के और भी कई लोगों में झूठे संन्यास का ख्याल प्रवृत्त होगया था, जिस से भगवान् ने अनारम्भ से सिद्धि न कहकर फिर कहा है, खाली त्याग से कोई सिद्धि नहीं पाता है' ॥

संगति–कर्मों में अनासक्ति (बन्ध न जाना) ही कर्मों का संन्यास है, न कि स्वरूप से, क्योंकि स्वरूप से कर्मों का संन्यास हो ही नहीं सक्ता, यह कहते हैं—

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥५॥

श–(नहि, कश्चित्, क्षणं, अपि) नहीं कोई क्षण भी (जातु, तिष्ठति, अकर्म–कृत्) कभी ठहरता है कर्म न करता हुआ (कार्यते, हि, अवशः कर्म) कराया जाता है क्योंकि बेबस हुआ कर्म (सर्वः, प्रकृति-जैः, गुणैः) सब प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों से ॥

अ–कोई (पुरुष) एक क्षण भी कर्म न करता हुआ नहीं ठहरता है, क्योंकि हर एक पुरुष प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों (सत्त्व, रज, तम) से बेबस हुआ कर्म कराया जाता है ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्ययआस्तेमनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मामिथ्याचारःसउच्यते६

श–(कर्म–इन्द्रियाणि, संयम्य) कर्मेन्द्रियों को रोककर (यः, आस्ते मनसा, स्मरन्) जो बैठता है मनसे स्मरण करता हुआ (इन्द्रिय–अर्थान्) इन्द्रियों के विषयों को (विमूढ–आत्मा, मिथ्या-आचारः, सः, उच्यते) भूले हुए मनवाला मिथ्या आचार वाला वह कहलाता है ॥

अ–जो (बाहर) कर्मेन्द्रियों को रोककर (अन्दर) मन से इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करता हुआ बैठता है, वह मूढात्मा मिथ्याचारी (दम्भी, मक्कार) कहलाता है ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥७॥

श-(यः, तु) जो फिर (इन्द्रियाणि, मनसा, नियम्य, आरभते, अर्जुन) इन्द्रियों को मन से रोककर आरम्भ करता है हे अर्जुन (कर्म-इन्द्रियैः, कर्म-योगं, असक्तः) कमन्द्रियों से कर्म योग को न आसक्त होकर (सः, विशिष्यते) वह बढ़ जाता है।

अ-जो फिर हे अर्जुन मन से इन्द्रियों को रोककर अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आरम्भ करता है वह बढ़जाता* है ॥

संगति-जिस लिये ऐसा है, इस लिये—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥८॥

श-(नियतं, कुरु, कर्म, त्वं) नियम से कर कर्म तू (कर्म ज्यायः, हि, अकर्मणः) कर्म श्रेष्ठ है क्योंकि अकर्म से (शरीर

---

* कर्म योग में इन्द्रियों से वह उपयोग लिया जाता है जिस के लिये परमात्माने उनको रचा है। (प्रश्न) किससे बढ़जाता है?(उत्तर) मिथ्याचारी से (श्रीशंकराचार्य) क्योंकि उसमें प्रमादकी सम्भावनाही नहीं रहती इस लिये वह ज्ञाननिष्ठ पुरुष से भी बढ़कर होता है (श्री रामानुज) 'योगः कर्मसु कौशलं' (२ । ५०) इत्यादि से संग और फल के त्याग से कर्म करने का इस शास्त्रमें सारी अवस्थाओं में विधान है और १८ । ७ में स्पष्टतया सर्वकर्म त्याग की निन्दा भी की है, इस अभिप्रायसे श्रीरामनुजका कथन है, पर प्रकरण में यहां केवल मिथ्याचारी ही मुकाबले में है, इस अभिप्राय से शंकराचार्य का कथन ठीक है।

यात्रा, अपि, च, ते) शरीरयात्रा भी और तेरी (न, प्रसिध्येत्, अ-कर्मणः) नहीं सिद्ध होगी कर्म रहित की।

अ—तू नियम से कर्म कर क्योंकि कर्म अकर्म से श्रेष्ठ है। और कर्म रहित तुझकी शरीरयात्रा (शरीर का निर्वाह) भी सिद्ध नहींहोगी*॥

संगति—जो लोग ऐसा कहते हैं कि सब ही कर्म बन्धक हैं उसका उत्तर देते है॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥९॥

श—(यज्ञ—अर्थात्, कर्मणः, अन्यत्र) यज्ञके निमित्त कर्म के सिवाय (लोकः,अयं, कर्म—बन्धनः) लोक यह कर्म के बन्धन वाला (तत्-अर्थं, कर्म, कौन्तेय) उसके निमित्त कर्म हे कौन्तेय (मुक्त-सङ्गः, समाचर) सङ्ग छोड़कर ठीक २ कर।

अ—यज्ञ के निमित्त † (जो) कर्म (है, उस) के सिवाय यह लोक कर्म के बन्धन वाला है, तू हे कौन्तेय (कर्म फल के) संग से रहित हुआ उसके (यज्ञ के) निमित्त कर्म कर

---

* यह "तदेकं वद निश्चित्य" का उत्तर देदिया।

† 'यज्ञो वै विष्णुः' यज्ञ विष्णु है। इस श्रुति के अनुसार यज्ञ यहां ईश्वर है. उसके निमित्त (श्री शंकराचार्य) यज्ञ अर्थात् परमेश्वर का अराधन. क्योंकि "यज देव पूजायाम्" धातु है (श्री नील-कंठ)। यज्ञादि जो शास्त्रीय कर्म हैं, उनके लिये जो धन का उपार्जनादि कियाजाता है, वह बन्धन में नहीं डालता, उसके सिवाय जो केवल अपना प्रयोजन साधन के लिये किया जाता है. वह बन्धन में डालता है, सो तू मुक्तसंग होकर अर्थात् अपना

संगति—यज्ञों का करना प्रजापति के वचन से दृढ़ करते हैं:—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् १०

श—(सह-यज्ञाः, प्रजाः, सृष्ट्वा) सहित यज्ञों के प्रजाओं को रचकर (पुरा, उवाच, प्रजा-पतिः) पहले कहता भया प्रजापति (अनेन, प्रसविष्यध्वं) इससे तुम बढ़ो (एषः, वः, अस्तु, इष्ट-काम-धुक्) यह तुम्हारा हो अभीष्ट कामनाओं का पूरने वाला।

अ—पहले (सृष्टि के आदि में) यज्ञों के सहित प्रजाओं को रचकर प्रजापति(परमेश्वर) ने कहा (आज्ञादी)"इससे तुम बढ़ो,यह तुम्हारी अभीष्ट कामनाओं का पूरने वाला हो"।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥११

श—(देवान्, भावयत, अनेन) देवताओं को पुष्ट करो इससे (ते, देवाः, भावयन्तु, वः) वह देवता पुष्ट करें तुमको. (परस्परं, भावयन्तः, श्रेयः, परं, अवाप्स्यथ) एक दूसरे को पुष्ट करते हुए कल्याण परम को प्राप्त होवो।

अ—"इस (यज्ञ) से तुम देवताओं को पुष्ट करो, वह देवता तुम्हें पुष्ट करें। (इसप्रकार) एक दूसरे को पुष्ट करते हुए तुम परम

प्रयोजन छोड़कर केवल यज्ञादि के लिये कर्म कर। ऐसा करने पर यज्ञादि कर्मोंसेप्रसन्न हुआ परमपुरुष कर्म कर्ता की क्षुद्र वासनाओं को उखाड़ कर अपना दर्शन देता है (श्री रामानुज) (आगे भी यज्ञ का ही वर्णन है इसलिये यह आशय शोभा पाता है,(सम्पादक)।

कल्याण को प्राप्त होवो"*।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥१२

श—(इष्टान्, भोगान्, हि, वः) अभिलषित भोगों को निःसंदेह तुम्हें (देवाः, दास्यन्ते, यज्ञ-भाविताः) देवता देंगे यज्ञों से पुष्ट किये हुए (तैः, दत्तान्, अप्रदाय, एभ्यः) उनसे दिये हुओं को बिन दिये इनके लिये (यः, भुङ्क्ते, स्तेनः, एव, सः) जो भोगता है चोर ही वह।

अ—"यज्ञों से बढ़ाए हुए वह देवता निःसन्देह तुम्हें अभिलषित भोगों (वृष्टि अन्न धन आदि) को देंगे, उनसे दिये हुओं को उन्हें न देकर (देवऋण न चुकाकर) जो भोगता है, वह चोर ही है"।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्१३

श—(यज्ञ-शिष्ट-अशिनः, सन्तः) यज्ञ से बचे हुए के खाने वाले हुए (मुच्यन्ते, सर्व-किल्बिषैः) छूट जाते हैं सारे पापों से (भुञ्जते, ते, तु, अघं, पापाः) खाते हैं वह पर पाप पापी (ये, पचन्ति, आत्म-कारणात्) जो पकाते हैं अपने निमित्त।

अ—यज्ञ से बचे हुए के खाने वाले होकर सारे पापों से छूट जाते हैं, पर वह पापी (निरा) पाप खाते हैं, जो अपनेही निमित्त पकाते हैं

भाष्य—जिनके घर में अग्निहोत्रादि और दर्श पौर्णमासादि नहीं होते, न वैश्वदेव यज्ञ और अतिथियों के लिये अन्न पकता है,

---

* यज्ञों से वायु आदि देवता पुष्ट होते हैं, और वह पुष्ट हुए हमें पुष्ट करते हैं।

वह निरा आप खाने वाले निरा पाप खाते हैं। 'केवलाघो भवते केवलादी' निरा पापी बनता है अकेला खाने वाला (ऋग्० १० । ११७ । ६)।

संगति–जगत् रूपी चक्र का चलाने वाला होने से भी कर्म कर्तव्य है, यह बतलाते हैं–

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् १५
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति १६

श–(अन्नात्, भवन्ति, भूतानि) अन्न से होते हैं प्राणी (पर्जन्यात्, अन्न-सम्भवः) मेघ से अन्न की उत्पत्ति (यज्ञात्, भवति, पर्जन्यः) यज्ञ से होता है मेघ (यज्ञः, कर्म-समुद्भवः) यज्ञ कर्म से उत्पत्ति वाला । १४ । (कर्म, ब्रह्म-उद्भवं, विद्धि) कर्म को वेद से उत्पत्ति वाला जान (ब्रह्म, अक्षर-समुद्भवं) वेद परमात्मा से उत्पत्ति वाला (तस्मात्, सर्व-गतं, ब्रह्म) इसलिये सर्वव्यापक ब्रह्म (नित्यं, यज्ञे, प्रतिष्ठितं) सदा यज्ञ में स्थित । १५ । (एवं-प्रवर्तितं, चक्रं) इस प्रकार चलाए हुए चक्र के (न, अनुवर्तयति, इह, यः) नहीं अनुसार बर्तता है, यहां जो (अघ-आयुः, इन्द्रिय-आरामः) पाप की आयु वाला इन्द्रियों, में रमण करने वाला (मोघं, पार्थ, सः, जीवति) व्यर्थ हे पार्थ वह जीता है । १६ ।

अ—सब प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न मेघ से उत्पन्न होता है, मेघ यज्ञ से उत्पन्न होता है, यज्ञ कर्म * से उत्पन्न होता है। १४। कर्म को वेद से उत्पत्ति वाला जान, वेद अविनाशि (परमात्मा) से उत्पत्ति वाला है, इसलिये सर्वव्यापक ब्रह्म यज्ञ में सदा स्थित है †। १५। इस प्रकार चलाए हुए चक्र‡ के जो यहां अनुसार नहीं बर्तता, हे पार्थ! पाप की आयु वाला इन्द्रियों (के द्वारा विषयों) में रमण करने वाला (न कि आत्मा में) वह पुरुष व्यर्थ जीता है। १६।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः १८

---

* कर्म=यजमान और ऋत्विज जो कर्म करते हैं।

† सर्वगत भी ब्रह्म यज्ञमें सदा स्थित है, अर्थात् यज्ञ करने वाले पर अपना स्वरूप प्रकाश करता है, 'उद्यमस्था सदा लक्ष्मीः' लक्ष्मी सदा उद्यम में रहती है' इस वाक्य की नाईं यज्ञ में स्थित कहा है। अथवा 'तस्मात्०' का अर्थ यह भी होसकता है। जिसलिये वेद परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, इसलिये सर्वगत अर्थात् सब विषयों का प्रकाशक भी वेद यज्ञ में सदा प्रतिष्ठित है अर्थात् यज्ञ इसका प्रधान उद्देश्य है। यज्ञ वह हरएक कर्म है, जिससे दूसरों का उपकार हो, मनुष्य का आत्मा देव पितर मनुष्य पशु पक्षी कीट पतंग इन सब का उपकारक होना चाहिये (देखो बृह० १।४।६)।

‡ परमेश्वर से प्रकाशित हुए वेद से पुरुषों की कर्ममें प्रवृत्ति, उससे यज्ञ की सिद्धि, उससे मेघ, उससे अन्न, उससे प्राणधारी, प्राणधारियों की फिर वैसे ही कर्म में प्रवृत्ति इसप्रकार चलाएहुए चक्र।

श-(यः, तु, आत्म-रतिः, एव, स्यात्) जो हां आत्मा में रति वाला ही हो (आत्म-तृप्तः,च,मानवः)और आत्मा से तृप्त मनुष्य (आत्मनि, एव, च, सन्तुष्टः) और आत्मा में ही सन्तुष्ट (तस्य, कार्यं, न, विद्यते) उसको करने योग्य नहीं है ॥१७॥ (न, एव,तस्य, कृतेन, अर्थः) न ही उसको किये हुए से प्रयोजन (न, अ-कृतेन) न न किये हुए से (इह, कश्चन) इसमें कोई (न, च, अस्य, सर्व-भूतेषु) और न इसका सबभूतोंमें(कश्चित्,अर्थ-व्यपाश्रयः)कोई प्रयोजनका आश्रय।

अ-हां जो आत्मा में ही रति वाला (न कि विषयों में),आत्मा से (ही) तृप्त (न कि अन्नपान आदि से), (और बाह्य सब प्रकार के भोगों से बेपरवाह होकर)आत्मा में ही सन्तोष वाला हो,उसके लिये करने योग्य (कुछ) नहीं है ॥१७॥ क्योंकि न ही उसको (लोक) में किये हुए से प्रयोजन है;न न किये हुए से, और न ही इसका सब भूतों में कोई प्रयोजन का आश्रय है ॥१८॥

भाष्य-पूर्व यज्ञों का फल-इष्टभोग धन जन वृष्टि आदि कहे हैं, यह फल उसी के लिये तृप्तिकर हैं, जो बहिर्मुख है, पर जो आत्मरति आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट है, उसके लिये यह फल फल नहीं,क्योंकि उसका अर्थ आत्मा के आश्रित है,न कि बाह्य धन जन आदि के,इसलिये उसका इन कर्मों के करने में प्रयोजन नहीं है, और न ही न करने में।स्वभावतः जो उससे होते हैं,वह हों,हानि नहीं,इसलिये कहा है,कि 'न ही न करने में प्रयोजन है' किन्तु जैसे बहिर्मुख पुरुषों के लिये वह अवश्य करने योग्य ठहरते हैं वैसे उसके लिये नहीं।

संगति-जिस लिये ऐसे ज्ञानी के लिये ही कर्म में स्वार्थ नहीं, और, उसका भी न करने में भी कोई स्वार्थ नहीं-

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥१९

श–(तस्मात्, अ-सक्तः) इसलिये संग रहित हुआ (सततं कार्यं, कर्म, समाचार) लगातार कर्तव्य कर्म को पूरा कर (अ-सक्तः हि, आचरन्, कर्म) संग रहित होकर क्योंकि करता हुआ कर्म को (परं, आप्नोति, पूरुषः) परमात्मा को प्राप्त होता है पुरुष।

अ–इसलिये (फल के) संग से रहित हुआ कर्तव्य कर्म को लगातार पूरा कर, क्योंकि संग रहित होकर कर्म करता हुआ पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है।

संगति–इसमें सदाचार भी प्रमाण है, यह दिखलाते हैं:–

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

श–(कर्मणा, एव, हि) कर्म से ही निःसंदेह (संसिद्धिं, आस्थिताः, जनक–आदयः) सच्ची सिद्धि को प्राप्त हुए हैं जनक आदि।

अ–जनक आदि कर्म से ही सिद्धि (आत्म दर्शन वा मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं*।

संगति–अपने आपको सच्चा ज्ञानी जानकर भी तुझे कर्म करना ही भला है, यह दिखलाते हैं—

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥२०

श–(लोक–संग्रहं, एव, अपि, संपश्यन्) लोक की भलाई ही को भी देखता हुआ (कर्तुं, अर्हसि) करने योग्य है।

अ–लोक की भलाई पर दृष्टि डालते हुए भी तुझे कर्म करना ही योग्य है।

---

* जनक आदि आत्म साक्षात्कार के अनन्तर भी राज्यपालनादि से विमुख नहीं हुए।

संगति–कर्म करने में जिस तरह लोक की भलाई होती है, वह बतलाते हैं –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१

श–(यत्, यत्, आचरति, श्रेष्ठः) जो २ करता है श्रेष्ठ (तत्, तत्, एव, इतरः, जनः) वह २ ही दूसरा जन (सः, यत्, प्रमाणं कुरुते) वह जो प्रमाण करता है (लोकः, तत्, अनुवर्तते) लोक उसके पीछे चलता है ।

अ–एक श्रेष्ठ पुरुष (प्रमाण पुरुष) जो २ करता है, वही दूसरे लोग भी करते हैं, वह जो (बात) प्रमाण करता है, दुनिया उस पर चलती है ।

संगति–इसमें मैं ही दृष्टान्त हूं, यह तीन श्लोकों से बतलाते हैं:—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२

श–(न, मे, पार्थ, अस्ति, कर्तव्यं) नहीं है मेरे लिये हे पार्थ कर्तव्य (त्रिषु, लोकेषु, किंचन) तीनों लोकों में कुछ (न, अनवाप्तं, अवाप्तव्यं) न ही न पाया हुआ पाने योग्य (वर्ते, एव, च, कर्मणि) वर्तता हूं तथापि कर्म में ।

अर्थ–हे पार्थ मेरे लिये तीनों लोकों में कोई कर्तव्य नहीं, न ही न पाई हुई कोई वस्तु पाने योग्य है, तथापि कर्म में वर्तता ही हूं ।

भाष्य–कर्म से साध्य किसी भी वस्तु का तीनों लोक में मैं अर्थी नहीं हूं, और ज्ञान मुझे प्राप्त ही है, तब भी मैं लोकों की भलाई के लिये कर्म करता ही हूं ।

संगति—न करने में लोक का नाश दिखलाते हैं :—

यदि ह्ययं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याःपार्थ सर्वशः॥२३
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाःप्रजाः२४

श—(यदि, हि, अहं, न, वर्तेयं) यदि क्योंकि मैं न बर्तूं (जातु कर्मणि, अतन्द्रितः) कभी कर्म में आलस्य रहित होकर (मम, वर्त्म, अनुवर्तन्ते, मनुष्याः) मेरे मार्ग के पीछे चलें मनुष्य (पार्थ, सर्वशः) हे पार्थ सब प्रकार ।२३। (उत्सीदेयुः, इमे, लोकाः) नाश होजाएं यह लोक (न, कुर्यां, कर्म, चेत्, अहं) न करूं कर्म यदि मैं (संकरस्य, च, कर्ता स्यां) और संकर का कर्ता होउं (उपहन्यां, इमाः, प्रजाः) बिगाड़ूं इन प्रजाओं को।

अ—यदि मैं आलस्य रहित होकर कर्म में न बर्तूं, तब हे पार्थ सब आस पास के मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुसरण करें ॥ २२ ॥ यह लोक (कर्म के नाश से) नाश होजाएं, यदि मैं कर्म न करूं, (वर्ण—)संकर का कर्ता बनूं और इन प्रजाओं को बिगाड़ूं (मलिन करने वाला बनूं)।

भाष्य—कर्म से ही सारा जगत् ठीक स्थिति में स्थित है, और कर्म से ही मानव समाज भी ठीक स्थिति में स्थित रहता है, स्वयं श्रीकृष्ण ने उद्योग पर्व (२९।७—८६) में यह बात स्पष्ट की है। अब किसी हीन पुरुष की धर्म में अप्रवृत्ति दूसरों को इतना नहीं बिगाड़ती, जितना कि किसी महान् पुरुष की, क्योंकि उसको प्रमाण मानकर

दूसरे भी अपनी मर्यादा को उलांघ जाते हैं और यह उनके विनाश का हेतु है। एत एव ध्यानयोगी को लक्ष्य रखकर भी यही कहा है 'युक्तचेष्टस्य कर्मसु' (६।१७)।

संगति—इसलिये आत्मवेत्ता को यद्यपि कुछ प्राप्तव्य नहीं, तथापि लोक की भलाई के लिये कर्म करना ही चाहिये, यह उपसंहार करते हैं:—

सक्ताःकर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्ताश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तःसमाचरन्२६

श—(सक्ताः, कर्मणि, अविद्वांसः, यथा, कुर्वन्ति, भारत) आसक्त हुए कर्म में अज्ञानी जैसे करते हैं हे भारत (कुर्यात्, विद्वान्, तथा, अ—सक्तः) करे ज्ञानी वैसे न आसक्त हुआ (चिकीर्षुः, लोक-संग्रहं) करना चाहता हुआ लोकों की भलाई ॥२५॥ (न, बुद्धि—भेदं, जनयेत्) नहीं बुद्धि भेद उत्पन्न करे (अज्ञानां, कर्म—संगिनां) अज्ञानियों का कर्म में आसक्तों का (जोषयेत्, सर्व—कर्माणि) सेवन कराए सारे कर्म (निद्वान्, युक्तः, समाचरन्) ज्ञानी सावधान होकर करता हुआ ॥२६॥

अ—हे भारत ! अज्ञानी जैसे कर्म में आसक्त होकर करते हैं, ज्ञानी वैसे आसक्त न होकर (केवल) लोक की भलाई चाहता हुआ करे।२५। कर्म में आसक्त अज्ञानियों का बुद्धिभेद न उत्पन्न करे*

---

* मोक्ष आत्मसाक्षात्कार से ही मिलता है, न कि कर्मों से इत्यादि उपदेश से वा अपने उदाहरण से उनकी बुद्धि को कर्म के

अपितु ज्ञानी पुरुष सावधान होकर करता हुआ (अपने उदाहरण द्वारा उनसे) सारे कर्मों को करवाए ॥ २६ ॥

संगति—यदि ज्ञानी के लिये भी कर्म कर्तव्य हैं, तो ज्ञानी अज्ञानी का क्या विशेष है? इस पर कहते हैं :—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७

श—(प्रकृतेः, क्रियमाणानि, गुणैः, कर्माणि, सर्वशः) प्रकृति के किये जाते हुए गुणों से कर्म सब प्रकार से (अहङ्कार-विमूढ-आत्मा) अहङ्कार से मूढ आत्मा (कर्ता, अहं, इति, मन्यते) करने वाला मैं यह मानता है।

अ—कर्म सारे प्रकृति के गुणों से किये जाते हैं। अहङ्कार से धोखा दिया हुआ आत्मा मानता है, कि 'मैं करनेवाला हूं' *

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८

श—(तत्त्व-वित्, तु, महा-बाहो, गुण-कर्म-विभागयोः) तत्त्व का जाननेवाला तो हे महाबाहो ! गुण और कर्मों के विभाग के

सकाश से न हिलाए। क्योंकि इस तरह वह कर्मों को छोड़ देने से और ज्ञान की उत्पत्ति न होने से उभयतोभ्रष्ट होजाते हैं।

* प्रकृति के कार्य्य जो इन्द्रिय हैं, कर्म सारे उन्हीं से किये जाते हैं, "उनको मैं ही करनेवाला हूं" यह मनुष्य मान लेता है क्योंकि इन्द्रिय आदियों को वह अपना आप (अहं) मान रहा है (श्री श्रीधर)

(गुणाः, गुणेषु, वर्तन्ते) गुण गुणों में वर्तते हैं (इति, मत्वा, न सज्जते) यह समझकर नहीं आसक्त होता है ।

अ—हे महाबाहो ! गुण और कर्मों के विभाग के तत्त्व का जानने वाला तो 'गुण गुणों में वर्तते हैं,*' ऐसा समझकर आसक्त नहीं होता है ।

संगति—'न बुद्धिभेदं जनयेत्' इस कहे हुए का उपसंहार करते हैं :—

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्

श—(प्रकृतेः, गुण-संमूढाः) प्रकृति के गुणों से धोखा खाये हुए (सज्जन्ते, गुण-कर्मसु) आसक्त होते हैं गुणों के कर्मों में (तान्, अ-कृत्स्न-विदः, मन्दान्) उन पूरा न जानने वाले मूर्खों को (कृत्स्न-वित्, न, विचालयेत्) पूरा जानने वाला न चलाए ।

अ—प्रकृति के गुणों † से धोखा खाए हुए पुरुष गुणों के कर्मों ‡ में आसक्त होते हैं,॥ उन पूरा न जानने वाले मन्दमतियों को पूरा जानने वाला पुरुष न चलाए (उनका बुद्धिभेद न करें), (अपितु स्वयं कर्म करता हुआ, कर्म का उपदेश करता हुआ, कर्म से ईश्वर की पूजा होती है, इस प्रकार बोधन करता हुआ, उनको कर्म से होने वाली सिद्धि तक पहुंचाए) ।

---

* गुण=इन्द्रिय, गुणों में=अपने विषयों में (श्रीशंकराचार्य) गुण सत्वादि, अपने गुणों में=अपने कार्यों में वर्तते हैं (श्रीरामानुज)

† प्रकृति के गुण=देहादि विकार ‡ गुणों के कर्म=देहादि के कर्म ॥ आसक्त होते हैं, फल के लिये कर्म करते हैं ॥

संगति—देहादि में आत्मभ्रान्ति से कर्म बन्धक होते हैं, यह दिखलाकर, अब जिस प्रकार वह मोक्ष का हेतु होते हैं, यह दिखलाते हैं :—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः॥

श—(मयि, सर्वाणि, कर्माणि) मेरे में सारे कर्मों को (संन्यस्य, अध्यात्म-चेतसा) त्यागकर अध्यात्म चित्तसे (निर्-आशीः, निर्-ममः, भूत्वा) कामना रहित, ममता रहित होकर (युध्यस्व, विगत-ज्वरः) युद्ध कर दूर हुए सन्तापवाला।

अ—अध्यात्म चित्त से सारे कर्मों को मेरे समर्पण करके कामना ममता और सन्ताप से रहित होकर युद्ध कर ॥

भाष्य—अध्यात्म चित्त=आत्मा में जो चित्त है, अर्थात् देहादिकों में अहंभाव को त्यागकर, आत्मा में चित्त को स्थापन करके, परमात्मा की आज्ञापालन मात्र प्रयोजन जानकर, फल की कामना से शून्य होकर, मुझ से किया हुआ कर्म मुझे फल देगा, इस ममता से रहित होकर, अन्दर के सन्ताप को त्याग कर, अपने स्वभाव सिद्ध क्षत्रियोचित कर्म का अनुष्ठान कर। स्वयं आचरण करता हुआ अपने दृष्टान्त से लोगोंको ज्ञान कर्म और भक्तिमें प्रेम वाला बना।

संगति—इसप्रकार कर्मानुष्ठान में गुण कहते हैं :—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तोमुच्यन्तेतेऽपिकर्मभिः।

श—(ये, मे, मतं, इदं) जो मेरे मत इसको (नित्यं, अनुतिष्ठन्ति, मानवाः) सदा अनुष्ठान करते हैं मनुष्य (श्रद्धावन्तः,

अनसूयन्तः) श्रद्धावाले असूया रहित (मुच्यन्ते, ते, अपि, कर्मभिः) छूट जाते हैं वह भी कर्मों से।

अ—जो मनुष्य श्रद्धावाले हुए असूया (हसद) रहित होकर मेरे इस मत (शिक्षा) को सदा अनुष्ठान करते हैं, वह भी कर्मों से छूट जाते हैं।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।३२

श—(ये, तु, एतत्, अभ्यसूयन्तः) जो पर इसकी असूया करते हुए (न, अनुतिष्ठन्ति, मे, मतं) नहीं अनुष्ठान करते हैं मेरा मत (सर्व-ज्ञान-विमूढान्,तान्) सारे ज्ञानों में मूढ उनको (विद्धि-नष्टान्, अचेतसः) जान नष्ट हुए अविवेकियों को।

अ—पर जो असूया करते हुए इन मेरे मत का अनुष्ठान नहीं करतेहैं, सारेज्ञानों में *मूढ़ उन अविवेकियों को नष्ट हुआ जान †।

संगति—क्यों वह सारे ज्ञानों में मूढ हैं? जिस लिये:—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।

---

* कर्म्म के ज्ञान में और आत्मा के ज्ञान में सब में उनको धोखा है † उनकी प्रारब्ध में नष्ट होना लिखा है। कैसा पहुंच कर कहा हुआ यह वचन है, श्री कृष्ण कहते हैं, जो कर्म्म से विमुख होते हैं, चाहे ज्ञानी हों वा अज्ञानी, वह नाश की तरफ जारहे हैं। शोक ! कि इस वचन को पढते हुए भी भारतवासी विशेषतः साधुजन पुरुषार्थहीन होरहे हैं। ज्ञानी के लिये कोई कर्तव्य ही नहीं, ऐसा मानने वाले आज कल की नाईं उस समय भी लोग होरहे थे, जो श्रीकृष्ण का इस शिक्षा को कि "कर्म्म कभी त्याज्य नहीं" दोष युक्त मानते थे, अतएव कहा है "येत्वेतदभ्यसूयन्तः"॥

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किंकरिष्यति।

श-(सदृशं, चेष्टते, स्वस्याः, प्रकृतेः ज्ञानवान्, अपि) सदृश चेष्टा करता है अपनी प्रकृति के ज्ञानवान् भी (प्रकृतिं, यान्ति, भूतानि) प्रकृति की ओर जाते हैं जीव (निग्रहः, किं, करिष्यति) निग्रह क्या करेगा।

अ-ज्ञानवान् भी * अपनी प्रकृति † के सदृश (अनुरूप) चेष्टा करता है। सब भूत अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हैं (उसमें) निग्रह क्या करेगा ?

भाष्य-मनुष्य अपनी प्रकृति के बस में है, जैसी प्रकृति होती है, उसके अनुसार अवश्य चेष्टा करता है, रोक थाम उसको कोई काम नहीं देती। अतएव अर्जुन को आगे (१८। ५९, ६०) कहेंगे, कि युद्ध न करने का तेरा निश्चय मिथ्या है, प्रकृति तुझे इस काम में अवश्य लगाएगी। अतएव यहां भी आगे (३५) अपने धर्म में मरना श्रेष्ठ कहेंगे। सो सर्वथा कर्मत्याग का सिद्धान्त प्रकृति के विरुद्ध है, इसलिये हानिकारक है।

संगति-हां प्रकृतिसिद्ध कर्म करते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि :-

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

श-(इन्द्रियस्य, इन्द्रियस्य, अर्थे) इन्द्रिय इन्द्रिय के विषय में (राग-द्वेषौ, व्यवस्थितौ) राग द्वेष रहते हैं (तयोः, न वशं, आगच्छेत्) उनके न बस आवे (तौ, हि, अस्य, परिपन्थिनौ) वह क्योंकि इसके मार्ग में विघ्न हैं।

* क्यों फिर अज्ञानी † अपनी बनी हुई प्रकृति= स्वभाव।

अ—इन्द्रिय इन्द्रिय के विषय में राग द्वेष रहते हैं, उनके बस में न आवे, क्योंकि वह इसके मार्ग में विघ्न हैं।

भाष्य—हरएक इन्द्रिय का अपने २ विषय में राग द्वेष रहता है, नेत्र का सुन्दर दृश्य देखने में राग और भयानक दृश्य देखने में द्वेष होता है। इसी प्रकार सारे ज्ञान और कर्मेन्द्रियों के अपने २ विषय में राग द्वेष रहते हैं। राग द्वेष के अधीन पुरुष पाप में भी फंसता है, वा काम्य कर्मों में ही प्रवृत्त होता है, निष्काम नहीं होसकता। सो पुरुष को चाहिये, कि इन इन्द्रियों से अपना २ काम तो ले, पर राग द्वेष के वस में नहीं आए। जैसे मार्ग चलते हुए के नेत्र विना राग द्वेष के देखते हैं वा जैसे भृत्य स्वामी की आज्ञा को आज्ञा मानकर पालन करता है, न कि राग द्वेष के आधीन। इसी प्रकार मनुष्य राग द्वेष से रहित होकर स्वभाव सिद्ध कर्मों को करे।

संगति—प्रकृतिसिद्ध धर्म को अवश्य अनुष्ठेय दिखलाकर अब परधर्म से उसकी श्रेष्ठता बतलाते हैं:—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणःपरधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। ३५

श—(श्रेयान्, स्व-धर्मः, विगुणः) अच्छा अपना धर्म गुणों से रहित (पर-धर्मात्, सु-अनुष्ठितात्) बेगाने धर्म अच्छे अनुष्ठान किये हुए से (स्व-धर्मे, निधनं, श्रेयः) अपने धर्म में मरना अच्छा (पर-धर्मः, भय-आवहः) बेगाना धर्म भय का लाने वाला।

अ—अच्छे अनुष्ठान किये हुए बेगाने धर्म की अपेक्षा गुणों से

रहित (भी) अपना धर्म श्रेष्ठ है, अपने धर्म में मरना अच्छा है, बेगाना धर्म खतरों से पुर होता है।

भाष्य—धर्म से यहां कर्तव्य (duty) अभिप्रेत है। जो जिसका अपना कर्तव्य है, उसके लिये वही ठीक है, चाहे उसमें दूसरे के कर्तव्य के बराबर गुण (खूबियां) न भी हों। हरएक को अपने कर्तव्य के पालने में मरना भला है; न कि उसे छोड़कर दूसरे के कर्तव्य का ग्रहण करना, क्योंकि जो अपना प्रकृतिसिद्ध कर्तव्य नहीं, किन्तु दूसरों की प्रकृति के अनुकूल है, वह अपने लिये भया वह (खतरनाक) होता है*।

---

* यहां अर्जुन जो क्षत्रिय स्वभाव के उचित युद्ध को त्यागना चाहता था, यह देखकर, कि यह धर्म गुणों से रहित है, क्योंकि इसमें अपनों को भी अपने हाथों से मारना पड़ता है, और चाहता था, कि ब्राह्मी जीविका से निर्वाह करे, जिसमें किसी को मारना, किसी का सर्वस्व छीनना आदि कोई भी अवगुण नहीं। उसको श्रीकृष्ण का यह उपदेश है, कि क्षात्र धर्म तुम्हारा प्रकृतिसिद्ध है, इसको छोड़कर गुणों के लालच से ब्राह्म धर्म की तर्फ मत झुको। ऐसा करने वाले प्रकृति के विरुद्ध चलते हुए पतित होजाते हैं, सिद्धि नहीं पाते। अपने कर्तव्य को पालन करते हुए मरजाओ, चाहे वह कितना ही छोटा कर्तव्य क्यों न हो। यही इसका अभिप्राय है, यह नहीं। जैसाकि कई लोग कहते हैं, कि मुसलमानों को अपने धर्म में रहना चाहिये, और हिन्दुओं को अपने धर्म में। क्योंकि धर्म जो सर्वाङ्ग परिपूर्ण है उसीपर चलना चाहिये। किन्तु उस समय सिवाय आर्य धर्म के और कोई धर्म ही न था, और न ही कोई ऐसा प्रसंग यहां है। इस लिये श्रीकृष्ण का पूर्वोक्त अभिप्राय ही होसकता है, वही प्रकरणसंगत है। दूसरा नहीं। न ही किसी भी टीकाकारने ऐसा अभिप्राय निकाला है, यह सर्वथा अनभिज्ञों का ही कथन है॥

अर्जुन उवाच=अर्जुन बोला

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

श–(अथ, केन, प्रयुक्तः) पर किस से प्रेरा हुआ (अयं, पापं, चरति, पूरुषः) यह पाप करता है पुरुष (अनिच्छन्, अपि, कौन्तेय) न चाहता हुआ भी हे कौन्तेय (बलात्, इव, नियोजितः) धक्के से मानों लगाया गया ।

अ–पर हे वार्ष्णेय ! किस से प्रेरा हुआ यह पुरुष न चाहता हुआ भी पाप करता है, मानों कि (बेगारी पकड़े हुए की नाईं) धक्के से लगाया गया है ।

श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान् बोले

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ३७

श–(कामः, एषः, क्रोधः, एषः, रजः-गुण-समुद्भवः) काम यह क्रोध यह रजो गुण से उत्पत्ति वाला (महा-अशनः, महा-पाप्मा) बड़ा खाने वाला बड़ा पापी (विद्धि, एनं, इह, वैरिणं) जान इसको यहां वैरी ।

अ–यह काम है, यह क्रोध है, जो रजोगुण से उत्पन्न होता है, बड़ा खाने वाला, बड़ा पापी है, इसको तू यहां वैरी जान ।

भाष्य–ऐसा शत्रु, जो मनुष्य को पाप में प्रेरता है, काम, (कामना) है, काम उत्पन्न हो, और काम्य विषय की प्राप्ति न हो, तो मनुष्य उसको किसी न किसी उपाय से (पाप से भी) प्राप्त करना चाहता है । क्रोध भी यही है । क्योंकि कामना के पूरा

होने में जब कोई रोक आजाती है, तो यही कामना रोकने वाले पर क्रोध उत्पन्न करदेती है,और क्रोध से प्रेरा हुआ मनुष्य पाप में प्रवृत्त होता है। यह काम सब कुछ खाजाता है, और कभी तृप्त नहीं होता, फिर यह बड़ा नीच है, यही मनुष्य को नीचे गिराता है, अतएव यह वैरी है।

संगति—कैसे यह काम वैरी हैं, यह दृष्टान्तों से दिखलाते हैं:—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।३८

श—(धूमेन, आव्रियते, वन्हिः) धूम से ढकजाती है अग्नि (यथा, आदर्शः, मलेन, च) और जैसे दर्पण मल से (यथा, उल्बेन, आवृतः, गर्भः) जैसे झिल्ली से ढका हुआ गर्भ (तथा, तेन, इदं, आवृतं) वैसे उससे यह ढका हुआ।

अ—जैसे अग्नि धूम से ढकजाती है, जैसे दर्पण मल से ढकजाता है, और जैसे गर्भ झिल्ली से ढका हुआ होता है, वैसे उस से यह * ढका हुआ है †।

---

* यह=विश्व अर्थात् प्राणिमात्र। कई व्याख्याकारों ने 'यह' से ज्ञान लिया है।

† इन तीनों के क्रम से कहने में एक विशेष अभिप्राय प्रकट करते हुए श्रीमधुसूदन इस प्रकार व्याख्या करते हैं 'शरीर के आरम्भ से पहले काम सूक्ष्मरूप से सूक्ष्म शरीर में रहता है, वही काम स्थूल शरीर के बनने पर अन्तः करण में प्रकट होता हुआ स्थूल होता हैं। वही फिर विषयों के चिन्तन की अवस्था में और बढ़कर स्थूलतर होता है, वही फिर विषयों के भोग की अवस्था में अत्यन्त बढ़ा हुआ स्थूलतम होता है। इनमें से पहली अवस्था में दृष्टान्त है, जैसे सहज अप्रकाशरूप धूम से प्रकाशरूप अग्नि ढकी

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९

श—(आवृतं, ज्ञानं) ढका हुआ ज्ञान (एतेन, ज्ञानिनः, नित्य-वैरिणा) इस ज्ञानी के सदा वैरी से (काम-रूपणे, कौन्तेय) काम रूप से हे कौन्तेय (दुष्-पूरेण, अनलेनं, च) और तृप्त न होने वाली अग्नि से ।

अ—हे कौन्तेय ज्ञानी के इस नित्य वैरी * से ज्ञान ढका हुआ है, यह जो कामरूप तृप्त न होने वाली अग्नि है† ।

हुई होती है । दूसरी अवस्था में दृष्टान्त है, जैसे बाहर से आए हुए अर्थात् दर्पण की उत्पत्ति के अनन्तर बढ़े हुए मल से जैसे दर्पण ढकजाता है । तीसरी अवस्था में दृष्टान्त है, जैसे झिल्ली जो अति-स्थूल है, उसमें गर्भ सब ओर से ढकजाता है, इस प्रकार काम से यह ढका हुआ है । यहां धूम से ढकी हुई भी अग्नि दाहादि रूप अपना कार्य करती है, पर मल से ढकाहुआ दर्पण प्रतिबिम्ब का ग्रहणरूप अपना कार्य नहीं करता, तथापि स्वरूप से उपलब्ध होता है, पर झिल्लीसे ढका हुआ गर्भ स्वरूपसे ही उपलब्ध नहीं होता, यद्यपि हाथ पाओं का फैलाना आदि अपना कार्य करता है ।

* प्रकाशात्मक अन्तःकरण को यदि रजोगुण का विकार जो काम है वह ढक न दे, तो वह विवेक की तर्फ झुककर पुरुष का जल्दी उद्धार करदे, इसलिये ज्ञान का नित्य वैरी होने से ज्ञानी का नित्य वैरी कहा है । अथवा अज्ञानी को तो काम भोग समय में सुख का हेतु ही होता है, हां परिणाम में उसका भी वैरी बनता है, पर ज्ञानी को तो उसकाल में भी आने वाले अनर्थ के ध्यान से दुःख का हेतु भासता है, इस लिये उसका नित्य वैरी कहा है ।

† जैसे अग्नि काष्टादि से कभी तृप्त नहीं होती, किन्तु अधिक

संगति—अब उसका अधिष्ठान कहते हुए जीतने का उपाय बतलाते हैं :—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥४०॥
तस्मात्त्वमिंद्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥४१

(इन्द्रियाणि, मनः, बुद्धिः) इन्द्रियां मन बुद्धि (अस्य, अधिष्ठानं, उच्यते) इसका अधिष्ठान कहलाता है (एतैः,विमोहयति, एषः) इन से धोखा देता है यह (ज्ञानं, आवृत्य, देहिनं) ज्ञान को ढांपकर जीवात्मा को ॥ ४० ॥ (तस्मात्, त्वं, इन्द्रियाणि, आदौ) इस लिये तू इन्द्रियों को पहले (नियम्य, भरतर्षभ) रोककर हे भारतों में श्रेष्ठ (पाप्मानं, प्रजहि,) पापी को मार (हि) (एनं) इसको (ज्ञान-विज्ञान-नाशनं) ज्ञान विज्ञान के नाश करने वाले।

अ—इन्द्रियां,मन और बुद्धि इसका अधिष्ठान कहलाता है,इनसे ज्ञान को ढांपकर यह जीवात्मा को भुलाता है (धोखा देता है)॥४०॥ इस लिये तू पहले इन्द्रियों* को वश में करके हे भारत श्रेष्ठ ज्ञान विज्ञान

भड़कती है। ऐसी ही यह कामरूपी अग्नि है, जो कामनाओं से कभी तृप्त नहीं होती, किन्तु अधिक भड़कती है (देखो मनु० २।९४) शोक सन्ताप का हेतु यह काम अग्नि ही है।

*(प्रश्न) पूर्व इन्द्रिय,मन और बुद्धि को अधिष्ठान कहकर अब केवल इन्द्रियों का ही वस करना कैसे कहा है?(उत्तर)इसलिए,कि इन्द्रियों को वस में करने से मन बुद्धि का वस में करना आप ही सिद्ध हो जाता है, क्योंकि संकल्प और अध्यवसाय बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति

के नाश करने वाले* इस पापी को मार† ॥४१॥

भाष्य—विषयों के देखने सुनने आदि से, संकल्प से, और अध्यवसाय (निश्चय करने) से काम प्रकट होता है, इसलिये इन्द्रिय मन और बुद्धि इसका अधिष्ठान कहलाते हैं।

संगति—काम जिस आत्मा को धोखा देता है, वह इसके सारे अधिष्ठानों से परे है, यह दर्शाते हुए इसके जीतने में प्रोत्साहित करते हैं :—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेःपरतस्तु सः॥४२

द्वारा ही अनर्थ के हेतु होते हैं, स्वतः नहीं, अत एव पूर्व (३।३४) राग द्वेष भी इन्द्रियों के आश्रित कहे हैं। राग द्वेष ही काम क्रोध हैं।

* ज्ञान जो शास्त्र और आचार्य के उपदेश से आत्मा का पता लगा है, और विज्ञान आत्मा का साक्षात् दर्शन (प्रश्न) विज्ञान के उत्पन्न होने पर तो काम रहता ही नहीं, फिर वह विज्ञान का नाशक कैसे? (उत्तर) काम विज्ञान से विमुख रखता है, इसलिये ज्ञान विज्ञान का नाशक कहा है। अथवा विज्ञान प्राकृत पदार्थोंका तत्त्व दर्शन और ज्ञान आत्मा का ज्ञान।

† इसका मारना यही है, कि बाह्य विषयों से हटा कर आत्मा में लगा देना 'अथ योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्म कामो भवति" (बृह०)।इन्द्रियों को वस में करनेसेइन्द्रियोंमें रहने वाले काम के त्यागसे आत्मा को अपने स्वरूप में स्थिति होतीहै, स्वरूपमें स्थित हुआ वह अपने नियन्ता के साथ एक होकर गूढ़ भाव से उसी की प्रेरणा के आधीन होजाता है, यही उसका अपनी कामना को मारना है।

एवं बुद्धेःपरं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।४३

श–(इन्द्रियाणि, पराणि, आहुः) इन्द्रियों को परे कहते हैं (इन्द्रियेभ्यः, परं, मनः) इन्द्रियों से परे मन (मनसः,तु, परा, बुद्धिः) मन से तो परे बुद्धि (यः, बुद्धेः, परतः, तु, सः) जो बुद्धि से परे की ओर पर वह ।४२। (एवं, बुद्धेः, परं, ज्ञात्वा) इस प्रकार बुद्धि से परे जानकर(संस्तभ्य,आत्मानं, आत्मना) थामकर आत्मा को आत्मा से (जहि, शत्रुं, महा-बाहो) मार शत्रु को हे महा-बाहो (काम-रूप, दुर्-आसदं)काम रूपी दुर्जय को।

अ–(स्थूल देह से) इन्द्रियों को परे (सूक्ष्म और उत्तम) कहते हैं, इन्द्रियों से परे मन, मन से परे बुद्धि,पर जो बुद्धि से परे है (वह है) वह (जीवात्मा)* ।४२। इस प्रकार (अपने आपको) बुद्धि से परे जानकरआत्मासेआत्मा(अपनेआपसेअपनेआपको)थामकर(संभालकर) हे महाबाहो इस दुर्जय (दुर्धर्ष) काम रूपी शत्रु को मार ।४३।

इति श्रीमद्भगवद्गीता०कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः।

संगति–तृतीय अध्यायमें कर्म योग का ज्ञानीअज्ञानी सबके लिये उपयोग दिखलाकर अब चतुर्थ में कर्म योग का सनातन होना,कर्म योग का स्वरूप,उसके भेद और उसमें ज्ञानांश की प्रधानता कहते हैं–

श्री भगवानुवाच = श्री भगवान् बोले

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।१

* मिलाओ कठ (३।१०,११)।

श—(इमं,विवस्वते,योगं,प्रोक्तवान्,अहं,अव्ययं)इसको विवस्वान् के लिये योग को कहता भया मैं न नाश होने वाले (विवस्वान्, मनवे, प्राह) विवस्वान् मनुको कहता भया (मनुः, इक्ष्वावे, अब्रवीत्) मनु इक्ष्वाकु को कहता भया।

अ—इस अविनाशी योग का मैंने विवस्वान्को उपदेश किया, विवस्वान् ने मनु को सिखलाया, मनु ने इक्ष्वाकु को बतलाया।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

श—(एवं,परम्परा-प्राप्तं,इमं) इसप्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इसको (राज-ऋषयः, अविदुः) राजऋषि जानते भये (सः,कालेन, इह, महता) वह काल यहां बड़े से (योगः, नष्टः, परंतप) योग लुप्त होगया है शत्रुतापन।

अ—इसप्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इस (कर्म योग) को (नेमि, नाभागआदि) राजऋषि जानते भये। वह योग (दीर्घ)काल (के बीतने) से इस लोक में लुप्त होगया। *

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।

---

* "कर्मणाहुः सिद्धिमेके परत्र हित्वा कर्म विद्यया सिद्धिमेके" =कई कर्मसे परलोक में सिद्धि कहते हैं, और कई कर्म को त्याग कर ज्ञान से सिद्धि कहते हैं (उद्यो॰ प॰ २८। १६) इत्यादि से प्रतीत होता है, कि श्रीकृष्ण के अभ्युदय काल में अनेक प्रकार का बुद्धि भेद होगया था। और देखो (अनुगी॰ ४९। ७)

श–(स,ः एवं, अयं, मया) वह ही यह मैंने (ते,अद्य, योगः, प्रोक्त, पुरातनः) तुझे आज योग कहा है पुरातन (भक्तः, असि मे, सखा, च, इति) भक्त है और मेरा सखा है (रहस्यं, हि, एतत्, उत्तमं) रहस्य निःसन्देह यह बड़ा ऊंचा ।

अ–वही (परम्पराप्राप्त) यह पुरातन योग मैंने आज (युद्ध में प्रोत्साहन के प्रसङ्ग से) तुझे उपदेश किया है, क्योंकि तू मेरा भक्त * और सखा है ; यह निःसन्देह बड़ा ऊंचा रहस्य है ।

संगति–श्रीकृष्ण का विवस्वान् के प्रति योगोपदेश का असम्भव देखता हुआ—

अर्जुन उवाच=अर्जुन बोला ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥

श–(अपरं, भवतः, जन्म) वरे आपका जन्म (परं, जन्म, विवस्वतः) परे जन्म विवस्वान् का (कथं, एतत्, विजानीयां) कैसे यह जानूं (त्वं, आदौ प्रोक्तवान्, इति) तूं आदि में कहता भया यह ।

अ–आपका जन्म वरे है और विवस्वान् का जन्म परे है, तब मैं यह कैसे जानूं कि तूने आदि में कहा ।

---

* यस्यदेवेपरा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ” जिसको देव में पराभक्ति है और जैसे देव में है, वैसे गुरु में है, उस महात्मा को यह कहे हुए अर्थ प्रकाशित होते हैं (दूसरे को नहीं) (श्वेता० ६ । २३) भक्ति भावना और प्रेमभाव से सुने हुए मेरे वाक्य तेरे हृदय में स्थान पाएंगे, अतएव इस उत्तम रहस्य का तू अधिकारी है ॥

श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान् उत्तर देते भए।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५

श-(बहूनि, मे, व्यतीतानि, जन्मानि) बहुत मेरे व्यतीत हुए हैं जन्म (तव, च, अर्जुन) और तेरे हे अर्जुन (तानि, अहं, वेद, सर्वाणि) उनको मैं जानता हूं सब को (न, त्वं, वेत्थ, परं-तप) नहीं तू जानता है हे शत्रुतापन।

अ-हे अर्जुन मेरे और तेरे बहुत जन्म व्यतीत हुए हैं, मैं उन सब को जानता हूं * हे परंतप तू नहीं जानता है।

संगति-योगेश्वर होने से जन्म लेने में अपनी स्वतन्त्रता बतलाते हैं-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामी-
श्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय
संभवाम्यात्ममायया।

श-(अजः, अपि, सन्, अव्यय-आत्मा) अजन्मा भी हुआ अविनाशी आत्मा (भूतानां, ईश्वरः, अपि, सन्) भूतों का मालिक भी हुआ (प्रकृतिं, स्वां, अधिष्ठाय) प्रकृति अपनी का प्रभु बनकर (संभवामि, आत्म-मायया) जन्म लेता हूं अपनी माया से।

---

* "संस्कार साक्षात्करणात् पूर्वजाति ज्ञानम्"=(संयम द्वारा पूर्व जन्मों में चित्त पर पड़े हुए) संस्कारों का साक्षात् करने से पूर्व जन्मों का ज्ञान (होता है) (योग० ३।१८)

अ—यद्यपि मैं अजन्मा अविनाशी आत्मा हूं, भूतों का मालिक* भी हूं। तथापि अपनी प्रकृति का मालिक बनकर अपनी माया से जन्म लेता हूं।

भाष्य—श्रीकृष्ण योगेश्वर हैं, यह महाभारत से स्पष्ट प्रतीत होता है और यहां भी गीता की समाप्ति में स्पष्ट कहा है। पर यह योग सिद्धि उनकी पूर्व किसी जन्म में साधना की हुई इस जन्म में विना साधना के स्वतः सिद्ध है। इसलिये वह अपने जन्म को अब अपनी स्वतन्त्रता से बतलाते हैं, न कि कर्माधीन। श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि आत्मा को साक्षात् करने से मैं अब देहाभिमानी नहीं, किन्तु केवल आत्मा हूं। अतएव जन्म मरण से रहित हूं। शरीर के उत्पादक पांचों भूत मेरे बस में हैं, न कि मैं उनके वस में हूं। इसलिये मैं आप अपनी स्वतन्त्रता से जन्म लेता हूं। अतएव अपनी प्रकृति (जिसके अधीन मनुष्य की अपनी २ अलग २ चेष्टा होती है) का मालिक बनकर, न कि उसके परतन्त्र होकर, और अपनी माया से, न कि कर्म परतन्त्र माया से, जन्म लेता हूं। 'माया, वयुनं ज्ञानं' इस प्रकार माया शब्द ज्ञान के अर्थ में आया है। माया उस ज्ञान विशेष का नाम है, जो किसी वस्तु के बनाने से पहले दिमाग में उसका चित्र (नक्शा, Design) खींचाजाता है† श्रीकृष्ण ने अपनी स्वतन्त्रता से आपही अपने दिमाग में अपने जन्म कर्म का चित्र खींचकर तदनुरूप जन्म लिया है, इसलिये 'आत्ममायया' कहा है।

---

* देखो भूतजय की सिद्धि (योग ३। ४४)।

† वह दिमागी शकल, जो माया से दिमाग में बनती है, असली वस्तु का कार्य नहीं देसक्ती, और असली वस्तु की अपेक्षा बहुत थोड़ी देर रहती है, इसलिये माया नाम धोखा देने वाली शक्ति का होगया है।

संगति—वह जन्म कब और किसलिये होता है, यह कहते हैं :—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ७

श—(यदा, यदा) जब जब (हि) (धर्मस्य, ग्लानिः, भवति, भारत) धर्म की हानि होती है हे भारत (अभ्युत्थानं, अधर्मस्य) अधर्म की वृद्धि (तदा, आत्मानं, सृजामि, अहं) तब अपने आपको रचता हूं मैं ।

अ—(मेरे जन्म लेने में काल का नियम नहीं, किन्तु) जब २ धर्म की हानि और (अनर्थकारी) अधर्म की वृद्धि होती है, तब २ हे भारत ! मैं अपने आपको रचता हूं ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८

श—(परित्राणाय, साधूनां) रक्षा के लिये भलों की (विनाशाय, च, दुष्कृतां) और विनाश के लिये दुष्टों के (धर्म-संस्थापन-अर्थाय) धर्म के स्थापन करने के अर्थ (सम्भवामि, युगे, युगे) जन्म लेता हूं युग २ में ।

अ—भलों की रक्षा के लिये और दुष्टों के विनाश के लिये धर्म के स्थापन के अर्थ युग २ में (अवसर २ पर) जन्म लेता हूं ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन

श—(जन्म, कर्म, च, मे, दिव्यं) जन्म और कर्म मेरे दिव्य को

(एवं, यः, वेत्ति, तत्त्वतः) इस प्रकार जो जानता है तत्त्व से (त्यक्त्वा, देहं, पुनः, जन्म, न, एति) त्यागकर देह को फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता है (मां, एति, सः, अर्जुन) मुझको प्राप्त होता है वह हे अर्जुन।

अ–इस प्रकार जो मेरे दिव्य जन्म कर्म * को तत्त्व से जानता है हे अर्जुन! वह देह को त्यागकर फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता है, किन्तु मुझे प्राप्त होता है† ।

---

* स्वेच्छाकृत जन्म और भक्तों की रक्षादि परानुग्रहमात्र कर्म† परमात्मा को प्राप्त होता है (विशेष देखो० २। ६१ की व्याख्या)॥

यहां प्रसंग से अवतार का तत्त्व निरूपण करते हैं, परमात्मा के उपासक परमात्मा के इतने गहरे प्रेमी होजाते हैं, कि उनमें से दुई सर्वथा दूर होजाती है। अतएव वह परमात्मा के गुणों में पूरे रंगे जाते हैं. अतएव उनके कर्म जीते जी भी परमात्मा के सदृश दूसरों के अनुग्रह के लिये ही होते हैं। और जब शरीर को छोड़ते हैं, तो विदेह हुए विराट् आत्मा में विचरते हैं। इनको देव कहते हैं "देवो भूत्वा देवानप्येति, य एतदेवं विद्वानुपास्ते"=वह देव बन कर देवों के पास पहुंचता है, जो ठीक २ जानता हुआ इसकी उपासना करता है (बृह० ४। १। २) यह देव दूसरों की भलाई के लिये अपनी इच्छा से जन्म ग्रहण करते हैं। यह विराट् आत्मा में प्रविष्ट हुए उसके अंश से बने हुए उससे आकर जन्म लेते हैं, इसलिये सारे अवतार नारायण के अंशावतार कहलाते हैं। इतिहास पुराणों में विराट को नारायण कहा है, और अवतारों का उत्पत्ति स्थान और प्रवेश स्थान इसी को कहा है, जैसाकि भागवत १। ३ में "जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः। संभूतं षोडशकल मादौ लोकसिसृक्षया"=भगवान्ने महत्तत्त्व आदि के द्वारा पुरुष का रूप ग्रहण किया, लोकों के रचने की इच्छा से आदि में सोलह

संगति–जगत् के उद्धार में प्रवृत्त मेरी तरह अन्य मुक्त जन भी हैं, यह बतलाते हैं–

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १०

श–(वीत-राग-भय-क्रोधाः) दूर होगये हैं राग भय क्रोध जिनसे (मन्मयाः, मां, उपाश्रिताः) मुझ से भरे हुए मेरे आश्रित हुए (बहवः, ज्ञान-तपसा, पूताः, मद्भावं, आगताः) बहुत ज्ञान और तप से शुद्ध हुए मेरे भाव को पहुंचे हैं।

अ–राग भय और क्रोध से शून्य, मन्मय (प्रेम के वस मेरे साथ एक) हुए, मेरा ही सहारा पकड़े हुए, ज्ञान और तप से

कला वाला प्रकट हुआ। इस प्रकार विराट् का रूप कहकर फिर "एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्। यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः"=यह नानो अवतारों का प्रवेश स्थान और अनखुट बीज है। जिसके अंश अंश से देव तिर्यक् और मनुष्य आदि रचेजाते हैं।' इत्यादि से अवतारों का बीज अर्थात् उत्पत्ति स्थान और निधान अर्थात् कर्म करने के पीछे प्रवेश स्थान कहा है। श्री कृष्ण के विषय भी महाभारत में स्पष्ट ऐसा ही कथन है "यः सनारायणो नाम देवदेवः सनातनः। तस्यांशो वासुदेवस्तु कर्मणोऽन्ते विवेशह" जो नारायण नाम देवदेव सनातन है, उसका अंश कृष्ण अपने काम को समाप्त करके (उसमें) प्रविष्ट हुआ (स्वर्गारोहण पर्व ५। २३) तथा 'योगाचार्योरोदसी व्याप्य लक्ष्म्या स्थानं प्राप स्वम्" योगाचार्य (श्रीकृष्ण) लक्ष्मी (शोभा, यश, कीर्ति) से द्यौ और पृथिवी में व्याप्त होकर अपने स्थान में चलागया (मौसलपर्व ४। २६) सो इसप्रकार नारायण के अंश मुक्तजन परानुग्रह के लिये स्वेच्छा से जन्म ग्रहण करके अपने कर्म को समाप्त कर फिर अपने स्थान में चले जाते है।

* शुद्ध हुए बहुत से पुरुष मेरे भाव† को पहुंचे हैं (=इसीप्रकार जगत् के उद्धार में तत्पर हैं)।

संगति—क्योंकि परमात्मा सब को उनके अभीष्ट फल देते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।११

श—(ये, यथा, मां, प्रपद्यन्ते) जो जिस तरह मेरी शरण में आते हैं (तान्, तथा, एव, भजामि, अहं) उनको वैसे ही सेवन करता हूं मैं (मम, वर्त्म, अनुवर्तन्ते, मनुष्याः, पार्थ, सर्वशः) मेरे मार्ग पर चलते हैं मनुष्य हे पार्थ सब प्रकार से।

अ—जो जिसतरह मेरी शरण में आते हैं, वैसेही उनको मैं सेवन करता हूं (स्वागत करता हूं, वा अनुगृहीत करता हूं) हे पार्थ सब प्रकार से मनुष्य मेरे मार्ग पर चलते हैं।

भाष्य—जो जिस अभिप्राय से भगवान् की शरण लेता है। भगवान् उस पर वैसाही अनुग्रह करते हैं, दुःखी के दुःख को दूर करते हैं, अर्थी के अर्थ को पूरा करते हैं, मुमुक्षु को ज्ञान और ज्ञानी को मोक्ष देते हैं। अतएव जो जगत् का उद्धार चाहते हुए भगवान् की शरण लेते हैं, उनको वह जगत् के उद्धार का सामर्थ्य देते हैं। ज्ञानी ज्ञान से कर्मी कर्म से और प्रेमी प्रेम से उसके मार्ग पर चलते हैं, क्योंकि यह सब उसी के मार्ग पर हैं।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः

---

* अथवा ज्ञान के तप से=ज्ञान की अग्नि से † मेरे भाव =मोक्ष (श्रीशंकराचार्य) मेरे सायुज्य (श्री श्रीधर) "मुझ में प्रेम वा मेरा साक्षात्कार (बलदेव)।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥१२

श-(काङ्क्षन्तः, कर्मणां, सिद्धिं) चाहते हुए कर्मों की सिद्धि को (यजन्ते, इह, देवताः) यजन करते हैं यहां देवताओं को (क्षिप्रं, हि, मानुषे, लोके) जल्दी क्योंकि मानुष लोक में (सिद्धिः, भवति, कर्म-जा) सिद्धि होती है कर्म से उत्पन्न होने वाली।

अ-कर्मों की सिद्धि (पशु पुत्रादि फल की सिद्धि) चाहते हुए यहां (इन्द्र, अग्नि, आदि) देवताओं को यजन करते हैं * क्योंकि इस मनुष्य लोक में कर्म जन्य सिद्धि जल्दी होती है।

संगति-अपने वर्ण के कर्तव्य का पालन भी मेरा ही मार्ग है यह बतलाते हैं :-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

श-(चातुर्-वर्ण्यं, मया, सृष्टं, गुण-कर्म-विभागशः) चारों वर्ण मैंने रचे हैं गुण कर्मों के विभाग से (तस्य, कर्तारं, अपि, मां) उसके कर्ता भी मुझको (विद्धि, अकर्तारं, अव्ययं) जान अकर्ता अविनाशी।

अ-गुणों और कर्मों के विभाग से मैंने चारों वर्ण रचे हैं (चलाए हैं), उसके कर्ता भी मुझको अविनाशी अकर्ता जान।

भाष्य-गुण यहां सत्त्व, रज, तम अभिप्रेत हैं। सत्त्वगुण प्रधान पुरुष ब्राह्मण हैं, उनका कर्म शम दम आदि कहे हैं। सत्त्वगुण गौण और रजोगुण प्रधान क्षत्रिय होते हैं, उनका कर्म शौर्यादि है। तमोगुण जिनमें गौण और रजोगुण प्रधान है, वह वैश्य होते हैं,

* यज्ञ कर्म से पूजते हैं (देखो पूर्व ३। १० से १५)।

उनका कर्म व्यापारादि है। रजोगुण जिनमें गौण और तमोगुण प्रधान है, वह शूद्र होते हैं, उनका कर्म सेवा है। इसप्रकार गुण कर्म के विभाग से चारों वर्णों की प्रवृत्ति हुई है, जैसे कहा है "न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्" वर्णों का कोई भेद नहीं, यह सारा जगत् ब्रह्म का है, ब्रह्म ने पहले रचा है, फिर कर्मों से वर्णताको प्राप्त हुआ है (महा० शान्ति० प० १८८। १०) विष्णुपुराण के अनुसार पहले पहल वर्णों का विभाग करनेवाला शौनक हुआ है। "गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्यप्रवर्तयिताऽभूत्"=गृत्समद का शौनक चारों वर्णों का चलाने वाला हुआ। (विष्णु० ४। ८। १०) विभाग होने पर भी गुण कर्म के अनुसार वर्ण का परिवर्तन होता रहा है। जैसे "पृषध्र गुरु की गौ को मारने से शूद्र होगया" (विष्णु० ४। १। १३) 'करुष से महाबली कारुष क्षत्रिय हुए' (विष्णु० ४। १। १४) 'नेदिष्ट का पुत्र नाभाग वैश्य होगया (४। १। १५) तथा शान्ति पर्व १८८। ११ से १३ और वन पर्व ३१२।१०६से१०९। एवं निचले वर्ण से ऊपर चढ़ना भी स्पष्ट कहा है "शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्-गुणानुपतिष्ठतः। वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वंतथैव च। आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते। गुणास्ते कथिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि"=हे ब्रह्मन्-शूद्र योनि में उत्पन्न होकर भी सद्गुणों का अनुष्ठान करता हुआ पुरुष वैश्यत्व को लाभ करता है,तथा क्षत्रियत्व को। और सरलता में वर्तमान हुए के ब्राह्मणत्व उत्पन्न होता है। तुझे यह सारे गुण कहे हैं, और क्या सुनना चाहता है (वनपर्व २११। ११-१२) ब्राह्मणादि व्यवहार मुख्य गुणकर्म से ही होसक्ता है, जैसाकि 'यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसोवर्णाभिव्यञ्जकम्। यदन्यत्रापि दृश्यते तत्तेनैव विनिर्दि

शेत्'=जिस पुरुष का वर्ण का प्रकाशक जो लक्षण कहा है, वह यदि अन्यत्र भी देखाजाए, तो उसको उसी वर्ण से बतलाए (भागवत० ७।११।३५) इस श्लोक की व्याख्या श्री श्रीधर ने इस प्रकार की है-'शमादिभिरेव ब्राह्मणादिव्यवहारो मुख्यो न जातिमात्रादित्याह यस्येति। यद्=यदि, अन्यत्र=वर्णान्तरेऽपि दृश्येत तद्=वर्णान्तरं तेनैव=लक्षणनिमित्तेनैव निर्दिशेत्, नतु जातिनिमित्तेनेत्यर्थः'=शम आदि से ही ब्राह्मणादिव्यवहार मुख्य होता है, नकि जातिमात्र से, यह बतलाते हैं 'यस्य' इस श्लोक से। श्लोक का अर्थ यह है, कि जिस पुरुष का वर्ण प्रकट करने वाला जो लक्षण कहा है, वह यदि अन्यत्र अर्थात् किसी दूसरे वर्ण में भी देखाजाए, तो उसको अर्थात् उस दूसरे वर्ण को, उसी से अर्थात् लक्षण के निमित्त से ही बतलाए, न कि जाति के निमित्त से'। इस प्रकार ब्राह्मणादि व्यवहार गुण कर्म के विभाग से ही मुख्य है। अब परमात्मा मनुष्य की ब्राह्मणोचित वा क्षत्रियोचित प्रकृति का कर्ता होकर भी अकर्ता इसलिये है, कि वह उनके कर्मानुसार उसके उचित प्रकृति देता है।

संगति-कर्ता होकर भी अकर्ता है, इस विरोध का परिहार करते हैं:—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते।

श-(न, मां, कर्माणि, लिम्पन्ति) नहीं मुझे कर्म लिप्त होते हैं (न, मे, कर्म-फले, स्पृहा) नहीं मुझे कर्मों के फल में अभिलाषा (इति, मां, यः, अभिजानाति) इस प्रकार मुझे जो जानता है (कर्मभिः, न, सः, बध्यते) कर्मों से नहीं वह बद्ध होता है।

अ—मुझे कर्म लिप्त नहीं होते हैं, (क्योंकि) कर्मों के फल में मेरी अभिलाषा नहीं है *। इस प्रकार जो मुझे जानता है, वह (मेरे मार्ग का अनुसरण करने के वश से कामना से रहित हुआ) कर्मों से बद्ध नहीं होता है।

संगति—यही बात शिष्टाचार के दिखलाने से ग्रहण करवाते हैं—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥१५

श—(एवं, ज्ञात्वा, कृतं, कर्म) इस प्रकार जानकर किया कर्म (पूर्वैः, अपि, मुमुक्षुभिः) पहले भी मुक्ति चाहने वालों ने (कुरु, कर्म, एव, तस्मात्, त्वं) कर कर्म ही इसलिये तू (पूर्वैः, पूर्वतरं, कृतं) पहलों से बहुत पुराना किया गया है।

अ—"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा" इस प्रकार जानकर पहले मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया है†। इसलिये तू भी कर्म ही कर, जैसाकि हमारे बड़ों से बहुत पुराने समयों में कियागया है।

संगति—कर्म अकर्म का तत्त्व दुर्विज्ञेय है, यह दिखलाते हैं:—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्तेकर्म प्रवक्ष्यामियज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात्

श—(किं, कर्म, किं, अ-कर्म, इति) क्या कर्म क्या अकर्म यह

---

* इसलिये परार्थ कर्म करता हुआ भी अहंकार रहित होने से अकर्ता ही है।

† ऐसा जानकर करने से कर्म बन्धन का हेतु नहीं होता, अतएव वह कर्म अकर्म है, अतएव उसका कर्ता अकर्ता है। जिस लिये उस पर कोई असर नहीं होता, इसलिये वह अकर्ता है, और वह कर्म जिसलिये उसपर असर नहींडालता इसलियेवह अकर्महै।

(कवयः, अपि, अत्र, मोहिताः) पण्डित भी इस विषय में मोहित हैं (तत्, ते, कर्म, प्रवक्ष्यामि) वह तुझे कर्म बतलाउंगा (यत्, ज्ञात्वा, मोक्ष्यसे, अ-शुभात्) जिसको जानकर छूटेगा अशुभ से।

अ—'क्या कर्म है ? और क्या अकर्म है ?' पण्डित भी इस विषय में मोहित हैं *। सो मैं तुझे वह कर्म बतलाउंगा, जिसको जानकर तू अशुभ (बुराई)† से छूटेगा।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७

श—(कर्मणः, हि, अपि, बोद्धव्यं) कर्म का निःसन्देह भी जानने योग्य (बोद्धव्यं, च, वि-कर्मणः) और जानने योग्य विरुद्ध कर्म का (अकर्मणः, च, बोद्धव्यं) और अकर्म का जानने योग्य (गहना, कर्मणः, गतिः) गहन कर्म का मार्ग।

अ—निःसन्देह कर्म का भी (तत्त्व) जानने योग्य है, विकर्म का भी जानने योग्य है और अकर्म का भी जानने योग्य है ; कर्म का मार्ग बड़ा गुह्य (रहस्य से भरा हुआ) है।

भाष्य—कर्म=शास्त्र विहित, विकर्म=विरुद्ध कर्म-शास्त्र प्रतिषिद्ध कर्म। क्या करना चाहिये और क्या त्यागना चाहिये, यह जानना आसान नहीं, इसमें बड़ा गुह्य रहस्य है, और ऐसेही इसमें, कि अकर्म क्या है; क्या कर्म का स्वरूप से न करना वा करते हुए उस के असर से मुक्त रहना।

---

*न करना अकर्म नहीं, किन्तु कर्म में लिप्त न होना अकर्म है।

† संसार में बांधना कर्म की बुराई है। मैं तुझे वह कर्म बतलाऊंगा, कि कर्म करे और संसार में न बन्धे।

संगति–वह जानने योग्य तत्त्व क्या है, यह बतलाते हैं :–

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।

श–(कर्मणि, अ-कर्म, यः, पश्येत्) कर्म में अकर्म जो देखे (अ-कर्मणि, च, कर्म, यः) और अकर्म में कर्म जो (सः, बुद्धिमान्, मनुष्येषु) वह बुद्धिमान् मनुष्यों में (सः, युक्तः, कृत्स्न-कर्म-कृत्) वह सावधान सारे कर्म करता हुआ ।

अ–जो कर्म में अकर्म, और अकर्म में कर्म देखे, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वह सारे कर्म करता हुआ भी सावधान है । *

भाष्य–कर्म न करना, अकर्म (नैष्कर्म्य) नहीं, किन्तु स्वार्थ की वासना को त्यागकर स्वभावतः वा परार्थ कर्म करने से उसके असर से वचना अकर्म है, ऐसा कर्म वन्धक न होने से अकर्म है। और समर्थ होकर निकम्मे पड़े रहना अपनी वा लोक की भलाई में चेष्टा न करना यह अकर्म भी बन्धन का हेतु होने से कर्म है। पूर्व कर्म, अकर्म और विकर्म यह तीन भेद कहे हैं । सो ऊपर जैसे अभिप्रायभेद से कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म दिखलाया है, इसीप्रकार अभि-प्राय भेद से कर्म और अकर्म में विकर्म भी होता है। जैसे दम्भ से किया हुआ यज्ञ, दान, तप वह कर्म भी अकर्म होता है (देखो गीता १७ । २८)-और समर्थ होकर आर्त की रक्षा न करना अकर्म भी विकर्म होजाता है, और यह देखकर कि यह अन्धा है और इसके मार्ग में कुंआं है, तो चुप बैठे रहना अकर्म भी विकर्म होजाता है।

---

* वह युक्त है योगी है उसने सारे कर्म्म कर लिये हैं अर्थात् कृत कृत्य है (शंकराचार्य्य) ।

इस तत्त्व का पूरा भेदी सारे कर्म करता हुआ सावधान है। विकर्म उसको छूते ही नहीं, और कर्म उसको बान्धते नहीं; इसलिये कर्त्ता हुआ भी अकर्त्ता है, यही उसकी सावधानता है।

संगति—"कर्मण्यकर्म यः पश्येत्" इससे कहे विषय को विवृत करते हैं पांच श्लोकों से:—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

श—(यस्य, सर्वे, समारम्भाः) जिसके सारे काम (काम-संकल्प-वर्जिताः) फल के संकल्प से रहित (ज्ञान-अग्नि-दग्ध-कर्माणं, तं, आहुः, पण्डितं, बुधाः) ज्ञान की अग्नि से दग्ध हुए कर्म्मों वाले उसको कहते हैं पण्डित बुद्धिमान्।

अ—जिसके सारे काम फल के सङ्कल्प से रहित हैं। ज्ञान की अग्नि से दग्ध हुए कर्म्मोंवाले उस (पुरुष) को बुद्धिमान् (पुरुष) तत्त्वदर्शी पण्डित कहते हैं।

संगति—कहे हुए अर्थ को स्पष्ट करते हैं:—

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥

श—(त्यक्त्वा, कर्म-फल-आसंगं) त्याग कर कर्मों के फल में आसक्ति को (नित्य-तृप्तः,निर्-आश्रयः) सदा तृप्त आश्रय रहित (कर्मणि-अभिप्रवृत्तः, अपि). कर्म में चारों ओर से प्रवृत्त हुआ भी (न, एव,किञ्चित्, करोति, सः) नहीं ही कुछ करता है वह।

अ—'जो कर्म्मों के फल में आसक्ति* को त्यागकर, सदा तृप्त

---

* अथवा कर्म और फल में आसक्ति। कर्म में आसक्ति कर्तृत्व का अभिमान।

और आश्रय रहित (किसी का सहारा लिये हुए नहीं है) वह कर्म में प्रवृत्त हुआ भी कुछ नहीं करता है (उसका कर्म अकर्म है)।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥२१॥

श—(निर्-आशीः, यत-चित्त-आत्मा) आशा रहित बस किये चित्त और आतमा वाला (त्यक्त-सर्व-परिग्रहः) त्यागदी हैं सारी मलकीयतें जिसने (शारीरं, केवलं, कर्म, कुर्वन्) शरीर से खाली कर्म करता हुआ (न,आप्नोति,किल्बिषं) नहीं प्राप्त होता है दोष को।

अ—जो आशा से रहित है, चित्त और आत्मा को अपने बस में किये हुए है, जिसने सारी मलकीयत त्यागदी हुई है, वह (कर्तृत्व के अभिमान से रहित होकर) केवल शरीर से कर्म करता हुआ दोष (बन्धन) को नहीं प्राप्त होता है।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते।

श—(यदृच्छा-लाभ-संतुष्टः) यदृच्छालाभ से सन्तुष्ट (द्वन्द्व-अतीतः, वि-मत्सरः) द्वन्द्वों से परे डाह से रहित (समः, सिद्धौ, असिद्धौ, च) बराबर सिद्धि और असिद्धि में (कृत्वा, अपि, न, निबध्यते) करके भी नहीं बद्ध होता है।

अ—यदृच्छा लाभ (बिना दौड़ धूप जो कुछ मिला है, उस) से सन्तुष्ट (शीत,उष्ण सुख, दुःखादि) द्वन्द्व से परे, डाह (हसद) से रहित और सिद्धि असिद्धि में जो बराबर है,वह (कर्म) करके भी बन्धन को नहीं प्राप्त होता है।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३

श–(गत-सङ्गस्य, मुक्तस्य) दूर हुए संगवाले मुक्त (ज्ञान-अवस्थित-चेतसः) ज्ञान में टिके हुए चित्तवाले (यज्ञाय, आचरतः, कर्म) यज्ञ के लिये करते हुए का कर्म (समग्रं, प्रविलीयते) सारा लीन होजाता है ।

अ–जो सङ्ग से रहित,(राग द्वेषादि से) मुक्त, ज्ञान में टिके हुए चित्तवाला पुरुष यज्ञ (=लोक भलाई) के लिये कर्म का आचरण करता है, उसका (किया हुआ कर्म) समग्र लीन होजाता है । (अकर्म भाव को प्राप्त होता है)

संगति–सो इसप्रकार फल की कामना और कर्तृत्वाभिमान से रहित कर्म बन्धक न होने से अकर्म ही है, यह कहकर, अब किस प्रकार वह ब्रह्मप्राप्ति का हेतु होता है, यह कहते हैं ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४

श–(ब्रह्म, अर्पणं) ब्रह्म अर्पण (ब्रह्म, हविः) ब्रह्म हवि (ब्रह्म-अग्नौ, ब्रह्मणा, हुतं) ब्रह्म अग्नि में ब्रह्म से होम किया गया (ब्रह्म, एव, तेन, गन्तव्यं) ब्रह्मही उसने प्राप्त होना है (ब्रह्म-कर्म-समाधिना) ब्रह्म-कर्म में समाधि से ।

अ–अर्पण (जिससे आहुति दीजाती है अर्थात् स्रुवा आदि) ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्म अग्नि में ब्रह्म (होता) से होम किया गया है, इसप्रकार ब्रह्म कर्म में समाधि से (अपने कर्म में ब्रह्म में

चित्त की एकाग्रता से) वह ब्रह्म को ही प्राप्त होगा ।

भाष्य—इन सारी चलायमान वस्तुओं के पीछे अचल परमात्मा विद्यमान है, कर्म करते समय तुम्हारी दृष्टि उस पर होनी चाहिये। जब तुम हाथ से अग्नि में आहुति डालो, तो तुम्हारा मन उस परम ज्योति में मग्न हो, जिससे यह अग्नि देदीप्यमान है । इसप्रकार तुम्हारा किया हुआ हवन केवल भौतिक अग्नि में नहीं, किन्तु ब्रह्म अग्नि अर्थात् वह अग्नि जिसकी पीठ पर ब्रह्म है, उसमें होगा, इसी प्रकार स्रुवा आदि में ब्रह्मदृष्टि से अभिप्राय है। इस श्लोक का सारा भाव इन वेद मन्त्रों से लिया गया है "ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरगामिता । अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मण्यन्तर्हितं हविः" ॥ १ ॥ ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदि रुद्धिता । ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः। संमिताय स्वाहा ॥ २ ॥=ब्रह्म होता है, ब्रह्म यज्ञ है, ब्रह्म से स्वर को प्राप्त होता है, अध्वर्यु ब्रह्म से प्रकट होता है ब्रह्म में हवि लीन होती है ॥ १ ॥ ब्रह्म है घी वाले स्रुवे, ब्रह्म से वेदि बनाई गई है । ब्रह्म है यज्ञ का तत्त्व, और (ब्रह्म है) जो हवि बनाने वाले ऋत्विज हैं । सब के बराबर मापे हुए ब्रह्म के लिये स्वाहा * ॥ २ ॥ (अथर्व १९ । ४२) जब तुम इसप्रकार अपने कर्म को ब्रह्ममय बना दोगे, तो उसका फल ब्रह्मप्राप्ति ही होगा, नकि संसार, क्योंकि तुम्हारे चित्त की एकाग्रता ब्रह्म में है, नकि नामरूप में । दूसरे कर्मी लोग नामरूप के लोक को प्राप्त होते

* इस वचन का आशय इस श्रुति से पूरा स्पष्ट होजाता है "ब्रह्म प्रतिष्ठा मनसो ब्रह्म वाचः ब्रह्म यज्ञानां हविषामाज्यस्य= ब्रह्म प्रतिष्ठ है मनकी, ब्रह्म ही वाणी की, ब्रह्मही यज्ञों की हवियों की और आज्य की (तै० ब्रा० ३ । ७ । ११ । १)।

हैं। उपनिषदों में विद्या और कर्म की एकता से यह विषय स्पष्ट किया है (देखो० ईश०९ से ११)। यहां होता में ब्रह्मदृष्टि वेदान्त दर्शन ४।१।३ में कही अहंग्रह उपासना के अभिप्राय से है और स्रुव आदि में ४।१।५ में कही प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि के अभिप्राय से है। सविस्तर वहीं देखो।

संगति—अब अधिकारी भेद से ब्रह्मप्राप्ति के उपायभूत अनेक यज्ञों का वर्णन करते हैं ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

श—(दैवं, एव, अपरे,यज्ञं) दैव ही दूसरे यज्ञ को (योगिनः, पर्युपासते) योगी उपासते हैं (ब्रह्म-अग्नौ, अपरे, यज्ञं) ब्रह्माग्नि में दूसरे यज्ञ को (यज्ञेन, एव, उपजुह्वति) यज्ञ से ही होमते हैं।

अ—कई एक (कर्म-) योगी दैवयज्ञ को ही उपासते हैं दूसरे ब्रह्माग्नि में यज्ञ से ही यज्ञ को होमते हैं।

भाष्य—यज्ञ का नैसर्गिकफल वायु आदि देवताओं की पुष्टि है,और उससे वृष्टि अन्न पशु पुत्रादि की वृद्धि है। अब कर्म तो दोनों ही करते हैं,जो कर्म काल में पूर्व वर्णित रीति से ब्रह्म पर दृष्टि रखते हैं,और जो इस दृष्टि से रहित केवल कर्ममात्र करतेहैं यह दूसरे केवल दैवयज्ञ अर्थात् वायु आदि देवताओं के लियेही यज्ञ करते हैं, और उसके नैसर्गिकफल वृष्टि अन्न पशु पुत्रादि की वृद्धि को पाते हैं। पर वह पहले कर्मफल में ब्रह्म पर दृष्टि रखते हैं, वह अपने कर्म से अपने यज्ञ को ब्रह्मरूपी अग्नि में होमते हैं, अतएव उनको फल ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।

श–(श्रोत्र-आदीनि, इन्द्रियाणि) श्रोत्र आदि इन्द्रियों को (अन्ये, संयम-अग्निषु, जुह्वति) दूसरे संयमरूपी अग्नियों में होमते हैं (शब्द-आदीन्, विषयान्, अन्ये) शब्द आदि विषयों को दूसरे (इन्द्रिय-अग्निषु, जुह्वति) इन्द्रियरूपी अग्नियों में होमते हैं।

अ–कई लोग श्रोत्र आदि इन्द्रियों को संयमरूपी अग्नियों * में होमते हैं, (इन्द्रियों को संयम में रखना होम मानते हैं) दूसरे शब्द आदि विषयों को इन्द्रियरूपी अग्नियों में होमते हैं (इन्द्रियों द्वारा शब्दादि का ग्रहण कर ज्ञान का सम्पादन और उससे उपकार करना होम† मानते हैं)।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते। २७

श–(सर्वाणि, इन्द्रिय-कर्माणि, प्राण-कर्माणि, च, अपरे) सारे इन्द्रियों के कर्मों को और प्राणों के कर्मों को दूसरे (आत्म-संयम-योग-अग्नौ) आत्म संयमरूपी योग की अग्नि में (जुह्वति, ज्ञान-दीपिते) होमते हैं ज्ञान से प्रचण्ड की हुई।

अ–दूसरे लोग सारे इन्द्रियों के कर्मों और प्राणों के कर्मों

* हरएक इन्द्रिय में संयम का भेद होने से "संयमरूपी अग्नियों" यह बहु वचन दिया है। †इसका यज्ञ होना अनुगीता २०। १९ से २३ में वर्णन किया है।

को ज्ञान से प्रचण्ड की हुई आत्मसंयमरूपी योगकी अग्निमेंहोमते हैं।*

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः २८

श–(द्रव्य-यज्ञाः, तपः-यज्ञाः, योग-यज्ञाः, तथा, अपरे) द्रव्य यज्ञवाले तप यज्ञवाले योग यज्ञवाले इस तरह और (स्वाध्याय-ज्ञान-यज्ञाः,च,) और स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञवाले (यतयः,संशित-व्रताः) यति तीक्ष्ण व्रतों वाले।

अ–इसी तरह और कई लोग द्रव्ययज्ञ (के करने) वाले तपयज्ञ (के करने) वाले, योगयज्ञ (के करने) वाले, स्वाध्याय यज्ञ (के करने) वाले, और ज्ञानयज्ञ (के करने) वाले हैं (यह सब) यति (अपने आपको बस में किये हुए) और तीक्ष्ण व्रतों वाले हैं।

भाष्य–द्रव्ययज्ञ=न्याय से कमाए हुए धन को परोपकार के कामों मे लगाना। तपयज्ञ=शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों का सहन करना। योगयज्ञ=फल कामना को त्यागकर कर्म का अनुष्ठान।

---

* आत्मसंयम=अपने आपको बस में करना, इस से प्राप्त जो परमात्मा के साथ योग, उस अग्नि में सारे इन्द्रियों के व्यापारों को और सारे प्राणों के व्यापारों को होमते हैं अर्थात् उनके जीवन की स्थिति का कर्म और इन्द्रिय साध्य अन्य कर्म सब परमात्मा के सम्बन्धमें होम होरहे हैं। क्योंकिवहउसीके प्रेममें कर्मकरतेहैं,और उसीके प्रेम में जाते हैं,यह प्रेम की अग्नि ज्ञान के पंखे से प्रदीप्त होती है। अथवा आत्मा में जो संयम अर्थात् चित्त का एकाग्र करना, यही योगाग्नि है, इसमें इन्द्रियों और प्राणों के कर्मों को होमते हैं अर्थात् इन्द्रिय और प्राण के कर्म को रोककर आत्मा में चित्त का समाधान करते हैं।

स्वाध्याययज्ञ=वेद तथा अन्य धर्म्म ग्रन्थों का अभ्यास। ज्ञानयज्ञ=तत्त्वों के अनुसन्धानादि से विविध विद्याओं का उपार्जन*।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

श–(अपाने, जुह्वति, प्राणं) अपान में होमते हैं प्राण को (प्राणे, अपानं) प्राण में अपान को (तथा, अपरे) इसी तरह और (प्राण-अपान-गती रुध्वा) प्राण और अपान की गती को रोक कर (प्राण-आयाम-परायणाः) प्राणायाम में लगे हुए।

अ–इसी तरह और लोग प्राण अपान की गति को रोककर प्राणायाम में तत्पर हुए प्राण को अपान में और अपान को प्राण में होमते हैं (प्राणायाम का अभ्यास करते हैं*)

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।

श–(अपरे, नियत-आहाराः) दूसरे नियमित भोजनवाले हुए (प्राणान्, प्राणेषु, जुह्वति) प्राणों को प्राणों में होमते हैं।

अ–कई एक नियमित भोजनवाले हुए प्राणों को प्राणों में होमते हैं (कुम्भक करते हैं। कुम्भक में सारे प्राण एक होजाते हैं)।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः। ३०
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्यकुतोऽन्यःकुरुसत्तम।

---

* वेदार्थ का विचार (श्रीरामानुजादि)

*अपान में प्राण को डालना पूरक और प्राण में अपान को डालना रेचक है।

श—(सर्वे, अपि,एते, यज्ञ-विदः, यज्ञ-क्षपित-कल्मषाः) सारे ही यह यज्ञ के जाननेवाले यज्ञ से नष्ट हुए पापोंवाले। ३०। (यज्ञ शिष्ट-अमृत-भुजः) यज्ञ से बचे हुए अमृत के खाने वाले (यान्ति, ब्रह्म, सनातनम्) प्राप्त होते हैं ब्रह्म सनातन को (न, अयं, लोकः, अस्ति, अ-यज्ञस्य) नहीं यह लोक है यज्ञहीन का (कुतः, अन्यः कुरु-सत्तम) कहां दूसरा हे कुरुओं में श्रेष्ठ !

अ—यह सब ही यज्ञ के जाननेवाले हैं यज्ञ से अपने पापों को नष्ट करके यज्ञ से ही बचे हुए अमृत* के खाने वाले होकर सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञहीन पुरुष का यह लोक (थोड़े सुखवाला भी) नहीं है, कहां दूसरा (परलोक वा आत्मलोक) हे कुरुओं में श्रेष्ठ ! ३१।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।

श—(एवं, बहु-विधाः, यज्ञाः) इस तरह बहुत प्रकार के यज्ञ (विततः,ब्रह्मणः,मुखे) फैले हुए वेद के मुख में (कर्म-जान्, विद्धि, तान्, सर्वान्) कर्म से उत्पन्न होनेवाला जान उन सब को (एवं, ज्ञात्वा, विमोक्ष्यसे) ऐसे जानकर मुक्त होजाएगा।

अ—इसतरह बहुत प्रकार के यज्ञ वेद के मुख में फैले हुए हैं (वेद द्वारा फैले हैं) उन सब को कर्म से उत्पन्न होनेवाला* जान ऐसा जानकर तू मुक्त होजायगा।

---

* यज्ञ शेष अर्थात् यज्ञ से बचा हुआ अन्न अमृत होता है क्योंकि अमृतत्वका देने वाला है।

* कायिक वाचिक वा मानस कर्म से इन सबकी उत्पत्ति है। इसलिये सभी यज्ञ कर्मजन्य हैं, नैष्कर्म्य रूप नहीं, अतएव कर्म में अकर्म देखनेवाला ही बुद्धिमान् है, नकि कर्मत्यागी (पूर्व १८)

संगति—सब प्रकार के यज्ञों को कर्मजन्य कहकर अब ज्ञान रहित कर्म से ज्ञान सहित की श्रेष्ठता दिखलाने के लिये ज्ञान की प्रशंसा करते हैं :—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३

श—(श्रेयान्, द्रव्यमयात्, यज्ञात्) श्रेष्ठ है द्रव्यमय यज्ञ से (ज्ञान-यज्ञः, परं-तप) ज्ञानयज्ञ हे शत्रुतापन (सर्वं, कर्म, अखिलं, पार्थ) हरएक कर्म पूरा हे पार्थ (ज्ञाने, परिसमाप्यते) ज्ञान में समाप्त होता है।

अ—हे परन्तप ज्ञानयज्ञ द्रव्यमय यज्ञ से* श्रेष्ठ है, हे पार्थ हर एक कर्म पूरा ज्ञान में (आकर) समाप्त होता है।

भाष्य—ज्ञानहीन कर्म द्रव्यमय यज्ञ है। वह ज्ञानमय से नीचे है, क्योंकि कर्म ज्ञान में पहुंचकर परिपूर्ण होता है, ज्ञान के बिना अधूरा है। यहां कर्म को ज्ञान के साथ मिला देना अभिप्रेत है, न कि कर्म छुड़वादेना, अतएव समाप्ति में कहेंगे " ज्ञानासिना छित्वैनं संशयंयोग मातिष्ठोत्तिष्ठ भारत (४०)।

संगति—उस ज्ञान की प्राप्ति का उपाय कहते हैं :—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ३४

श—(तत्, विद्धि, प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया) उसको सीख झुकने से पूछने से सेवा से (उपदेक्ष्यन्ति, ते, ज्ञानं) उपदेश

* द्रव्यमय यज्ञ = होम दानादि।

करेंगे तुझे ज्ञान (ज्ञानिनः, तत्त्व-दर्शिनः) ज्ञानी तत्त्व दर्शी।

अ–उस (ज्ञान) को तू झुकने से (शिष्य भाव से) पूछने से और सेवा से सीख। (इसप्रकार) तत्त्वदर्शी*(पदार्थों की असलीयत के जानने वाले) ज्ञानी तुझे ज्ञान उपदेश करेंगे।

संगति–ज्ञान का फल कहते हैं साढ़े तीन श्लोकों से–

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।

श–(यत्, ज्ञात्वा, न, पुनः) जिसको जानकर नहीं फिर (मोहं, एवं, यास्यसि, पाण्डव) मोह को इसप्रकार प्राप्त होगा हे पाण्डव (येन, भूतानि, अशेषेण) जिससे भूतों को सारे के सारे (द्रक्ष्यसि, आत्मनि) देखेगा आत्मा में (अथो, मयि) और मुझमें।

अ–जिस (ज्ञान) को जानकर (पाकर) (जैसे अब मोह को प्राप्त हुआ है) फिर इसप्रकार मोह को प्राप्त नहीं होगा हे पाण्डव! और जिससे सारे के सारे भूतों को आत्मा में देखेगा और मुझमें देखेगा†।

---

* जो तत्त्वदर्शी हैं उनसे उपदेश किया हुआ ज्ञान कार्य के समर्थ होता है, नकि दूसरा, इसलिए ज्ञानी का तत्त्वदर्शी विशेषण दिया है।

† अपने आत्मा में देखेगा, और मुझ परमेश्वर में देखेगा, इसप्रकार आत्मा और ईश्वर की एकता जो सारी उपनिषदों में प्रसिद्ध है, उसको तू देखेगा (श्री शंकराचार्य) "सारे आत्मा ज्ञान स्वरूप हैं, उनके स्वरूप में कोई भेद नहीं, भेद सारा प्रकृति के संसर्ग से है, सो जब तू इस संसर्ग से विमुक्त अपने शुद्धस्वरूप को देखेगा, तो सब भूतों को अपने आत्मा में देखेगा, अर्थात् प्रकृति के संसर्ग को छोड़कर सब भूत सम हैं, "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" (५। १९)। यह बात अपने आत्मा के

भाष्य—यह मोह तुझे इसलिये हुआ है, कि तू आत्मतत्त्व से अनजान है। जब तू तत्त्वदर्शियों के उपदेश से आत्मतत्त्व को देख लेगा। तब तुझे ऐसा मोह फिर कभी नहीं होगा, क्योंकि तू उस समय किसी भी देही को देह रूप में नहीं देखेगा, किन्तु हरएक को अजर अमर आत्मरूप में देखेगा, और उन सब के अन्दर उन सब से अलग एक अन्तर्यामी नियन्ता को देखेगा, जिसकी मर्यादा को कोई भी नहीं उलांघ सकता है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ ३६

श—(अपि, चेत्, असि) भी यदि है (पापेभ्यः, सर्वेभ्यः पाप-कृत्तमः) पापी सारों से पापिष्ठ (सर्वं, ज्ञान-प्लवेन, एव, वृजिनं, सन्तरिष्यसि) सारे ज्ञान की नौका से ही पाप को तर जायेगा।

अ—और यदि तू सारे भी पापियों से पापिष्ठ (बढ़कर पापी) है, तथापि तू ज्ञान की नौका से सारे पाप को तर जायगा (आत्मा और परमात्मा को साक्षात् होने पर फिर तुझे पाप नहीं छुएगा; और पहिली वासनाएं दग्ध होजाएंगी)

उदाहरण से जान लेगा। और मुझ में देखेगा अर्थात् परिशुद्ध हुआ आत्मतत्व हरएक परमात्मा के सदृश होजाता है, जैसा कि "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मुण्डक० ३।३) इत्यादि में नामरूप से निर्मुक्त आत्मवस्तु की परमात्मा के साथ स्वरूप की समता कही है; इसलिये प्रकृतसेनिर्मुक्त हरएक आत्मतत्व परस्पर सम होता है और सर्वेश्वर के सम होता है, यह आशय है (श्री रामानुजाचार्य)।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

श-(यथा, एधांसि, समिद्धः, अग्निः, भस्मसात्, कुरुते, अर्जुन) जैसे लकड़ियों को जलती हुई अग्नि भस्मीभूत करती है अर्जुन (ज्ञान-अग्निः, सर्व-कर्माणि, भस्मसात्, कुरुते, तथा) ज्ञानरूपी अग्नि सारे कर्मों को भस्मीभूत करती है वैसे ।

अ-हे अर्जुन ? जैसे जलती हुई अग्नि इन्धन को भस्म करती है, वैसे ज्ञानरूपी अग्नि सारे कर्मों को भस्मीभूत करती है ।

भाष्य-कर्म तीन प्रकार के होते हैं (१) प्रारब्ध=जो अपना फल दे रहे हैं (२) सञ्चित=जो किये जाचुके हैं, पर फल अभी देने नहीं लगे,यूंही पड़े हैं,(३)वर्त्तमान=जो किये जारहे हैं। इनमें से प्रारब्ध तो फल दे रहे हैं, वह भुक्त लिये जाते हैं । सञ्चित और वर्त्तमान कर्म ज्ञान के प्रभाव से भस्मीभूत अर्थात् निर्बीज होजाते हैं । आगे को जन्म आरम्भ नहीं करते हैं ।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।

श-(न, हि, ज्ञानेन, सदृशं, पवित्रं) नहीं निःसन्देह ज्ञान के बराबर पवित्र (इह, विद्यते) यहां है (तत्, स्वयं, योग-संसिद्धः) उसको स्वयं योग से सिद्ध हुआ (कालेन,आत्मनि,विन्दति)समय से आत्मा में पालेता है ।

अ-निःसन्देह ज्ञान के बराबर यहां (कोई वस्तु) पवित्र नहीं है, उस (ज्ञान) को (कर्म-) योग से सिद्ध हुआ पुरुष स्वयं समय

पाकर अपने आत्मा में पालेता है। (कर्म करते २ ज्ञान मिलता है।

संगति–जिससे नियमतः ज्ञान की प्राप्ति होती है, वह उपाय बतलाते हैं :–

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वापरां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।

श–(श्रद्धावान्,लभते,ज्ञानं) श्रद्धावाला प्राप्त होता है ज्ञान को (तत्-परः, संयत-इन्द्रियः) उसमें लगा हुआ, इन्द्रियों को जिसने बस में किया है (ज्ञानं, लब्ध्वा, परां, शान्ति, अचिरेण, अधिगच्छति) ज्ञान को पाकर परमशान्ति को जल्दी प्राप्त होता है।

अ–श्रद्धावाला तत्पर हुआ और इन्द्रियों को जिसने वस में किया हुआ है, ऐसा पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है, और ज्ञान को पाकर जल्दी परम शान्ति को प्राप्त होता है।

भाष्य–श्रद्धालु ही ज्ञान को प्राप्त होता है, श्रद्धालु होने पर भी कोई मन्दगति (सुस्त)होसक्ता है, इसलिये कहा है-तत्पर हुआ उसमें लगा हुआ, तत्पर भी अजितेन्द्रिय हो सक्ता है, इसलिये कहा है इन्द्रियों को जिसने वस में किया हुआ है। यही ज्ञानप्राप्ति के न चूकने वाले साधन हैं। पूर्व (३४) जो झुकना आदि कहे हैं, वह गुरु के चित्त को अपनी ओर झुकाने के लिये हैं।

संगति–ज्ञानकाधिकारी कहकर उसके विपरीत अनधिकारी कहते हैं :–

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।

श-(अज्ञः, च, अ-श्रद्दधानः, च, संशय-आत्मा, विनश्यति) अज्ञानी और श्रद्धाहीन और संशयात्मा नष्ट होता है (न, अयं, लोकः अस्ति, न, परः) न यह लोक है न दूसरा (न, सुखं, संशयात्मनः) न सुख संशयात्मा को।

अ—पर ज्ञानहीन श्रद्धाहीन और संशयात्मा (जिसका मन संशय से भरा रहता है) पुरुष नष्ट होता है। संशयात्मा का न यह लोक है, न परलोक है, न उसको सुख है (संशयात्मा का न व्यवहार सिद्ध होता है न परमार्थ, अतएव उसे कोई सुख नहीं होता)।

संगति—अब अध्याय की समाप्ति में मुख्य वक्तव्य ज्ञान कर्म और भक्ति का समुच्चय कहते हैं—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ४१

श—(योग-संन्यस्त-कर्माणं, ज्ञान-संछिन्न-संशयं) योग से त्यागे हैं कर्म जिसने, ज्ञान से काट दिया है संशय जिसने (आत्मवन्तं) अप्रमत्त को (न, कर्माणि, निबध्नन्ति, धनञ्जय) नहीं कर्म बांधते हैं हे धनञ्जय

अ—(कर्म-) योग*से जिसने कर्म (ब्रह्म के) समर्पण किये हैं, और ज्ञान से जिसके संशय कट गए हैं ऐसे अप्रमादी (सावधान) पुरुष को हे धनञ्जय कर्म नहीं बांधते हैं।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।

---

*ज्ञानयोग से जिसने सारे कर्म त्याग दिये हैं (शंकराचार्य) पर इस अर्थ में "कर्म नहीं बांधते" यह कहना व्यर्थ होजाता है, जब कर्म त्यागही दिये तो उनका बांधना न बांधना क्या। इसलिये "मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य" की तरह यहां समर्पण अर्थ है।

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।४२

श-(तस्मात्, अज्ञान-संभूतं) इसलिये अज्ञान से उत्पन्न हुए (हृत्-स्थं, ज्ञान-असिना, आत्मनः) हृदय में स्थित को ज्ञान के खड्ग से अपने (छित्वा, एनं, संशयं) काटकर इस संशय को (योगं, आतिष्ठ) योग कर (उत्तिष्ठ, भारत) उठ हे भारत।

अ-इसलिये अज्ञान से उत्पन्न हुए, हृदय में ठहरे हुए अपने इस संशय को ज्ञान के खड्ग से काटकर (कर्म-) योग का अनुष्ठान कर, उठ हे भारत!

इति श्री मद्भगवद्गीता० यज्ञविभागयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः

संगति—'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परि समाप्यते' (४-३३) इससे ज्ञान में सम्पूर्ण कर्मों की समाप्ति कह कर, 'योग मातिष्ठोत्तिष्ठ भारत' (४।४२) इस से फिर कर्म में प्रेरणा करना संशयजनक है, इस लिये फिर—

अर्जुन उवाच-अर्जुन पूछता है।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥१॥

श-(संन्यासं, कर्मणां, कृष्ण) त्याग कर्मों का हे कृष्ण (पुनः,योगं,च,शंससि) और फिर योग की प्रशंसा करता है (यत्, श्रेयः, एतयोः, एकं) जो श्रेष्ठ इन दोनों में से एक (तत्, मे, ब्रूहि, सु-निश्चितं) वह मुझे कहो ठीक निश्चय से।

अ-हे कृष्ण! तू कर्मों का त्याग और फिर योग की प्रशंसा करता है, जो इन दोनों मेंसे श्रेष्ठ है, वह एक मुझे ठीक निश्चय से कहो।

श्री भगवानुवाच-श्री भगवान् उत्तर देते हैं

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते२।

श–(संन्यासः, कर्म–योगः, च) त्याग और कर्मयोग (निः श्रेयस-करौ, उभौ) मोक्ष देने वाले दोनों (तयोः,तु, कर्म-संन्यासव्) उनमें से पर कर्म के त्याग से (कर्म–योगः,विशिष्यते)कर्मयोग विशेष है।

अ–त्याग और कर्मयोग दोनों मोक्ष के देने वाले हैं, तथापि उन दोनों में से कर्म के त्याग से कर्मयोग विशेष है।

भाष्य–त्याग=ज्ञान योग में अभिरत होकर कर्म का त्याग* भी मोक्ष का साधन है, और कर्मयोग भी। तथापि त्याग से योग इस लिये विशेष है, कि कर्मयोग से दुहरी पूजा परमात्मा की होती है कर्म द्वारा भी और ज्ञान द्वारा भी। अतएव इस में फिसलने का भय नहीं रहता, और लोक की भलाई भी होती है जो कि परमेश्वर को प्यारी है।

संगति–कर्मयोग कैसे विशेष है? इस आकांक्षा में संन्यास-रूप कर्म योग की श्रेष्ठता दिखलाते हैं—

ज्ञेयःस नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते३॥

श–(ज्ञेयः, सः, नित्य–संन्यासी) जानना चाहिये वह नित्य संन्यासी (यः, न, द्वेष्टि,न, काङ्क्षति) जो न द्वेष करता है न इच्छा करता है (निर्-द्वन्द्वः, हि, महा-बहो) द्वन्द्व से रहित क्योंकि हे महाबाहो (सुखं,बन्धात्,प्रमुच्यते) आसानी से बन्धन से छूट जाता है।

अ–उस (कर्म योगी) को नित्यसंन्यासी (कर्म काल में भी

---

*ऐसा ही त्याग यहां अभिप्रेत है,यूं ही कर्म का त्याग अभिप्रेत नहीं, क्योंकि वह मोक्ष का साधन नहीं, नरक का साधन है

संन्यासी) जानना चाहिये, जो (दुःख सुख वा उनके साधनों को) न द्वेष करता है न चाहता है, क्योंकि हे महाबहो ! द्वन्द्व रहित पुरुष अनायास बन्धन से छूट जाता है।

संगति—ज्ञान योग और कर्म की फल द्वारा एकता दिखलाते हैं-

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः
एकमप्यास्थितःसम्यगुभयोर्विंदन्ते फलम्॥४॥

श—(सांख्य—योगौ, पृथक्) सांख्य योग को अलग २ (बालाः, प्रवदन्ति, न, पण्डिताः) बालक कहते हैं नहीं पण्डित (एकं अपि, आस्थितः,सम्यक्) एक को भी पकड़े हुए ठीक २ (उभयोः, विन्दते, फलम्) दोनों के पालेता है फलको ।

अ—सांख्य और योग*को बाल अलग२कहते हैं न कि पण्डित। एक में भी ठीक २ स्थिर हुआ पुरुष दोनों के फल को पालेता है

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति

श—(यत्, सांख्यैः, प्राप्यते, स्थानं) जो सांख्यवालों से प्राप्त किया जाता है स्थान (तत्, योगैः,अपि,गम्यते) वह योग वालों से भी प्राप्त किया जाता है (एकं, सांख्यं, च, योग, च, यः, पश्यति) एक सांख्य और योग को जो देखता है (सः,पश्यति) वह देखता है

अ—जिस स्थान (दर्जे अर्थात् मोक्ष) को सांख्य वाले प्राप्त होते हैं, उस को योग वाले भी प्राप्त होते हैं। जो सांख्य और योग को एक देखता है (न कि अलग) वह देखता है (वह सम्यग्दर्शी है)।

---

*सांख्य = ज्ञान और योग-कर्म योग श्रीकृष्ण के इस उत्तर से ही स्पष्टप्रतीत होता है, कि त्याग से यहां केवल त्याग अभिप्रेत नहीं, किन्तु ज्ञानयोग अभिप्रेत है ।

संगति–इस प्रकार दोनों में एकता दिखला कर अब योग में विशेषता दिखलाते हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति६।

श–(संन्यासः, तु, महाबाहो) संन्यास पर हे महाबाहो (दुःखं आप्तुं, अ–योगतः) दुःख प्राप्त होने को विना योगे के (योग-युक्तः, मुनिः) योग से युक्त मुनि (ब्रह्म, न, चिरेण, अधि गच्छति) ब्रह्म को न चिर से प्राप्त होता है।

अ–पर हे महाबाहो ! संन्यास विना योग के पाना बड़ा कठिन है, हां योग से युक्त हुआ मुनि जल्दी ब्रह्म को प्राप्त होता है

संगति–कर्म योग किस तरह कर्मत्याग रूप हो जाता है, यह स्फुट करते हैं–

योगयुक्तोविशुद्धात्माविजितात्माजितेन्द्रियः
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते७।।

श–(योग–युक्तः,विशुद्ध–आत्मा) योग से युक्त शुद्धात्मा (विजित–आत्मा,जित–इन्द्रियः) जीता है आत्मा जिसने जीते हैं इन्द्रिय जिसने (सर्व–भूत–आत्मभूत–आत्मा) सारे भूतों का आत्मा हुआ हुआ है आत्मा जिस का (कुर्वन्,अपि, न, लिप्यते) करता हुआ भी नहीं लिप्त होता है।

अ–(कर्म-) योग से युक्त, शुद्धात्मा, कि जिसने मन और इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसका आत्मा सारे भूतों का आत्मा

हुआ हुआ है* वह (कर्म) करता हुआ भी लिप्त नहीं होता है ।

संगति–" कुर्वन्नपि न लिप्यते " इसको विवृत करते हैं—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तोमन्येततत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्व-
सन्। प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि
इन्द्रियाणींद्रियार्थेषु वर्तन्ते इति धारयन्॥९

श–(न, एव, किञ्चित, करोमि, इति) नहीं ही कुछ करता हूं ऐसा (युक्तः, मन्येत, तत्त्वविद्) सावधान हुआ समझे तत्त्ववेत्ता (पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्) देखता सुनता छूता सूंघता हुआ (अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन्) खाता चलता सोता सांस लेता हुआ । ८ । (प्रलपन्, विसृजन्, गृह्णन्,) बोलता त्यागता ग्रहण करता हुआ (उन्मिषन्, निमिषन्, अपि) खोलता हुआ

---

*जिस का आत्मा सारे भूतोंका आत्मा हुआ हुआहै, अर्थात् जिस को सब में अपने आत्मा तुल्य प्रेमहै, जैसाकि आगे ५ । १८ में कहेंगे अथवा सारे भूतों का प्रेमस्थान, जिस को सब भूत चाहते हैं। देखो बृह०(१।४।१६)'सारेभूतोंका आत्मा है आत्मा जिसका, अर्थात् सम्यग् दर्शी अभेद दर्शी(श्रीशंकराचार्य) सारे भूतों का आत्म भूत है आत्मा जिसका अर्थात् जो आत्मा की यथार्थता का चिन्तन कर रहा है, इसको सारे भूतों का और अपना आत्मा एक तुल्य प्रतीत होता है, जो देव मनुष्यादि भेद हैं, वह प्रकृति के परिणामविशेष होने से आत्मा का स्वरूप नहीं होसक्ते । प्रकृति से अलग आत्मा सर्वत्र ज्ञान रूप होने से एक रूपहै, जैसाकि कहेंगे 'निर्दोषंहि समं ब्रह्म' (५ । १९) (श्रीरामानुज)

मून्दता हुआ भी (इन्द्रियाणि, इन्द्रिय-अर्थेषु, वर्त्तन्ते, इति, धारयन्) इन्द्रिय इन्द्रियों के विषयों में बर्तते हैं यह धारणा करता हुआ।

अ–एक सावधान तत्त्ववेत्ता देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, बोलता हुआ, (मल और मूत्र को) त्यागता हुआ (किसी वस्तु को) ग्रहण करता हुआ (आंखों को) खोलता हुआ वा मून्दता हुआ भी (इस प्रकार कर्म करता हुआ भी) इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों में बर्तती हैं, ऐसी धारणा करता हुआ यह समझे, कि 'मैं कुछ नहीं करता हूं" ।

भाष्य–यह उस पुरुष की धारणा होसक्ती है, जिसमें कोई राग द्वेष नहीं। जब उसके प्रेरक राग द्वेष नहीं होते, तब उसके प्रेरक परमात्मा होते हैं, अतएव कहा है " पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्त्वमेति" अलग आत्मा और उसके प्रेरने वाले को जानकर उस (प्रेरनेवाले) से प्यार किया हुआ तब अमृ-तत्त्व को प्राप्त होता है (श्वे० १।६) यही प्रार्थना " धियो यो नः प्रचोदयात् " से की गई है। परमात्मा ने इन्द्रिय निष्प्रयोजन नहीं बनाये, तथापि परमात्मा के अभिप्राय के विरुद्ध उनसे पापकर्म भी होता है,पर यह पाप राग द्वेष के अधीन प्रवृत्ति होने से ही होता है, जब इन्द्रिय राग द्वेषसे वियुक्त होते हैं तो उनकी प्रवृत्ति परमात्मा के अभिप्राय के अनुकूल होती है। इस प्रवृत्तिमेंही उसकी ऐसी धारणा हो सकती है, इतरथा ऐसी धारणा मिथ्या है; ऐसी धारणा उत्पन्न करके ही साधक को समझना चाहिये, कि मैं कुछ नहीं करता हूं,इससे पूर्व नहीं। क्योंकि अब तो जो कुछ उससे परमात्मा करवाते हैं वहही उस से होता है। सो इतने अंश में वह अकर्त्ता है। यह तात्पर्य नहीं,

कि वह कर्त्ता है ही नहीं, अतएव कहा है "मन्येत"=समझे, न कि "मन्यते"=समझता है, सो वेदान्त २।३।३३ से ३९ तक आत्मा को कर्त्ता सविस्तर सिद्ध किया है। *

संगति–इस तत्त्व को स्वयं स्फुट करते हैं:–

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०

श–(ब्रह्मणि, आधाय, कर्माणि) परमात्मा पर डालकर कर्मों को (संगं, त्यक्त्वा, करोति, यः) सङ्ग को त्यागकर करता है जो (लिप्यते, न, सः, पापेन) लिप्त होता है नहीं वह पाप से (पद्म-पत्रं, इव, अम्भसा) पद्म का पत्ता जैसे पानी से।

अ–जो कर्मों को परमात्मा † पर डालकर अपना संग त्याग कर करता है, वह पाप से लिप्त नहीं होता, जैसे पद्म का पत्ता

---

* यह समझे कि "मैं जो केवल ज्ञानस्वभाव हूं, मुझ में ऐसा कर्तृत्व-कर्म की जड़ जो इन्द्रिय और प्राण हैं-उनके सम्बन्ध से है, नकि स्वरूप से (श्री रामानुज) 'वास्तव में आत्मा कर्त्ता है ही नहीं, कर्तृत्व आदि भेद दृष्टि सब मिथ्या ही है। (श्री शंकराचार्य)।

† श्री रामानुज और उसके अनुयायी श्री बलदेव ने यहां ब्रह्म से प्रकृति ली है "मम योनिर्महद् ब्रह्म" (१४।३) में ब्रह्म से प्रकृति कहेंगे। सो इन्द्रिय प्रकृतिका परिणाम हैं, इसलिये कर्मों को प्रकृतिरूप इन्द्रियों में डालकर और फल के संग को त्यागकर "मैं कुछ नहीं करता हूं" इस प्रकार जो कर्मों को करता है वह प्रकृतिके संसर्ग से कर्म करता हुआ भी प्रकृति में आत्माभिमान रूप जो पाप है, उससे लिप्त नहीं होता। (यह अभिप्राय पूर्वोक्त ३।२७, २८ और वक्ष्यमाण ५।१४ के आश्रय से लिया गया है)

पानी से) (बन्धन का हेतु होने से यहां पाप से पुण्य पाप दोनों विवक्षित हैं, अर्थात् वह कर्म करता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसकी इच्छा परमात्मा की इच्छा के अधीन होती है)

संगति–इसप्रकार कर्म करने में सदाचार दिखलाते हैं :–

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ११

श–(कायेन, मनसा, बुद्ध्या) शरीर से मन से बुद्धि से (केवलैः, इन्द्रियैः, अपि) केवल इन्द्रियों से भी (योगिनः, कर्म, कुर्वन्ति) योगी कर्म करते हैं (संगं, त्यक्त्वा, आत्म-शुद्धये) संग त्यागकर आत्मा की शुद्धि के लिये ।

अ–योगीजन संग त्यागकर शरीर से मन से और केवल इन्द्रियों से भी आत्मा की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं ।

भाष्य–संग त्याग ही त्याग है, न कि स्वरूप से कर्म का त्याग। संग ही आत्मा को अशुद्ध बनाता है, इसी के त्याग से उसकी शुद्धि होती है ।

संगति–इसी कर्म से कोई मुक्त होता है कोई बद्ध होता है, यह व्यवस्था किसप्रकार है ? यह बतलाते हैं:–

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठकीम् ।अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

श–(युक्तः, कर्म-फलं, त्यक्त्वा) युक्त हुआ कर्म के फल को त्यागकर (शान्ति, आप्नोति, नैष्ठिकीं) शान्ति को प्राप्त होता है स्थिर

(अयुक्तः, कामकारेण, फले, सक्तः निबध्यते) असावधान कामना से प्रवृत्तिद्वारा फल में आसक्त हुआ बद्ध होता है।

अ–युक्त (अन्तर्मुख वा सावधान) हुआ कर्म के फल को त्यागकर सदा रहनेवाली शान्ति को प्राप्त होता है, और अयुक्त (बहिर्मुख वा असावधान) होकर कामना से प्रवृत्तिद्वारा फल में आसक्त हुआ बद्ध होता है।

संगति–परमार्थदर्शी की स्थिति सर्वदा एकरस होती है, यह दिखलाते हैं :–

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३

श–(सर्व-कर्माणि, मनसा, संन्यस्य) सारे कर्मों को मन से छोड़कर (आस्ते, सुखं, वशी) रहता है सुख से वशी (नव-द्वारे पुरे, देही) नौ द्वारोंवाले पुर में देही (न, एव, कुर्वन्, न, कारयन्) न ही करता हुआ न कराता हुआ।

अ–सारे कर्मों को मन से (अन्तर्यामी पर) छोड़कर देही (देह का मालिक) वशी (सब जिसके बस में है, अर्थात् राजा बनकर) नौ द्वारोंवाले पुर में सुख से रहता है स्वयं न करता हुआ और न कराता हुआ।

भाष्य–नौ द्वारवाला पुर=शरीर, जिसको ब्रह्मपुर भी कहते हैं। नौ द्वार-दो आंख, दो कान, दो नासिका और एक मुख, यह सात सिर में के द्वार, और मल मूत्र के त्यागने के दो द्वार। जब अपनी इच्छा अन्तर्यामी की इच्छा के अधीन होगई, तो करना कराना सब उसी का होगया, अतएव वह करता कराता हुआ भी

सदा एकरस रहता है। श्री रामानुज के अभिप्राय से प्रकृति में यहां कर्मों का त्याग कहा है।

संगति—आत्मा का साक्षात् स्वरूप जो प्रकृति के संसर्ग से अलग स्वाभाविक स्वरूप है, उसका वर्णन करते हैं :—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ १४

शं—(न, कर्तृत्वं, न, कर्माणि) न कर्तृत्व न कर्म (लोकस्य, सृजति, प्रभुः) लोक का रचता है मालिक (न, कर्म-फल-संयोगं) न कर्मों के फल का सम्बन्ध (स्वभावः, तु, प्रवर्तते) स्वभाव किन्तु प्रवृत्त होता है।

अ—मालिक (देहि आत्मा) न लोक (मनुष्य आदि) के कर्तृत्व को न कर्मों को न कर्मों के फल के सम्बन्ध को रचता है, किन्तु स्वभाव प्रकट होता है।

भाष्य—आत्मा स्वरूप से न कर्त्ता है, अतएव स्वरूप से न कर्म उसके हैं, न कर्मों का फल उसका है, क्योंकि वह ज्ञानैकस्वरूप है और अविकार्य (जिसमें कोई तबदीली नहीं होती) है। यदि कर्म की उत्पत्ति उसके स्वरूप में हो, तो विकार्य (बदलने वाला) ठहरता है, जब स्वरूप से उसमें कर्म नहीं, तो वह स्वरूप से कर्त्ता भी नहीं, अतएव कर्मफल का सम्बन्ध भी उसमें नहीं होता। (प्रश्न) तब यह जो कर्तृत्व आदि देखा जाता है, यह किसमें हैं, इसको कौन रचता है (उत्तर) इसका रचनेवाला स्वभाव है, पूर्वले ज्ञान और कर्म की वासनाएं जो अन्तःकरण में हैं, वह इस सजीव मनुष्यादि को करने में प्रेरती हैं, इसलिये परमार्थ में कर्तृत्व कर्म और कर्म फल का

संयोग इन वासनाओं से रचित हैं, अतएव हरएक प्राणी अपनी २ वासनाओं के अनुसार ही चेष्टा करता है, मनुष्य मनुष्य के सदृश और पशु पशु के सदृश चेष्टा करता है, यदि यह चेष्टाएं सीधी आत्मा से हों, तो आत्मा सब में सम होने से सर्वत्र सम ही चेष्टाएं होनी चाहियें। फिर मनुष्यों में भी हरएक अपनी २ ही वासनाओं के सदृश चेष्टा करता है, और जैसी वासनाओं की उसमें अधिकता होती है, वही काम उससे उत्तम बनता है। अतएव स्वभावतः एक एक विषय में और दूसरा दूसरे विषय में रुचि रखता है "भिन्नरुचिर्हि लोकः" और किसी से एक काम अच्छा होसक्ता है, दूसरा नहीं, दूसरे से दूसरा अच्छा होसक्ता है और वह पहला नहीं, एक, एक में योग्य और दूसरे में अयोग्य है, दूसरा दूसरे में योग्य और पहले में अयोग्य है, सर्वथा अयोग्य कोई भी नहीं अतएव कहा है "अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः"=पुरुष कोई अयोग्य नहीं, हां जोड़नेवाला दुर्लभ है। सो यह कर्तृत्व आदि वासना कृत हैं।

संगति-(प्रश्न) वासनाएं भी तो आत्मा पर होती हैं, इस लिये फिर भी कर्तृत्व आदि का रचने वाला आत्मा ही ठहरता है इस का उत्तर देते हैं।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः १५

श-(न, आदत्ते, कस्यचित्, पापं) नहीं लेता है किसी के पाप को (न, च, एव, सुकृतं, विभुः) और न ही पुण्य को मालिक (अ-ज्ञानने, आवृतं, ज्ञानं) अज्ञान से ढपा हुआ ज्ञान (तेन, मुह्यन्ति, जन्तवः) उससे धोखा खाते हैं लोग।

अ–(देहका) स्वामी न किसी के पाप को और न ही पुण्य को ग्रहण करता है, किन्तु ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है, इसलिये लोग धोखा खाते हैं।

भाष्य–पाप और पुण्य की वासनाएं जो फल देती हैं, और आगे को स्वभाव बनती हैं, वह आत्मा के स्वरूप पर नहीं पड़तीं, किन्तु अन्तःकरण पर ही पड़ती हैं, अतएव सुषुप्ति के वर्णन में कहा है "अनन्वागतं पुण्येन अनन्वागतं पापेन"–पुण्य (इस स्वरूपके) पीछे नहीं आया है पाप पीछे नहीं आया है (बृह० (३।२२) इसी स्वरूप को लेकर कहा है "असंगो ह्ययं पुरुषः"= 'असंग है निःसंदेह यह पुरुष" (बृह० ४।३।१५–१६) सो अविकार्य आत्मा वस्तुतः इन सारे विकारों से असंग रहता है, यह विकार अन्तःकरण में ही होते हैं। यह तत्त्व है जिस को लोग न जान कर धोखा खाते हैं, कि आत्मा सर्वथा स्वतन्त्र होकर करता है, कर्म उसमें होते हैं अतए पाप पुण्य उस में लिप्त होते हैं और उसी में फल का संयोग होता है (प्रश्न) 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (वेदान्त० २।३।३३) इत्यादि में आत्मा को कर्ता सिद्ध किया है यहां उसको अकर्ता कैसे कहा? (उत्तर) यहां भी उसको अकर्ता नहीं कहा, किन्तु कर्तृत्वादि का रचने वाला वह स्वतः नहीं, यह कहा है, और यही युक्तियुक्त है, जैसाकि पूर्व दिखला दिया है अतएव यहां भी पूर्व (८) 'मन्येत' समझे, कहा है, अर्थात् कर्ता तो वह है, पर वह ऐसा समझे (प्रश्न) यदि यह सारी चेष्टा स्वभाव की है, तो फिर पुरुष स्वतन्त्र कैसे होसक्ता है? (उत्तर) सर्वथा स्वतन्त्र नहीं होसक्ता है, उसकी प्रवृत्ति स्वभाव के अनुसार ही होती है। तथापि अपने स्वभावतः प्राप्त कर्म को भला बुरा बनाने

में स्वतन्त्र है। जैसे हर एक पुरुष सैनिक (फौजी सिपाही) नहीं बन सक्ता, अतएव गौरमिन्ट. बनिये ब्राह्मणों को सेना में भरती नहीं करती, सो हम कह सकते हैं कि सेना में प्रविष्ट होने की योग्यता में पुरुष स्वतन्त्र नहीं, पर जिस में यह योग्यता है, वह अब अच्छा सैनिक बने वा बुरा, इसमें उसकी स्वतन्त्रता है। एक स्थूल दृष्टान्त से यह बात इस तरह पर विवृत हो सक्ती है, कि एक घोड़े को लम्बे रस्से के साथ घास के एक बड़े खेत में बांधा गया है, अब जहां तक रस्सा उस को जाने देता है, वहां तक ही वह जासक्ता है, परे नहीं। पर जहां तक वह फिर सक्ता है उस में उसकी स्वतन्त्रता है, यहां बैठे वा वहां, यहां चरे वा वहां। इसी तरह मनुष्य भी स्वभाव की रस्सी से बन्धा हुआ है, पर अपनी हद में उसकी स्वतन्त्रता है, जिस कर्म के योग्य है, उसको पाप रूप बनाए वा पुण्यरूप। क्षत्रियोचित स्वभाव के पाने में स्वतन्त्र नहीं, पर उसको पाकर डाके मारे वा युद्धों में मर्यादा के अन्दर रहकर सन्मुख लड़े, इसमें स्वतन्त्र है। *

संगति–ज्ञानी धोखे में नहीं होते हैं, यह दखलाते हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

श–(ज्ञानेन, तु, तत्. अज्ञानं) ज्ञान से पर वह अज्ञान (येषां,

*यह दो श्लोक थे जिन के मर्म को पूरी तरह समझाना चाहिए था, बहुत व्यर्थ लम्बी व्याख्या करने वाले टीकाकार यहां प्रायः चुपचाप निकल गए हैं॥

नाशितं, आत्मनः) जिनका नाश होगया है आत्मा का (तेषां, आदित्यवत्, ज्ञानं, प्रकाशयति, तत्, परं) उनका सूर्यवत् ज्ञान प्रकाशित करता है उस पर को।

अ—पर जिनका वह अज्ञान आत्मा के ज्ञान से नाश होगया है, उनका ज्ञान सूर्यवत् उस पर (सब से परले तत्त्व परमात्मा) को प्रकाशित करता है।

भाष्य—जब पुरुष आत्मतत्त्व को देख लेता है, तो फिर आत्म-तत्त्व से परमात्मतत्त्व को देखता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः १७

श—(तत्-बुद्धयः, तत्-आत्मनः) उसमें बुद्धिवाले उसमें आत्मावाले (तत्-निष्ठाः, तत्-पर-अयनाः) उसमें निष्ठावाले वही परम आश्रय है जिनका (गच्छन्ति, अ-पुनरावृत्तिं) प्राप्त होते हैं अपुनरावृत्ति को (ज्ञान-निर्धूत-कल्मषाः) ज्ञान से झाड़ दी है मल जिन्हों ने।

अ—उस में (ब्रह्म में) जिन की बुद्धि है, उस में जिन का आत्मा है, उसमें जिनकी निष्ठा (दृढ़स्थिति) है, और वही जिनका परम आश्रय है, ऐसे पुरुष ज्ञान से मल (अज्ञान वा पाप) को झाड़कर अपुनरावृत्ति*को प्राप्त होते हैं।

---

* अपुनरावृत्ति = फिर न लौटना, अर्थात् ब्रह्म लोक को प्राप्त होते हैं, जहां से फिर नहीं लौटते। यह फिर न लौटनेका अभिप्राय महाप्रलय तकही युक्तियुक्त होसक्ता है। सविस्तर देखो उपनिषदों की भूमिका(विषय८०)और उपनिषदों की शिक्षा(अ८पृष्ठ२५८-२६६)

संगति—ईश्वर परायण जनों की परलोक गति कहकर अब उनका लोक में व्यवहार बतलाते हैं :—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः १८

श—(विद्या-विनय- सम्पन्ने, ब्राह्मणे) विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में (गवि,हस्तिनि) गौ में हाथी में (शुनि,च,एव, श्वपाके, च) और कुत्ते में और चाण्डाल में (पण्डिताः,सम-दर्शिनः) पण्डित समदर्शी होते हैं ।

अ—पण्डितजन विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में समदर्शी * होते हैं ।

भाष्य—ईश्वरपरायणजनों का आत्मा इतना उदार होजाता है कि जैसा कल्याण वह एक विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण का चाहते हैं, वैसाही एक चाण्डाल का चाहते हैं, अपितु प्राणीमात्र का वैसाही भला चाहते हैं। परमात्मा की सारी प्रजा को एक दृष्टि से देखते हैं। उनमें घृणा किसी के लिये नहीं रहती ।

यहां विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण और चाण्डाल में कर्म से विषमता और गौ हाथी आदि में जाति से विषमता है ।

---

* सब में सम अर्थात् एक विकार से रहित जो ब्रह्म है उसके देखने वाले,सब में एक ब्रह्म को देखने वाले (श्रीशंकराचार्य) प्रकाशतः ब्राह्मण गौ आदि में आत्मा अत्यन्त विषम प्रतीत होता है, पर आत्मतत्त्व के जानने वाले पण्डितजन ज्ञानस्वरूप से सर्वत्र समदर्शी होते हैं, वह देखते हैं कि यह विषमता प्रकृति की है आत्मा की नहीं, आत्मा तो सर्वत्र ज्ञानस्वरूप सम (एक जैसा) है (श्रीरामानुज)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।

श–(इह, एव, तैः, जितः, सर्गः) यहां ही उन्हों ने जीत ली है सृष्टि (येषां, साम्ये, स्थितं, मनः) जिनका समता में स्थित मन (निर्-दोषं, हि, समं, ब्रह्म) दोषों से रहित क्योंकि सम ब्रह्म (तस्मात्, ब्रह्मणि, ते, स्थिताः) इसलिये ब्रह्म में वह स्थित हैं।

अ–यहां ही उन्हों ने सृष्टि को जीत लिया है, जिनका मन समता में स्थित है, क्योंकि ब्रह्म दोषों से रहित है और सम है * इस लिये वह (घृणादि दोषों से रहित समदर्शी पुरुष) ब्रह्म में स्थित हैं।

भाष्य–जो सारे संसार के भले में है, उसने सारे संसार को को जीत लिया है "यथाहवै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवꣳहैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति"=जैसे कोई अपने लोकके लिये भला चाहे, इसप्रकार इस (रहस्य) के जानने वाले के लिये सारे भूत भला चाहते हैं (बृह० १।४।१६) ऐसे पुरुष संसार (दुनिया) में रहते हुए भी ब्रह्म में रहते हैं, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष है और सम है। सदोष होना और विषम होना संसार का रूप है निर्दोष होना और सम होना ब्रह्म का।

---

* दोषवाले चाण्डालादि में आत्मा को मूढपुरुष उनके दोषोंसे दोष वाला समझते हैं, पर वह उन दोषों से रहित सब में सम (एक) है (श्री शंकराचार्य) ब्रह्म अर्थात् आत्मा, प्रकृति के संसर्ग-दोषों से अलग हुआ सब में सम (एक तुल्य) हैं, इसलिये वह ब्रह्म में स्थित है, जब आत्मा की समता में स्थित है, तो वह ब्रह्म में स्थित है, और ब्रह्म में स्थिति ही संसार का जय है (श्रीरामानुज)।

संगति–जिसप्रकार से वर्तते हुए कर्मयोगी को समदर्शिता प्राप्त होती है, उसप्रकार का उपदेश करते हैं :—

नप्रहृष्येत्प्रियंप्राप्यनोद्विजेत्प्राप्यचाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः २०

श–(न, प्रहृष्येत्, प्रियं, प्राप्य) न प्रसन्न हो प्रिय को पाकर (न,उद्विजेत्,प्राप्य,च,अप्रियं) और न दुःखी हो पाकर अप्रिय को (स्थिर-बुद्धिः, अ-संमूढः) निश्चल बुद्धिवाला अज्ञान से शून्य (ब्रह्मवित्, ब्रह्मणि, स्थितः) ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म में स्थित ।

अ–प्रिय (वस्तु) को पाकर प्रसन्न न हो, और अप्रिय को पाकर दुःखी न हो, स्थिर बुद्धिवाला, अज्ञान से शून्य, ब्रह्म का जाननेवाला, ब्रह्म में स्थित हो।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्माविन्दत्यात्मनियत्सुखम्
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते॥२१

श–(बाह्य-स्पर्शेषु, अ-सक्त-आत्मा) बाहर के विषयों में नहीं फंसा है आत्मा जिस का (विन्दति, आत्मनि, यत्, सुखं) पाता है आत्मा में जो सुख (सः, ब्रह्म-योग-युक्त-आत्मा) वह ब्रह्म में योग से युक्त आत्मा वाला (सुखं, अक्षय्यं, अश्नुते) सुख न नाश होने वाले को भोगता है ।

अ–(इस तरह उक्त प्रकार से) बाहर के विषयों में जिसका आत्मा फंसा हुआ नहीं है, वह पुरुष (पहले) आत्मा में जो सुख है (उसको) पाता है (तदनन्तर) वह ब्रह्म में योग से आत्मा को युक्त

करके अक्षय सुख को भोगता है* ।

भाष्य—आत्मा और परमात्मा के देखने का क्रम यह है, कि पुरुष पहले अपने आत्मा को देखता है,फिर आत्मा से परमात्मा को देखता है, जैसा कि कहा है 'यथैव विम्बंमृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधातम् । तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्यदेही एकःकृतार्थो भवते वीतशोकः' (श्वे० २ । १४) जैसे मिट्टी से लिबड़ा हुआ रत्न धोने से फिर तेजोमय बनकर चमक उठता है, इस प्रकार देहका मालिक आत्मतत्त्व (अपने असली स्वरूप) को देखकर शोक से अलग हुआ कृतार्थ होजाता है । "यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजंध्रुवंसर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः" फिर जब सावधान होकर दीपक के तुल्य अपने आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व को देखता है जो अजन्मा, अटल,सारेतत्त्वों से शुद्ध है तब उस देवको जानकर वह सारी फांसों से छूट जाता है (श्वे० २ । १५) इस दर्शन के क्रम से ही पहले आत्मा में जो सुख है, उसकी प्राप्ति होती है फिर परमात्म सुख की ।

संगति—बाहर के विषयों में वह इस लिये नहीं फंसते ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तन्वतःकौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२

श—(ये,हि,संस्पर्श—जाः,भोगाः) जो क्योंकि विषयसम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले भोग (दुःख—योनयः, एव, ते) दुःख की योनियां

---

* अथवा 'यत्' शब्द "यदा" के अर्थ में मानकर यह अर्थ हो सक्ता है "बाहर के विषयों में जिसका आत्मा फंसा हुआ नहीं वह जब आत्मा में सुख को लाभकरता है, तब वह ब्रह्मयोग से युक्त आत्मा वाला हुआ अक्षय सुख को भोगता है"॥

ही वह (आदि–अन्त-वन्तः, कौन्तये) आदि अन्तवाले हे कुन्ती के पुत्र (न, तेषु, रमते, बुधः) नहीं उनमें रमण करता है बुद्धिमान् ।

अ–क्योंकि जो विषयों से उत्पन्न होने वाले भोग (खुशियां) हैं, वह दुःख के कारण* ही हैं और आदि अन्तवाले हैं, बुद्धिमान् पुरुष उनमें रमण नहीं करता है ।

संगति–जिस लिये अत्मसुख ही परमपुरुषार्थ है और काम क्रोध का वेग ही उसका शत्रु है, इस लिये जो उसके सहारने में समर्थ है, वही मोक्ष का भागी है, यह कहते हैं–

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः २३।

श–(शक्नोति, इह, एव, यः, सोढुं) समर्थ होता है यहां ही जो सहारने के (प्राक्, शरीर-विमोक्षणात्) पहले शरीर के छूटने से (काम-क्रोध-उद्भवं, वेगं) काम क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को (सः, युक्तः, सः, सुखी, नरः) वह योगी वह सुखी मनुष्य ।

अ–यहां ही (इसी जन्म में) शरीर के छूटने से पहिले काम क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग† को सहारने के जो समर्थ होता है, वह मनुष्य योगी है वह सुखी है ।

---

* उनका परिणाम दुःख ही है। पुत्र के उत्पन्न होने पर जो सुख होता है, वह उसके नाश होने पर नाश होजाता है उलटा भारी दुख देजाता है (श्री नीलकण्ठ) स्पर्द्धा असूया आदि से युक्त होने से दुख के ही कारण हैं (श्री श्रीधर)

† अपने अनुकूल विषय में इच्छा काम है, और प्रतिकूल में द्वेष क्रोध है। काम का वेग आने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं और नेत्र मुख आदि खिल जाते हैं, और क्रोध का वेग आने से अंग कांपते हैं, पसीना आता है, होटों को चबाता है, नेत्र लाल होजाते हैं इत्यादि चिन्ह होते हैं ।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः
स योगी ब्रह्मनिर्वाणंब्रह्मभूतोऽधिगच्छति २४

श–(यः, अन्तर्–सुखः, अन्तर्–आरामः) जो अन्दर सुख वाला अन्दर क्रीड़ा वाला (तथा, अन्तर्–ज्योतिः, एव, यः) वैसे अन्दर प्रकाश वाला ही जो (सः, योगी, ब्रह्म–निर्वाणं) वह योगी ब्रह्म में निर्वाण को (ब्रह्म-भूतः, अधिगच्छति) ब्रह्म हुआ प्राप्त होता है।

अ–जो (अपने) अन्दर ही सुख वाला (न कि बाहर विषयों में) अन्दर ही क्रीड़ा वाला (न कि बाहर) तथा अन्दर ही दृष्टि वाला है, वह योगी ब्रह्म हुआ ब्रह्म में निर्वाण* को प्राप्त होता है

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः२५।

श–(लभन्ते, ब्रह्म–निर्वाणं) पाते हैं ब्रह्म में निर्वाण को (ऋषयः, क्षीण–कल्मषाः) ऋषि दूर हुए मलोंवाले (छिन्न–द्वैधाः, यत–आत्मानः) कटे हुए संशयवाले, वस में किये हुए आत्मा वाले (सर्व–भूत-हिते–रताः) सब भूतों के हित में रत हुए।

अ–जिनके मल दूर होगए हैं, सब संशय कट गए हैं, अपने आपको वस में किये हुए हैं और सब भूतों के हित में रत हैं ऐसे ऋषि ब्रह्म में निर्वाण (शान्ति) को पाते हैं।

---

* "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म में लीन होता है (बृह० ४।४।६) ब्रह्मानन्द में मग्न होना ब्रह्म में लीन होना है (देखो २।७२ की टिप्पनी)

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् २६

श–(काम-क्रोध-वियुक्तानां) काम क्रोध से रहित हुए (यतीनां, यत-चेतसां) यति अपने चित्त को बस में किये हुओं का (अभितः, ब्रह्म-निर्वाणं) निकट ब्रह्म में निर्वाण (वर्तते, विदित-आत्मनां) वर्तता है जाने हुए आत्मा वालों का ।

अ–ब्रह्म में निर्वाण ऐसे यतिजनों के निकट वर्तता है जो काम क्रोध से रहित, अपने चित्त को बस में किये हुए, और अपने आपको पहचाने हुए हैं ।

संगति–कर्म योग का मुख्य स्वरूप ईश्वरपरायणता और समदर्शिता आदि कहकर, उससे आत्मसुख और ब्रह्मसुख की प्राप्ति कही है, अब आत्मप्राप्ति का अन्तरङ्ग साधन जो ध्यानयोग है उसका तीन श्लोकों में संक्षेप से उपदेश करते हैं :—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः २८

श–(स्पर्शान्, कृत्वा, बहिः, बाह्यान्) विषयसम्बन्धों को करके बाहर बाहर के (चक्षुः, च, एव, अन्तरे, भ्रुवोः) और नेत्र को ही मध्य में भवों के (प्राण-अपानौ, समौ, कृत्वा) प्राण अपान को बराबर करके (नासा-अभ्यन्तर-चारिणौ) नासा के अन्दर विचरने वाले । १७ । (यत-इन्द्रिय-मनः-बुद्धिः) बस में किये

हैं इन्द्रिय मन बुद्धि जिसने (मुनिः, मोक्ष-पर-अयनः) मुनि मोक्ष परायण (विगत-इच्छा-भय-क्रोधः) दूर होगये हैं इच्छा भय क्रोध जिससे (यः, सदा-मुक्तः, एव, सः) जो सदामुक्त ही वह ।

अ—*बाहर के विषयों को बाहर करके और नेत्र को भवों के मध्य में करके नासाओं के अन्दर विचरने वाले प्राण अपान को बराबर करके, जिसने इन्द्रिय मन और बुद्धि को अपने वस में किया है जो मोक्ष परायण है इच्छा भय क्रोध जिससे दूर होगए हैं, ऐसा जो मुनि है वह सदा † मुक्त ही है ।

संगति—इस प्रकार योगयुक्त होने से क्या फल मिलता है, यह कहते हैं :—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति

श—(भोक्तारं, यज्ञ—तपसां) भोगने वाले यज्ञों और तपों के (सर्व-लोक-महा-ईश्वरं) सारे लोकों के महेश्वर (सुहृदं, सर्व-भूतानां) सुहृद सारे भूतों के (ज्ञात्वा, मां, शान्तिं, ऋच्छति) जान कर मुझ को शान्ति को प्राप्त होता है ।

---

* बाहर के विषय चिन्तन किये हुए अन्दर प्रवेश करते हैं, उनको उनके चिन्तन के त्याग से बाहर ही करके । प्राण अपान को बराबर करके अर्थात् रोककर, कुम्भक प्राणायाम करके, अथवा एक जैसा नासा के अन्दर विचरने वाले करके, प्राण जिस प्रकार बाहर न निकले, और अपान अन्दर प्रवेश न करे, किन्तु नासा के मध्य में ही जैसे दोनों विचरते रहें, इस प्रकार मन्द २ सांस से बराबर करके । मोक्षपरायण=केवल मोक्ष ही जिसका प्रयोजन है ।

† सदा अर्थात् जीता हुआ भी मुक्त ही है (श्री श्रीधर) सदा अर्थात् साधन की अवस्था में भी मुक्त ही है (श्रीरामानुज) ।

अ—यज्ञों और तपों के भोगने वाले* सारे लोकों के परमेश्वर सारे भूतोंके सुहृद[†] मुझको जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।

इति श्री मद्भगवद्गीता० कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः।

संगति—पूर्वाध्याय के अन्त में संक्षेप से कहे हुए कर्मयोग का विस्तार करने के लिये छटे अध्याय का आरम्भ है। पर इस ध्यानयोग को सब से ऊंचा साधन जानकर पुरुष कर्म से उपरत न होजाए, इस लिये पहले कर्मयोग और संन्यास की एकता और ऐसे कर्मयोगी की योगारूढ़ के साथ एकता दिखलाते हुए —

श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान् बोले

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।१

श—(अनाश्रितः, कर्म-फलं) न आसरा लिये कर्म के फलका (कार्यं, कर्म, करोति, यः) कर्तव्य कर्म को करता है जो (सः, संन्यासी, च, योगी, च) वह संन्यासी और योगी (न, निर्-अग्निः) न अग्निहीन (न, च, अ-क्रियः) और न कर्म हीन।

अ—कर्म के फलका आसरा न लेकर जो कर्म को कर्तव्य के तौर पर करता है, वह (कर्म फल के त्याग से) संन्यासी है और योगी है न कि अग्नि हीन और कर्म हीन‡।

---

* यज्ञ और तप उसके लिये किये जाते हैं, उनका स्वीकार ही उसका भोगना है। यज्ञों और तपों का भोगने वाला कहने से यह दिखलाया है, कि कर्मयोग उस की आराधना है।

† सुहृद=प्रत्युपकार की अपेक्षा न करके उपकार करने वाला।

‡ अग्निहीन अर्थात् होम और यज्ञ जो अग्नि में किये जाते हैं, उन से हीन, और कर्महीन जो अग्नि के बिना तप दानादि किये

संगति–किसतरह योगी संन्यासी होताहै,इसमें हेतु बतलाते हैं–

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥२

श–(यं, संन्यासं, इति, प्राहुः) जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं (योगं, तं, विद्धि, पाण्डव) योग उसको जान हे पाण्डव (न हि, अ-संन्यास-संकल्पः,) नहीं क्योंकि न त्यागे हुए संकल्पवाला (योगी, भवति, कश्चन) योगी होता है कोई।

अ–हे पाण्डव जिस को संन्यास कहते हैं उसको तू योग जान, क्योंकि कोई पुरुष योगी नहीं होता है, जिसने संकल्प (फल मिलने का अभिप्राय) नहीं त्यागा है।

संगति–अब ध्यानयोग के साथ कर्मका सम्बन्ध दिखलाते हैं–

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ३॥

श–(आरुरुक्षोः, मुनेः, योगं) चढ़ना चाहते हुए मुनिका योग पर (कर्म, कारणं, उच्यते) कर्म साधन कहाजाता है (योग-आरूढस्य, तस्य, एव) योग पर चढ़े हुए उसका ही (शमः,कारणं, उच्यते) शम साधन कहाजाता है॥

अ–योग पर चढ़ना चाहते हुए मुनिके लिये कर्म ही साधन कहा जाता है,योग पर चढ़ हुए उसी के लिये फिर शम साधन कहलाता है॥

जाते हैं, उनसे छोन। वह सन्यासी जो अग्नि प्रदीप्त करके यज्ञ नहीं करता और न दूसरे कर्म करता है, पर सच्चा त्याग उस में नहीं, तो वह सच्चा सन्यासी नहीं है,हां जिस में त्याग सच्चा है,वह गृहस्थ भी सन्यासी है।

भाष्य–टीकाकारों ने यहां शम से कर्मनिवृत्ति अभिप्राय लिया है, पर अगला श्लोक देखने से यह बात उड़जाती है। सो तृष्णा ही अशान्ति है, उसकी निवृत्ति ही शम है, इस लिये अभिप्राय यह है कि योग के शिखर पर चढ़ने के लिये चढ़ने का साधन स्वाध्याय और यज्ञादि कर्म हैं, और जब चढ़चुका है, तो वहां स्थित रखने वाला साधन तृष्णा का और कर्तृत्वाभिमानका त्याग है। सर्वथा कर्मका त्याग गीता के अभिप्राय से असम्भव ही है।

संगति–अब यह बतलाते हैं कि कब योगारूढ़ होता है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ४॥

श–(यदा, हि, न, इन्द्रिय-अर्थेषु) जब निःसन्देह न इन्द्रियों के विषयों में (न, कर्मसु, अनुषज्जते) न कर्मों में आसक्त होता है (सर्व-संकल्प-संन्यासी) सारे संकल्पों का त्यागी (योग-आरूढः, तदा, उच्यते) योगारूढ तब कहा जाता है।

अ–जब न इन्द्रियों के विषयों में और न कर्मों में आसक्त होता है, वह सारे संकल्पों का त्यागी तब योगारूढ कहा जाता है।

भाष्य–जब तक उसके हृदय में एक भी कामना अपने लिये है, और जब तक कर्तृत्व का अभिमान है, तब तक वह योगपर चढ़ने के प्रयत्न में है, जब यह बात सिद्ध होजाती है, तो योगारूढ़ कहाजाता है। व्याख्याकारोंने यहां सारे संकल्पों के त्याग से अभिप्राय सारी कामनाओं और कर्मों के त्याग से लिया है, क्योंकि "संकल्पमूलः कामो वै यज्ञः संकल्प सम्भवः"=कामना का मूल संकल्प है और यज्ञ संकल्प से उत्पन्न होते हैं (मनु० २।२) इसस्मृति

में संकल्प को कामना और यज्ञ दोनों का मूल कहा है। पर उन्हीं व्याख्याकारोंने पूर्व (२) में संकल्प का अर्थ फल का अभिप्राय लिया है, इस लिये यहां भी वही उचित है, सारे कर्मों के त्याग से अभिप्राय नहीं। और यह कैसी स्पष्ट बात है कि श्रीकृष्ण स्वयं गृहस्थ हैं,और एक गृहस्थ को ही उपदेश देरहे हैं, कर्म का त्यागी दोनों में से कोई नहीं, अतएव आसक्ति का त्याग और स्वार्थ का त्याग ही अभिप्रेत है।

संगति–जब इस प्रकार योगारूढ होता है, तब वह आप इस संसारसागर से अपने आप का उद्धार करलेता है इसलिये—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः५

श–(उद्धरेत्, आत्मना, आत्मानं) उद्धार करे आत्मा से आत्मा का (न,आत्मानं,अवसादयेत्) नहीं आत्मा को नीचे गिरावे (आत्मा, एव, हि) आत्मा ही क्योंकि (आत्मनः, बन्धुः) आत्मा का बन्धु (आत्मा, एव, रिपुः, आत्मनः) आत्माही शत्रु आत्मा का।

अ–उद्धार करे आत्मा का आत्मा से, आत्मा को नीचे न गिरावे, क्योंकि आत्मा (अपना आप) ही आत्मा (अपने आप) का बन्धु है, और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।

संगति–कैसे रहते हुए पुरुष का आत्मा बन्धु होता है और कैसे रहते हुए का आत्मा शत्रु होता है, यह बतलाते हैं—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्६॥

श—(बन्धुः, आत्मा, आत्मनः, तस्य) बन्धु आत्मा आत्मा का उसके (येन,आत्मा,एव,आत्मना; जितः) जिसने आत्मा ही आत्मा से जीता है (अनात्मनः, तु, शत्रुत्वे) न जीते हुए आत्मा वाले का शत्रुता में (वर्तेत,आत्मा,एव,शत्रुवत्) वर्तता है आत्मा ही शत्रु तुल्य ।

अ—आत्मा (अपना आप) उसके आत्मा का मित्र है, जिसने आत्मा से ही आत्मा को जीता है (वस में किया है), पर जिसने आत्मा को नहीं जीता है, ऐसे पुरुष का आत्मा (=अपना आप) ही शत्रुता में शत्रु के तौर पर वर्तता है ।

संगति—जितात्मा की अपने आपकी बन्धुता स्फुट करते हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ७।

श—(जित-आत्मनः, प्रशान्तस्य) जीता है आत्मा जिसने शान्ति से भर पूर है जो उसका (परं,आत्मा,समाहितः) अतिशय करके आत्मा एकाग्र होता है (शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु) सर्दी गर्मी सुख दुःख में (तथा, मान-अपमानयोः) वैसे मान अपमान में ।

अ—जिसने आत्मा को जीत लिया है और शान्ति से भर पूर है, उसका आत्मा सर्दी गर्मी सुख दुःख तथा मान अपमान में पूरा* एकाग्र रहता है ।

---

* 'परं' का केवल अर्थ लेवें, तो यह अर्थ होगा, कि उसका आत्मा केवल एकाग्र होता है,दूसरे का नहीं । यही तात्पर्य श्रीश्रीधर ने लिया है, श्री रामानुजने "परमात्मा" एक पद मानकर यह लिखा है, कि जीवात्मा ही यहां परमात्मा कहा है, क्योंकि उसी का प्रकरण है, और वह भी पहली २ अवस्था की अपेक्षा परम आत्मा है (अर्थात् अन्नमय आत्मा आदि की अपेक्षा परमआत्मा है)

संगति—इस प्रकार लोक के मान अपमान आदि से ऊपर होकर आत्मा के अनुभव में लगे हुए पुरुष की योगरूढावस्था कहते हैं।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ८

श—(ज्ञान—विज्ञान—तृप्त—आत्मा) ज्ञान विज्ञान से तृप्त है आत्मा जिसका (कूट-स्थः, विजित—इन्द्रियः) निर्विकार जीते हैं इन्द्रिय जिसने (युक्तः, इति,उच्यते, योगी) युक्त ऐसे कहाजाता है योगी (सम-लोष्ठ-अश्म-काञ्चनः) बराबर है ढेला पत्थर सोना जिसको।

अ—वह योगी जिसका आत्मा ज्ञान और विज्ञान*से तृप्त है जो निर्विकार† है, इन्द्रियों को जीते हुए है, जिसको (मट्टीका) ढेला पत्थर और सोना बराबर हैं, वह युक्त (योगारूढ) कहाजाता है।

संगति—पर सुहृद् मित्रादि में जो समबुद्धि है, वह और भी आगे बढ़ा हुआ होता है, यह कहते हैं—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।

---

*ज्ञान जो उपदेश से मिला है, और विज्ञान जो अनुभव से हुआ है—पहले शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष होता है, फिर अपने अनुभवसे जो विज्ञान होता है, वह अपरोक्ष होता है, उसके होने पर फिर उस में कोई संशय वा भ्रम नहीं रहता; (श्रीरामानुज लिखते हैं) आत्मा के स्वरूप को जानना ज्ञान और उसको प्रकृति से विजातीय स्वरूपसे जानना विज्ञान है।

† कूटस्थ, अक्षरार्थ अहिरन बन कर ठहरा हुआ, विषयों की सन्निधि (नज़दीकी) में भी विकार से शून्य अप्रकम्प्य (जिस में कोई हिल चिल नहीं होती) सब काल में एक स्वभाव से स्थित।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

श–(सुहृद्-मित्र-अरि-उदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु) सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ द्वेष्य और बन्धुओं में (साधुषु,अपि, च, पापेषु,) भलों में भी और बुरों में (सम-बुद्धिः, विशिष्यते) तुल्यबुद्धि वाला विशेष होता है।

अ–सुहृद्, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुओं में, तथा सदाचारी और दुराचारियों में जो समबुद्धि (राग द्वेष से शून्य बुद्धि वाला) है, वह (सारे योगारूढों में से) विशिष्ट (उत्तम) होता है।

भाष्य–सुहृद् और मित्र में यह भेद है। सुहृद्=शुभचिन्तक। मित्र=सखा। "सुहृद्=प्रत्युपकार का ख्याल न करके उपकार करने वाला (श्री शंकर) स्वभाव से ही हित चाहने वाला (श्री-श्रीधर)"प्रत्युकार का ख्याल न करके तथा पहले स्नेह और सम्बन्ध के बिना ही उपकार करने वाला (श्री मधुसूदन) और मित्र=स्नेही होता है; " वह हितैषी जो अपने बराबर की अवस्था के हों, वह मित्र, और वह हितैषी जो अवस्था में बराबर न हों, वह सुहृद् कहे जाते हैं (श्री रामानुज) शत्रु और द्वेष्य में यह भेद है, शत्रु, जो किसी निमित्त से हमारा शत्रु बना है, और द्वेष्य=जिसने हमारा कुछ बिगाड़ा है, हमारे द्वेष के योग्य है। उदासीन और मध्यस्थ में यह भेद है। जो दो झगड़ने वालों में दोनों से बेपरवाह होता है, वह उदासीन, जो दोनों का भला चाहता है, वह मध्यस्थ। बन्धु= रिश्तेदार। मट्टी के ढेले और सोने को बराबर समझना बड़े पहुंचे हुए पुरुष का काम है, पर वह उस से भी बहुत ऊंचा पहुंच गया है, जो मित्र और शत्रु आदि में समबुद्धि है।

संगति—योगारूढ का लक्षण और फल कहकर अब योग के अंगों समेत योग का उपदेश करते हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः १०

श—(योगी, युञ्जीत, सततं, आत्मानं) योगी युक्त करें लगातार अपने आपको (रहसि, स्थितः) एकान्त में स्थित हुआ (एकाकी, यत-चित्त-आत्मा) अकेला बस में किया है चित्त आत्मा जिसने (निर्-आशीः, अ-परिग्रहः) इच्छा रहित, परिग्रह रहित।

अ—योगी अकेला एकान्त में स्थित* होकर चित्त और आत्मा को बस में करके निरपेक्ष (इच्छा रहित, वेपरवाह) होकर परिग्रह (स्वत्व, मलकीयत, ममता) को त्याग कर अपने आप को निरन्तर युक्त करे (योगाभ्यास में लगावे)

---

* श्रीशंकराचार्य्य ने 'एकान्तमें स्थित' का तात्पर्य 'सन्यास करके' लिया है। इसमें उनका यही तात्पर्य होसकता है कि सन्यासी को योगाभ्यास में बड़ी आसानी है। यह तात्पर्य नहीं, कि गृहस्थ योग का अनधिकारी है। क्योंकि छान्दोग्य ८। १। १५ के भाष्य में स्वयमेव श्रीशंकराचार्य्यने गृहस्थ ब्राह्मणके विषय में कहा है "अपने हृदय में हार्द ब्रह्म में सारे इन्द्रियों को उपसंहार करके और कर्मों को त्यागकर" यह इस प्रकार ध्यानयोगही कहा है। सो यदि गृहस्थ अनधिकारी हो, तो महाप्रस्थान काल में पाण्डवों को योगयुक्त कहना नहीं बन सकता (देखो महाभा० म० प्र० प० १। ३१) जनक याज्ञवल्क्य वसिष्ठ राम आदि गृहस्थ होते हुए ही योगयुक्त थे। और सब से बढ़कर यह स्पष्ट है, कि यहां ही योग के उपदेष्टा श्रीकृष्ण गृहस्थ हैं, और जिसको उपदेश किया है, वह अर्जुन भी गृहस्थ है। यह सब श्री शंकराचार्य्य जानते ही थे, इसलिये 'संन्यास करके" इस वचन में उनका उपर्युक्त आशय ही है। वस्तुतस्तु

संगति—अब योग करते हुए के लिये आसन आहार विहार आदि का नियम करना चाहिये, जिससे योग जल्दी सिद्ध हो, और सिद्ध हुए योग का लक्षण और फल आदि कहना चाहिये, सो यह आगे आरम्भ करते हैं, उनमें से पहले आसन कहते हैं :—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितंनातिनीचंचैलाजिनकुशोत्तरम् ।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये। १२

श—(शुचौ, देशे, प्रतिष्ठाप्य) शुद्ध स्थान पर स्थापन करके (स्थिरं, आसनं, आत्मनः) स्थिर आसन अपना (न, अति- उ-

---

"एकान्त में स्थित" का यह सीधा तात्पर्य है कि जहां योगाभ्यास करे, वह शोरवाली जगह न हो। वर्ण आश्रम वा अवस्था का योग में कोई नियम नहीं। मनु २। १००में ब्रह्मचारीके लिये योग कहा है। श्रीकृष्णका यह वचन घर में रहने के प्रतिकूल नहीं, और "रहसि स्थितः" का तात्पर्य्य योग के समय में "एकान्त स्थिति" से है, यह बात श्रीकृष्ण ने स्वयं अनुगीता १९। ३३ से ३७ तक में स्पष्ट करदी है। आत्मदर्शन की रीति भी वहीं १९। २१ से २२ तक में कही है। वस्तुतस्तु योग अन्दर की वस्तु है, वह बाहर के किसी भी अवलम्बन पर निर्भर नहीं है। सविस्तर देखो दक्षसंहिता ७। ३ से १० तक। शूद्र और स्त्रियें भी इसकी अधिकारी हैं "अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी। तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमांगतिम्, चाहे वर्ण से नीचा हो और चाहे स्त्री हो जो धर्म को प्यार करती है, वह भी इस मार्ग से परम गति को पाएगी (महा भा० शान्ति० २३९। ३४) योगीप्रधान महादेव जी की पत्नी दाक्षायणी ने योग द्वारा देह का त्याग किया था (देखो भागवत ४। ८। २४ से २७)।

च्छ्रितं, न, अति-नीचं) न बहुत ऊंचा न बहुत नीचा। (चैल-अजिन कुश-उत्तरं) वस्त्र चर्म और कुशा है ऊपर२ जिसके। ११। (तत्र, एक-अग्रं, मनः, कृत्वा.) वहां एकाग्र मन को करके (यत-चित्त-इन्द्रिय-क्रियः) रोकी हैं चित्त और इन्द्रियों की क्रियायें जिसने (उपविश्य, आसने) बैठकर आसन पर (युञ्ज्यात्, योगं, आत्म-विशुद्धये) जोड़े याग को आत्मा की शुद्धि के लिये।

अ-शुद्ध स्थान * पर, न बहुत ऊंचा न बहुत नीचा † एक दूसरे के ऊपर वस्त्र चर्म (मृगछाला आदि) और कुशावाला‡ अपना स्थिर (अचल टिका हुआ) आसन स्थापन करके।११।वहां आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को रोककर आत्मा की शुद्धि¶ के लिये योग जोड़े (अभ्यास करे)

संगति-आसन पर बैठना कहा, अब कैसे होकर बैठे यह बतलाते हैं।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।

---

* स्थान, स्वभाव से जो शुद्ध हो और फिर उसको बुहारने आदि से सुथरा बना लेवे † बहुत ऊंचे में गिरने का भय और बहुत नीचे का वायु पूरा शुद्ध नहीं होता है‡ वस्त्र चर्म और कुशा श्लोक में विपरीत क्रम से कहे हैं, किन्तु कुशा के ऊपर चर्म और उस पर वस्त्र हो (श्रीशंकराचार्य) ¶ आत्मा की शुद्धि=अन्तःकरण से आत्माका निखरना-अथवा आत्माका शुद्ध=अन्तःकरणकी शुद्धि।

श-(समं, काय-शिरः-ग्रीवं) सीधा शरीर सिर गर्दन को (धारयन्, अचलं, स्थिरः) धारण करता हुआ अडोल दृढ़ (संप्रेक्ष्य, नासिका-अग्रं, स्वं) देखकर नासा के अग्र को अपनी (दिशः, च, अनवलोकयन्) और दिशाओं को न देखता हुआ। १३। (प्रशान्त-आत्मा, विगत-भीः) शान्त मन वाला दूर हुए भयवाला (ब्रह्म-चारि-व्रते, स्थितः) ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित (मनः, संयम्य) मन को रोककर (मत्-चित्तः, युक्तः, आसीत, मत्-परः) मुझ में चित्तवाला युक्त होकर बैठे मेरे परायण हुआ।

अ-शरीर (धड़) सिर और ग्रीवा (गर्दन) को सीधा अडोल धारणकर के (मूलाधार से लेकर मूर्द्धा तक सीधा रहकर) दृढ़ होकर अपनी नासिका के अग्र को देखता हुआ (=आधा नेत्र बन्द किये हुए) और दिशाओं को न देखता हुआ। १३। शान्तात्मा-भय से रहित हुआ ब्रह्मचारि के व्रत में * स्थित हुआ, मनको रोककर समाधिस्थ होकर, मुझ में चित्त † लगाए हुए, मेरे परायण † होकर बैठे। १४।

संगति-अब योग का फल कहते हैं :-

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।

श-(युञ्जन्, एवं, सदा, आत्मानं) जोड़ता हुआ इसप्रकार

---

* ब्रह्मचारी का व्रत=ब्रह्मचर्य्य। गृहस्थ भी केवल ऋतुगामी होने से ब्रह्मचारी ही माना जाता है। दूसरे आश्रमियों को सर्वथा ब्रह्मचारी होना चाहिये। † मुझमें ध्यान लगाए हुए और सारा भरोसा मेरे ऊपर छोड़े हुए। मुझ मेरा इत्यादि शब्द इस शास्त्र में अन्तर्यामी परमात्मा के बोधक हैं, यह अनेकबार कहा गया है।

सदा आत्मा को (योगी, नियत-मानसः) योगी रोके हुए मनवाला (शान्तिं, निर्वाण-परमां) शान्ति मोक्ष जिसकी चोटी है (मत्-संस्थां, अधिगच्छति) मुझ में स्थित को प्राप्त होता है।

अ—मन को वस में किये हुए योगी इस प्रकार सदा आत्मा को (परमात्मा में) जोड़ता हुआ, उस शान्ति को पालेता है, जिस की हद निर्वाण है, जो मुझ (अन्तर्यामी) में स्थित है।

संगति—योगाभ्यासी के लिये आहार आदि का नियम कहते हैं दो श्लोकों से :—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन १६

श—(न, अति-अश्नतः, तु, योगः, अस्ति) न बहुत खाने वाले के लिये निःसन्देह योग है (न, च, एक-अन्तं, अनश्नतः) और न बिकुल न खाने वाले के लिये (न, च, अति-स्वप्न-शील-स्य) और न बहुत सोने के स्वभाव वाले के लिये (जाग्रतः, न, एव, च, अर्जुन) और जागते हुए के लिये नहीं अर्जुन।

अ—हे अर्जुन योग न बहुत खाने वाले के लिये है, न बिल्कुल न खाने वाले के लिये, न बहुत सोने के स्वभाव वाले के लिये और न ही (बहुत) जागने वाले के लिये*।

भाष्य—अधिक खाने से सुस्ती और रोग होते हैं, न खाने से दुर्बलता व्यकुलता होती है, अधिक सोने से आलस्य और रोग होते हैं, अधिक जागने से वा बिलकुल न सोने से भी रोग होते हैं, और मन घबराता है।

---

* मार्कण्डेय पुराण ३९। ४७-४८ में और भी नियम बतलाए हैं।

संगति-तब कैसे स्वभाव वाले के लिये योग होता है ?

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा १७

श-(युक्त-आहार-विहारस्य) युक्त है आहार विहार जिस का (युक्त-चेष्टस्य, कर्मसु) युक्त है चेष्टा जिसकी कर्मों में (युक्त स्वप्न-अवबोधस्य) युक्त है सोना जागना जिसका उसका (योगो भवति, दुःख-हा) योग होता है दुःख का दूर करने वाला ।

अ- जिसका आहार विहार (खाना चलना) युक्त (परिमित, अन्दाजेका) है, कर्मों में जिसकी चेष्टा युक्त है,* तथा जिस का सोना जागना युक्त है, उनके लिये योग दुःख के दूर करने वाला होता है† ।

संगति-कब वह योग सिद्ध होता है, इस आकांक्षा के होने पर उसका लक्षण कहते हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्योयुक्तइत्युच्यते तदा १८

श-(यदा, विनियतं, चित्तं) जब रुका हुआ चित्त (आत्मनि, एव, अवतिष्ठते) आत्मा में ही ठहरता है (निः-स्पृहः, सर्व-कामेभ्यः) निःस्पृह हुआ सारी कामनाओं से (युक्तः, इति, उच्यते

---

* इस से स्पष्ट है, कि परमात्मा के अर्पण करके कर्म करने में योग में कोई बाधा नहीं होती † यूं तो आहारादि का नियम सब के लिये आवश्यक है, पर योगी के लिये यह अतीव आवश्यक है, अन्यथा अनेक रोग उत्पन्न होते हैं (देखो मार्कण्डेय ३९ । ५४, ५७) हठ योग की क्रियाओं के करनेवाले तो रोगी देखे भोगए हैं ।

तदा) युक्त ऐसे कहा जाता है तब ।

अ—जब (और सब ओर से) रुका हुआ चित्त आत्मा में ही ठहरता है, तब सब कामनाओं से निःस्पृह (इच्छा शून्य) हुआ (वह योगी) युक्त कहा जाता है ।

संगति—एकाग्रता की अवस्था में योगी के चित्त की उपमा कहते हैं—

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः १९

श—(यथा,दीपः, निवात-स्थः) जैसे दीपक वायु से शून्य में स्थित (न, इंगते, सा, उपमा, स्मृता) नहीं डोलता है वह उपमा मानी गई है (योगिनः, यत-चित्तस्य) योगी, रुके हुए चित्त वाले की (युञ्जतः, योगं,आत्मनः) अभ्यास करते हुए योग की आत्माके।

अ—जैसे वायु से शून्य (स्थान) पर स्थित दीपक डोलता नहीं है वह उपमा रुके हुए चित्त वाले, आत्मा के योग का अभ्यास करते हुए, योगी की मानी गई है ।

संगति—सामान्य रूप से योग का निरूपण करके अब योग की अवस्था का सविस्तर वर्णन करते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।

---

* निवातस्थ दीपक अडोल और पूरे प्रकाश में होता है, ऐसा ही उस योगी का चित्त होता है, चित्त के ऐसा होने से वह योगी भी वैसा होता है, श्री नीलकण्ठने "यत-चित्त" का अर्थ "रुके हुए चित्त की" करके सीधा चित्त की उपमा बतलाई है श्रीरामानुज ने 'योगी के आत्मा की' अर्थ करके आत्मा की उपमा बतलाई है।

यत्रैचवात्मनात्मानंपश्यन्नात्मनितुष्यति २०।

श–(यत्र, उपरमते, चित्तं) जिस में आराम करता है चित्त (निरुद्धं, योग-सेवया) रुका हुआ योग के अभ्यास से (यत्र, च एव, आत्मना, आत्मानं, पश्यन्) और जिस में ही आत्मा से आत्मा को देखता हुआ (आत्मनि, तुष्यति) आत्मा में सन्तुष्ट होता है।

अ–जिस (काल) में योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त आराम करता है, और जिस (काल) में आत्मा से आत्मा को देखता हुआ आत्मा में ही (न कि बाहर विषयों में) सन्तुष्ट होता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः २१

श–(सुखं, आत्यन्तिकं, यत्, तत्) सुख अत्यन्त जो वह (बुद्धि-ग्राह्यं, अति-इन्द्रियं) बुद्धि से ग्रहण हो सकने वाला इन्द्रियों से परे (वेत्ति, यत्र) जानता है जिस में (न, च, एव, अयं, स्थितः, चलति, तत्त्वतः) और न ही यह स्थित हुआ डोलता है तत्त्व से

अ–जिस में उस अत्यन्त सुख को अनुभव करता है, जो बुद्धि से ही ग्रहण हो सकता है इन्द्रियों परे है और जिस में स्थिर हुआ फिर तत्त्व से नहीं डोलता है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितोनदुःखेनगुरुणापि विचाल्यते॥

श–(यं, लब्ध्वा, च, अपरं, लाभं) और जिसको पाकर दूसरा लाभ (मन्यते, न, अधिकं, ततः) मानता है नहीं अधिक उस से (यस्मिन्, स्थितः) जिस में स्थित हुआ (न, दुःखेन, गुरुणा,

आपि, विचाल्यते) न दुःख भारी से भी हिलाया जाता है ।

अ—और जिस को पाकर उससे अधिक दूसरा लाभ नहीं मानता है, और जिसमें स्थित हुआ भारी भी दुःख से नहीं हिलाया जाता है ।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्योयोगोनिर्विण्णचेतसा२३

श—(तं, विद्यात्, दुःख-संयोग-वियोगं, योग-संज्ञितं) उस, को जाने दुःख के संयोग के वियोग को योग नामवाला (सः निश्चयेन, योक्तव्यः, योगः,अनिर्विण्णचेतसा) वह निश्चय से जोड़ना चाहिये योग न उकताए हुए चित्त वाले से ।

अ—उस, दुःख के सम्बन्ध के (भी) वियोग*को योग नाम वाला जाने, (जिस लिये ऐसे बड़े फलवाला योग है, इस लिये उस का यत्न से अभ्यास करना चाहिये यह कहते हैं) वह योग न उदास हुए चित्त वाले पुरुष को निश्चयके साथ जोड़ना चाहिये ।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥२४॥
शनैःशनैरुपमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थंमनःकृत्वानकिञ्चिदपिचिन्तयेत्।

---

* जिस अवस्था में दुःखके स्पर्शमात्र से भी वियोग होता है, वह योग है । आत्मा का परमात्मा के साथ जुड़ना योग है । अथवा दुःख के संयोग से वियोगही योगहै । इस प्रकार अश्रान्त(अनथक) होकर जो योग में प्रवृत्त होता है, उस पर ईश्वर अनुग्रह करते हैं ।

श–(संकल्प-प्रभवान्, कामान्) संकल्प से उत्पन्न होने वाली कामनाओं को (त्यक्त्वा, सर्वान्, अ-शेषतः) त्यागकर सारी निःशेष (मनसा, एव) मन से ही (इन्द्रिय-ग्रामं, विनियम्य, समन्ततः) इन्द्रियों के समूह को रोक कर सब ओर से ॥२४॥ (शनैः, शनैः, उपरमेत्) धीरे २ उपरत हो (बुद्ध्या, धृति-गृहीतया) बुद्धि दृढ़ता से पकडी हुई से (आत्म-संस्थं, मनः, कृत्वा) आत्मा में स्थित मन को करके (न, किञ्चित्, अपि, चिन्तयेत्) न कुछ भी चिन्तनकरे।

अ–संकल्पसे उत्पन्न होने वाली सारी कामनाओं को निःशेषतः (सारी की सारी) त्यागकरके, मन से ही इन्द्रियों के समूह को चारों ओर से रोक कर ॥ २४ ॥ धृति* (दृढ़ता) से बस में की हुई बुद्धि से उपरत(शान्त)हो मनको आत्मा में स्थित करके कुछ भी चिन्तन न करे ॥ २५ ॥

संगति–"शनैःशनैरुपमेत्" इस को विवृत करते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् २६

श–(यतः, यतः, निम्, चरति) जिस २ ओर से निकलता है (मनः, चञ्चलं, अस्थिरं) मन चञ्चल न टिकने वाला (ततः, ततः, नियम्य, एतत्) उस २ ओर से रोककर इसको (आत्मनि, एव, वशं नयेत्) आत्मा में ही बस में लावे ।

अ–चञ्चल स्वभाव न टिकनेवाला मन जिस२ ओरसे(जिस २ इन्द्रिय के द्वारा)बाहर जाता है उस २ ओर से इसको रोककर आत्मा में ही बस में लावे।

---

* धृति, जो आगे (१८ । ३३ में) कहेंगे।

भाष्य–योगकाल में योगी का चित्त जिस विषय की ओर चला जावे, उस २ से रोक कर अन्तरात्मा में लगावे।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥२७॥

श–(प्रशान्त-मनसं, हि, एनं, योगिनं) शान्त मन वाले निःसन्देह इस योगी को (सुखं, उत्तमं, उपैति) सुख उत्तम प्राप्त होता है (शान्त-रजसं, ब्रह्मभूतं, अ-कल्मषं) शान्त हुए रजोगुणवाले ब्रह्म हुए पाप से रहित को।

अ–जिसका मन शान्त है, रजोगुण शान्त हुआ हुआ है (रजोगुण दबगया है) पाप से रहित हुआ ब्रह्मभूत है, उस योगी को निःसन्देह उत्तम सुख प्राप्त होता है।

संगति–आत्मसुख के अनन्तर परमात्मसुख को भोगता है यह कहते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥२८॥

श–(युञ्जन्, एवं, सदा, आत्मानं) जोड़ता हुआ इस प्रकार सदा आत्मा को (योगी, विगत-कल्मषः) योगी दूर हुए पापें वाला (सुखेन, ब्रह्म-संस्पर्शं, अत्यन्तं, सुखं, अश्नुते) सुख से ब्रह्म को छूने वाले अत्यन्त सुख को भोगता है।

अ–दूर हुए पापों वाला योगी इस प्रकार लगातार आत्मा को जोड़ता हुआ सुख (आसानी) से ब्रह्मको छूने वाले अत्यन्त सुख को भोगता है।

संगति–इस प्रकार योगके सिद्ध होने पर योगी को उसका परमफल वतलाते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

श–(सर्व-भूत-स्थं, आत्मानं) सब भूतों में स्थित आत्मा को (सर्व-भूतानि, च, आत्मनि) और सब भूतों को आत्मा में (ईक्षते, योग-युक्त-आत्मा) देखता है योग से युक्त आत्मा (सर्वत्र-सम-दर्शनः) सब जगह उसी का देखने वाला ।

अ–योग से युक्त आत्मा सर्वत्र उसीको देखने वाला हुआ सब भूतों में स्थित आत्मा को और सब भूतों को आत्मा में देखता है* ।

---

* २९ से ३२ तक इन चार श्लोकों में योगी की उदार अवस्था का स्वरूप दिखलाया है। और ३२वें में जाकर उसको परम योगी कहा है, जो हर एकके सुख दुःख को अपने बराबर समझता हुआ सब के भले में लगा रहता है। यही ईश्वरीय भाव है, जो ईश्वर के साथ योग में मनुष्य को प्राप्त होता है। पर पहले तीन श्लोकों (२९ से ३१ तक) में यहां आत्मा का द्वैतदर्शन दिखलाया है, वा अद्वैतदर्शन,इस विषयमें व्याख्याकारों का मतभेद है। अद्वैत वादी (श्री शंकराचार्य और उनके अनुयायी) यहां "सर्वत्र समदर्शनः" का अभिप्राय "सब में एक आत्मा को देखने वाला" लेते हैं, और आत्मा से अपना आत्मा लेकर यह अर्थ करते हैं, कि वह सब प्राणियों में अपने आत्मा को देखता है और अपने आत्मा में सब प्राणियों को देखता है, श्री रामानुज इन चार श्लोकों में योग के विपाक की चार अवस्था दिखलाते हैं। पहली अवस्था में योग युक्तात्मा पुरुष प्रकृति से वियुक्त हुए आत्माओंमें सर्वत्र समदृष्टि वाला

भाष्य–यहां आत्मा से अभिप्राय परमात्मा है जो आत्मा का भी आत्मा है। योग से युक्त आत्मा इस आत्मा के आत्मा को सर्वत्र देखता है, और अन्दर बाहर उसी को देखता है, सब के कर्मों का साक्षी सब के घट २ में स्थित है, और सब उस में हैं "तदन्तरस्यसर्वस्यतदु सर्वस्यास्य बाह्यतः"=वह इस सब के अन्दर है और इस सब से बाहर है (ईश० ५) यह परमात्मा है जो सब में है, और जिस में सब कुछ है। अथवा "सर्वत्र समदर्शनः" का यह तात्पर्य होसक्ता है, कि पूर्वोक्त (८, ९) प्रकार से सर्वत्र समदर्शी हुआ वह सब भूतों में परमात्मा को और सब को परमात्मा में देखता है।

संगति–इस दर्शनका फल कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ३०।

श–(यः, मां, पश्यति, सर्वत्र) जो मुझे देखता है सब में (सर्वं च, मयि, पश्यति) और सब को मुझ में देखता है (तस्य, अहं, न

हुआ अर्थात् सबमें ज्ञानैकस्वरूप आत्माको देखता हुआ, सब भूतों में स्थित अपने आत्माको औरसबभूतोंकोअपने आत्मामेंदेखताहै, अर्थात् सब भूतों के तुल्य अपनेआत्मा को औरअपनेआत्माकेतुल्यसारेभूतों को देखता है। अभिप्राय यह है, कि एकआत्माके देखने पर, सब आत्मा उसी के तुल्य होने से सारे ही आत्मा देखे हुए हो जाते हैं। यहां सब भूतों में आत्माओं की समता देखने से ही अभिप्राय है, न कि एकता से, यह इससे स्पष्ट है कि यहां "सर्वत्र समदर्शनः" "सर्वत्र सम देखने वाला" कहा है, न कि एक देखने वाला, और कि आगे (३२ में) "योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन" कहेंगे, और कि पूर्व (५। १९) "निर्दोषंहि समं ब्रह्म" कहाहै, (श्रीरामानुज) (हमने अपना अभिप्राय भाष्य में देदिया है सम्पादक)।

प्रणश्यामि) उसका मैं खो नहीं जाता हूं (सः, च, मे, न, प्रणश्यति) और वह मेरा नहीं खोजाता है।

अ–जो मुझे सब में देखता है और सब को मुझमें देखता है उसका मैं अदृश्य (खोया हुआ) नहीं होता हूं और वह मेरा अदृश्य नहीं होता है (वह मुझे सदा प्रत्यक्ष देखता है, और मैं उसको प्रत्यक्ष देखता हुआ अर्थात् कृपा दृष्टि से देखता हुआ उस पर अनुग्रह करता हूं*)।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ३१॥

---

*पूर्वोक्त आत्मैकत्व दर्शन का फल परमात्मा के साथ एकत्व दर्शन कहते हैं–" जो परमात्मा को सब भूतों में देखता है, और हर एक भूत को उस सर्वात्मा में देखता है, उस आत्मैकत्वदर्शी के लिये न मैं ईश्वर परोक्ष होता हूँ, न वह मुझ ईश्वर के परोक्ष होता है क्योंकि वह और मैं एकात्मा होजाते हैं, (श्री शंकराचार्य) पहले सारे आत्माओं को आपस में समता कही है अब उस से भी ऊंची अवस्था में परमात्मा के साथ समता को अनुभव करता है, जैसा कि " निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति " उपाधि से रहित हुआ परम समता को प्राप्त होता है (मुण्ड०) इस में पुण्य पाप को झाड़ कर स्वरूपसे ठहरेहुए हरएकआत्माकी परमात्माकेसाथ समताकही है। इस समता को देखता हुआ जो आत्मवस्तु को मुझमें देखता है, अर्थात् एक दूसरे की समता के हेतु दोनों में से एक के देखने से दूसरा भी उसीके तुल्य है, ऐसा देखता है, वह जब अपने स्वरूप को देखताहै, तो भी मैं उसके परोक्ष नहींहोता औरजब मुझेदेखता है, तब भी उसको अपना स्वरूप अपरोक्ष नहीं होता (श्री रामानुज) जो योगी मेरे स्वरूप को सब आत्माओं में देखता है, उस योगी के मैं अदृश्य नहीं होता हूं, और वह मेरे अदृश्य नहीं होता (किन्तु सर्वदा मेरी कृपा दृष्टिका विषय रहता है (श्रीयामुनाचार्य)

श–(सर्व-भूत-स्थितं, यः, मां) सब भूतों में स्थित जो मुझ को (भजति,एकत्वं, आस्थितः)भजता है एकता का सहारा लिये हुए (सर्वथा, वर्तमानः, अपि) सब प्रकार से वर्तता हुआ भी (सः योगी, मयि, वर्तते) वह योगी मुझ में वर्तता है।

अ–जो योगी सब भूतों में (अन्तर्यामीरूप से) स्थित मुझ को एकता* का अवलम्बन करके भजता है, वह सब प्रकार† से वर्तता हुआ भी मुझ में वर्तता है‡

संगति–परमात्मा की भक्ति करने वालों के मध्य में जो सब भूतों पर अनुकम्पा रखने वाला है,उसे सब से श्रेष्ठ बतलाते हैं-

आत्मौम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ३२

---

*एकता = अभेदोपासना (देखो २।६१ का भाष्य और टिप्पनी और वेदान्त दर्शन ४।१।३ आत्मत्वोपासनाऽधिकरण)।

† खाता पीता बैठता उठता चलता फिरता; कर्म त्याग से भी (श्री श्रीधर)।

‡ पूर्व श्लोक में कही जीव ईश्वर की एकता का अनुवाद करके इस श्लोक में उसका फल मोक्ष बतलाया है (श्री शंकराचार्य) उस से ऊंची अवस्था कहते हैं योगकी अवस्था में सब भूतों में स्थित मुझको ज्ञानैक स्वरूप से एकता का आश्रय लेकर अर्थात् प्रकृति के सम्बन्ध से जो भेद है उस को त्यागकर, बड़ी दृढ़ता से जो भजता है, वह सब प्रकार से अर्थात् व्युत्थान काल में भी जैसे तैसे वर्तता हुआ अपने आत्मा को और सब भूतों को देखता हुआ मुझ में वर्तता है अर्थात् मुझे ही देखता है अर्थात् अपने आत्मा में और सब भूतों में सर्वदा मेरी समता को देखता है (श्री रामानुज)।

श–(आत्म-औपम्येन, सर्वत्र) अपने दृष्टान्त से सर्वत्र (समं, पश्यति, यः, अर्जुन) सम देखता है जो हे अर्जुन (सुखं, वा, यदि वा, दुःखं) सुख वा अथवा दुःख (सः, योगी, परमः मतः) वह योगी परम माना गया है ।

अ–जो अपने दृष्टान्त से सुख और दुःख को सर्वत्र सम देखता है, वह परम (पूरा) योगी माना गया है* ।

भाष्य–जैसे मुझे सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही दूसरों को भी है,इस तरह सर्वत्र सम देखता हुआ जो सब का सुख ही चाहता है,किसीका भी दुःखनहीं चाहता,वह योगी श्रेष्ठमानागया है ।

संगति–कहे लक्षण वाले योग को दुष्कर समझता हुआ–

अर्जुन उवाच–अर्जुन बोला ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं नपश्यामिचञ्चलत्वात्स्थितिंस्थिरां
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ३४

---

* उससे ऊंची अवस्था कहते हैं–हे अर्जुन जो योगी सब आत्मा ओं को, केवल ज्ञान स्वरूप होने से तुल्य होने के हेतु, सब में अर्थात् अपने आत्मा में और दूसरे आत्माओं में, सुख दुःख को सम देखता है अर्थात् दूसरे के सुख दुःख को अपना करके देखता है वह योगी उत्तम माना गया है (श्री रामानुज) सब में एक आत्मा मानने वाले इसका अभिप्राय यह लेते हैं, कि जिस लिये एक ही आत्मा सब में है इसलिये सबके सुख दुःख को अपना जान सब की भलाई में सदा तत्पर रहना चाहिये । सचमुच यदि आमैकत्ववादी इसको अपना आदर्श बनाएं, तो उनका कहना उनकी बड़ाई का हेतु हो (सम्पादक)

श-(यः, अयं, योगः, त्वया प्रोक्तः) जो यह योग तू ने कहा है (साम्येन, मधु-सूदन) समता से मधु-सूदन (एतस्य, अहं, न, पश्यामि) इस की मैं नहीं देखता हूं (चञ्चलत्वात्, स्थितिं, स्थिरां) चञ्चल होने से स्थिति स्थिर॥ ३३ ॥ (चञ्चलं, हि, मनः, कृष्ण) चञ्चल निःसन्देह मन हे कृष्ण (प्रमाथि, बलवत्, दृढं) भौजल डालने वाला बलवाला दृढ़ (तस्य, अहं, निग्रहं, मन्ये) उस का मैं रोकना समझता हूं (वायोः, इव, सु-दुष्करं) वायु की नांई बड़ा दुष्कर।

अ—हे मधुसूदन ! यह योग जो समता से* तूने कहा है, (मन के) चञ्चल होने के हेतु मैं इसकी स्थिर स्थिति (पक्की बुनियाद) नहीं देखता हूं ॥ ३३ ॥ हे कृष्ण मन चञ्चल है, भौजल में डालने वाला (देह और इन्द्रियों को क्षोभ में डालने वाला) है, बलवाला (जबरदस्त) है और दृढ़ (डटने वाला) है, उसका रोकना मैं वायु (के रोकने) की नांई बड़ा दुष्कर (मुश्किल) मानता हूं।

संगति—मन का रोकना बड़ा दुष्कर ही है यह स्वीकार करके ही उसके रोकने का उपाय—

श्रीभगवानुवाच=श्री भगवान कहते हैं

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ३५।

---

* चित्त से रागद्वेष को मिटाकर सब में एक तुल्य आत्मा को देखते हुए अपने बेगाने का भेद हटाकर दूसरे के सुख दुःख को अपना सुख दुःख मानना; मन को लय विक्षेप से शून्य होकर केवल आत्म स्वरूप से स्थिति (श्री श्रीधर) ज्ञान स्वरूप होने से सारे आत्माओं की परस्पर समता और मुक्त की ईश्वर के साथ जो समता है (श्री रामानुज) ॥

श-(अ-संशयं, महा-बाहो) निःसन्देह हे महाबाहो (मनः, दुर्-निग्रहं, चलं) मन दुःख से रुकने वाला चञ्चलस्वभाव (अ-भ्यासेन, तु, कौन्तेय) अभ्यास से पर हे कुन्ती के पुत्र (वैराग्येण, च, गृह्यते) और वैराग्य से रोका जाता है।

अ-हे महाबाहो ! मन निःसन्देह दुःख से रुकने वाला और चञ्चल स्वभाव है, पर हे कौन्तये अभ्यास और वैराग्य से रोका जाता है।

भाष्य-इस श्लोक के पूर्वार्धका यह अभिप्राय है, कि चित्त को हठ से रोकना असम्भव है। और उत्तरार्धका यह, कि उपाय से रोकना होसक्ता है। जैसे नेत्र श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों को उनके गोलकों के ढांपने से और हाथ पाओं आदि कर्मेन्द्रियोंको भी हठ से रोक सक्ते हैं, ऐसे मन को भी हठ से रोक सकें, यह असम्भव है, इस लिये इसको उपाय से ही रोकसक्ते हैं,वह उपाय अभ्यास और वैराग्य हैं। फिर २ चित्त को आत्मा वा परमात्म में स्थापन करना अभ्यास है, और आत्मा से भिन्न विषयों में दोष देखना वैराग्य है। अभ्यास से चित्त में स्थिरता आती है, और वैराग्य से विषय-वासनाएं उखड़ती हैं,जो चित्त को बहिर्मुख किया करती हैं। सो यह दोनों मिलकर एक उपाय है। तत्त्वका विचा-रना और साधुसंग आदि इन्हीं के अन्तर्गत हैं, क्योंकि यह अभ्यास वैराग्य की ही पुष्टि करने वाले हैं।

संगति-हां इतना इस में निश्चय है, कि—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मनातुयततांशक्योऽवाप्तुमुपायतः ३६

श—(अ-संयत-आत्मना, योगः) न बस में किये हुए चित्त वाले से योग (दुस्-प्रापः, इति, मे, मतिः) पाना अशक्य यह मेरी मतिं (वश्य-आत्मना, तु, यतता) बस में किये हुए चित्तवाले से हां यत्न करते हुए से (प्राप्तुं, शक्यः, उपायतः) पाना शक्य उपाय से ।

अ—जिसने चित्तको बस में नहीं किया हुआ है, उसके लिये योग का पाना अशक्य है, यह मेरा निश्चय है, हां जिसने चित्त को बस में किया हुआ है, उस के लिये (पूर्वोक्त) उपाय से यत्न करते हुए (योगका) पाना शक्य है ।

संगति—मन का रोकना अतीव कठिन होने से योग-सिद्धि में विघ्न समझता हुआ—

अर्जुन उवाच=अर्जुन बोला

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।

श—(अयतिः, श्रद्धया, उपेतः) अयति श्रद्धा से युक्त (योगात्, चलित-मानसः) योग से चले हुए मन वाला (अ-प्राप्य, योग-संसिद्धिं) न पाकर योग की सिद्धि को (कां, गतिं, कृष्ण, गच्छति) किस गति को हे कृष्ण प्राप्त होता है।

अ—जो अयति (अपने आपको बस में किये हुए नहीं) और योग से डोले हुए (=विषयों में झुके हुए) मन वाला है, परश्रद्धा से भरा हुआ है, वह हे कृष्ण योग की सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है ।

संगति–प्रश्न के अभिप्राय को खोलता है—

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ३८

श–(कच्चित्, न, उभय-विभ्रष्टः) क्या नहीं दोनों से भ्रष्ट हुआ (छिन्न-अभ्रं, इव, नश्यति) कटे हुए मेघ की तरह नष्ट होजाता है (अ-प्रतिष्ठः, महा-बाहो) निराश्रय हुआ हे महाबाहो (विमूढः, ब्रह्मणः, पथि) भूला हुआ ब्रह्म के मार्ग में ।

अ–हे महाबाहो क्या वह कटे हुए मेघ की तरह निराश्रय हुआ उभय भ्रष्ट होकर* ब्रह्म के मार्ग में विमूढ हुआ नष्ट तो नहीं होजाता है ।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता नह्युपपद्यते ३९

श–(एतत्, मे, संशयं, कृष्ण) इस मेरे संशय को हे कृष्ण (छेत्तुं, अर्हसि, अ-शेषतः) काटने योग्य है पूरे तौर से (त्वत्, अन्यः,) तेरे बिना (संशयस्य, अस्य, छेत्ता) संशय इसका काटने वाला (न, हिं, उपपद्यते) नहीं निःसन्देह बन सक्ता है ।

अ–इस मेरे संशय को हे कृष्ण ! तू मेटने योग्य है, तेरे बिना और कोई इस संशय को मिटाने वाला नहीं बन सक्ता है ।

श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान् बोले ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।

---

* जैसे मेघ का टुकड़ा पहले से अलग हो अगले के साथ न मिला हुआ बीच में ही लीन होजाता है । इसी तरह वह कर्म को त्याग कर योग में पूरा न पहुँचा हुआ दोनों से फिसला हुआ नष्ट तो नहीं होजाता ।

नहिकल्यणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति४०।

श–(पार्थ, न, एव, इह, न, अमुत्र)हे पृथा के पुत्र न ही यहां न वहां (विनाशः, तस्य, विद्यते) विनाश उसका होता है (न, हि कल्याण-कृत्, कश्चित्) नहीं कभी भला करने वाला कोई (दुर्गतिं, तात, गच्छति) दुर्गति को हे तात ! प्राप्त होता है ।

अ–हे पार्थ न ही इस लोक में, और न ही उस लोक में, उसका विनाश होता है, हे तात (प्यारे) भला करने वाला कोई कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है ।

संगति–इस लोक और परलोक में उसका महत्त्व बतलाते हैं–

प्राप्यपुण्यकृतांलोकानुषित्वाशाश्वतीःसमाः
शुचीनां श्रीमतां गेहेयोगभ्रष्टोऽभिजायते४१

श–(प्राप्य, पुण्य-कृतां, लोकान्) प्राप्त होकर पुण्य करने वालों के लोकों को (उषित्वा, शाश्वतीः, समाः) वास करके बहुत वर्ष (शुचीनां, श्रीमतां, गेहे) शुद्धात्मा श्रीमानों के घर में (योग-भ्रष्टः, अभि जायते) योग से भ्रष्ट हुआ फिर जन्मता है ।

अ–पुण्य करने वालों के लोकों को प्राप्त होकर,वहां बहुत वर्षों तक वास करके,वह शुद्धात्मा श्रीमानों के घर में फिर जन्म लेता है ।

संगति–अल्प काल के अभ्यासियों की गति पूर्व कही है, अब दीर्घ काल के अभ्यासियों की गति बतलाते हैं—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ४२।

श–(अथवा, योगिनां, एव) अथवा योगियों की ही (कुले

भवति, धीमतां) कुलमें होता है बुद्धिमानों की (एतद्, हि, दुर्लभतरं) यह निःसन्देह बड़ा दुर्लभ (लोके, जन्म, यद्, ईदृशं) लोक में जन्म जो ऐसा ।

अ–अथवा बुद्धिमान् योगियों की कुल में ही होता है, निःसन्देह लोक में यह बड़ा दुर्लभ है, जो इसप्रकार का जन्म है ।

संगति–ऐसे जन्म की दुर्लभता इसलिये है, क्योंकि :–

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३

श–(तत्र, तं, बुद्धि-संयोगं) वहां उस बुद्धि के सम्बन्ध को (लभते, पौर्व-देहिकं) पालेता है पूर्वले देह में होने वाले को (यतते, च, ततः, भूयः) और यत्न करता है उससे आगे (संसिद्धौ, कुरु-नन्दन) सिद्धि में हे कुरु नन्दन ।

अ–वहां (श्रीमानों के वा योगियों के घर में) वह पूर्वले देह में होने वाले उस बुद्धि-संयोग को (पूर्वाभ्यास के बल से अल्पकाल में ही) पालेता है और उससे आगे सिद्धि में यत्न करता है हे कुरु नन्दन !

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४

श–(पूर्व-अभ्यासेन, तेन, एव) पूर्वले अभ्यास उससे ही (ह्रियते, हि, अवशः, अपि, सः) खींचा जाता है निःसन्देह बे बस हुआ भी वह (जिज्ञासुः, अपि, योगस्य) जिज्ञासु भी योग का (शब्द-ब्रह्म, अतिवर्त्तते) शब्द ब्रह्म को उलांघ जाता है ।

अ–उस पूर्वले अभ्यास से ही वह (योगभ्रष्ट) बेवस हुआ (किसी विघ्न से न चाहता हुआ)भी खींचा जाता है,योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म * को निःसन्देह उलांघ जाता है ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततोयातिपरांगतिम् ४५

श–(प्रयत्नात, यतमान,: तु) प्रयत्न से यत्न करता हुआ किन्तु (योगी, संशुद्ध-किल्बिषः) योगी धोये हुए मलों वाला (अनेक-जन्म-संसिद्धः) अनेक जन्मों से सिद्ध हुआ (ततः, यान्ति, परां, गतिं) तब प्राप्त होता है परम गति को ।

अ–किन्तु प्रयत्न से लगा हुआ सारी (अन्तःकरण की) मलों को धोकर वह योगी अनेक जन्मों से सिद्ध हुआ तब परम गति को प्राप्त होता है (योग से चलित हुआ भी फिर मोक्ष पद को प्राप्त होताही है)।

संगति–जिसलिये ऐसे है, इसलिये :-

तपस्विभ्योऽधिकोयोगीज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधियोगीतस्माद्योगीभवार्जुन

श–(तपस्विभ्यः, अधिकः, योगी) तपस्वियों से अधिक

---

* शब्द ब्रह्म = वेद, अर्थात् वेदों के कर्मों के अनुष्ठान के फल (स्वर्गादि) को उलांघ जाता है (श्री शंकराचार्य्य) देव, मनुष्य, आदि शब्द से कहने योग्य ब्रह्म = प्रकृति, उसको उलांघ जाता है अर्थात् प्रकृति के सम्बन्ध से विमुक्त हुआ उस ज्ञान आनन्द स्वरूप आत्मा को प्राप्त होता है, जो देव मनुष्यादि शब्दों से नहीं बोला जाता (श्री रामानुज)।

योगी (ज्ञानिभ्यः, अपि, मतः, आधिकः) ज्ञानियों से भी माना गया है अधिक (कर्मिभ्यः, च, अधिकः, योगी) और कर्मियों से भी अधिक योगी (तस्मात्, योगी, भव, अर्जुन) इसलिये योगी हो हे अर्जुन ।

अ–योगी तपस्वियों (चान्द्रायणादि तप करने वालों) से आधिक और ज्ञानियों (शास्त्र के जानने वालों से) अधिक और कर्मियों से भी अधिक माना गया है, इसलिये हे अर्जुन योगी हो ।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनन्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ४७

श–(योगिनां, अपि, सर्वेषां) योगी भी सब में से (मद्गतेन, अन्तर्-आत्मनः) मुझ में लगे हुए मन से (श्रद्धावान्, भजते यः, मां) श्रद्धावाला हुआ भजता है जो मुझे (सः, मे, युक्ततमः, मतः) वह मेरा युक्ततम माना गया है ।

अ–योगी भी सब में से जो योगी श्रद्धा से भरा हुआ मुझ में मन लगाए हुए मेरा भजन करता है वह मुझ से युक्ततम माना गया है।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ।

संगति–इन अगले छः अध्यायों से भजनीय परमात्मा की महिमा और उसका भजन वर्णन करेंगे, जिसका बीज पूर्वाध्याय के अन्त में "मद्गतेनान्तरात्मना, श्रद्धावान् भजते यो मां" से डाल दिया है। भक्ति क्या है ? "स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः" स्नेह पूर्वक चिन्तन करना (स्मरण करना) बुद्धिमानों से भक्ति कही जाती है। यदि भक्ति हृदय में नहीं है, तो फिर जपतप आदि कोई भी परमात्मा की प्राप्ति का साधन नहीं बन सक्ता "नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि

मां यथा। भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप" (गीता, ११। ५३ से ५४) इस अनन्य भक्ति से भक्त-वत्सल परमात्मा स्वयं अपने भक्त को स्वीकार कर के अपना दर्शन देते हैं " नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मे धया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्"=न यह आत्मा वेद से पाया जासक्ता है, न मेधासे न बहुत सुनने (सीखने) से, हां जिसको यह आप स्वीकार करता है, वही उसे पाता है, उसके लिये यह आत्मा अपना स्वरूप खोल देता है (मुण्डक ३। २। ४) इत्यादि रहस्य को अर्जुन के हृदय-गत करना चाहते हुए—

श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान् बोले।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु १।

श—(मयि, आसक्त-मनाः, पार्थ) मुझमें लगे हुए मन वाला हे पार्थ (योगं, युञ्जन्, मद्-आश्रयः) योग को जोड़ता हुआ मेरी शरण लिये हुए (अ-संशयं, समग्रं, मां) विना सन्देह के पूरा २ मुझे (यथा, ज्ञास्यसि, तद्, शृणु) जैसे जानेगा वह सुन।

अ—हेपार्थ! मुझमें मन लगा मेरी शरण लिये हुए योगका अभ्यास करता हुआ तू विना सन्देह के मुझे पूरा २ (विभूति बल ऐश्वर्य आदि के साथ) जैसे जान लेगा, वह सुन।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेहभूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते२

श-(ज्ञानं, ते, अहं, स-विज्ञानं) ज्ञान तुझे मैं सहित विज्ञान के (इदं,वक्ष्यामि, अ-शेषतः) यह कहूंगा पूरा (यत्, ज्ञात्वा) जिस को जान कर (न, इह, भूयः, अन्यत्, ज्ञातव्यं, अवशिष्यते) नहीं फिर और जानने योग्य बाकी रहता हैं।

अ-विज्ञान (अपने अनुभव) के सहित यह ज्ञान मैं तुझे पूरा बतलाउंगा, जिसको जानकर इस लोक में फिर और जानने योग्य बाकी नहीं रहता है (उसी से कृतार्थता होजाता है)।

संगति-यह ज्ञान बड़ा ही दुर्लभ है, यह दिखलाते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानांकश्चिन्मांवेत्ति तत्त्वतः ३

श-(मनुष्याणां, सहस्रेषु) मनुष्यों के सहास्रों में से (कश्चित्, यतति, सिद्धये) कोई यत्न करता है सिद्धि के लिये (यततां, अपि, सिद्धानां) यत्न करते हुए भी सिद्धों में से (कश्चित्,मां,वेत्ति तत्त्वतः) कोई मुझे जानता है यथार्थ।

अ-(मनुष्य से भिन्न भी असंख्यात जीव हैं, उनकी तो इस मार्ग में प्रवृत्ति ही नहीं होसक्ती है पर) मनुष्यों में से भी हजारों में से कोई ही (प्रबल पुण्यों के वश) सिद्धि के लिये यत्न करता है, और यत्न करने वाले सिद्धों में भी कोई ही मुझे तत्त्व से जानता है

संगति-इस प्रकार जो कुछ आगे कहना है, उसमें श्रोता की रुचि उत्पन्न करके, अब उसका कहना आरम्भ करते हैं। सो प्रतिज्ञा के अनुसार परमात्म स्वरूप का निरूपण करना चाहते हुए पहले अपर और पर प्रकृति का निरूपण करते हैं क्योंकि इसी के द्वारा परमात्मा सृष्टि आदि का कर्ता है, सो जैसे—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥५॥

श–(भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खं, मनः, बुद्धिः, एव, च) पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश मन और बुद्धि भी (अहंकारः, इति) अहंकार यह (इयं, मे, भिन्ना, प्रकृतिः, अष्ट-धा) यह मेरी प्रकृति भेद वाली आठ प्रकार की ॥ ४ ॥ (अपरा, इयं) अपरा यह (इतः, तु, अन्यां, प्रकृतिं, विद्धि, मे, परां) इस से भिन्न प्रकृति जान मेरी परा (जीव-भूतां, महा-बहो) जीव स्वरूप को हे महाबाहो (यया, इदं, धार्यते, जगत्) जिससे यह धारण किया जाता है जगत् ।

अ–पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश मन बुद्धि और अहंकार इन आठ भेद वाली मेरी प्रकृति है ॥ ४ ॥ (पूर्वोक्त आठ भेद वाली प्रकृति) अपरा (वरे की, निचली) है, अब मेरी दूसरी प्रकृति को जान जो परा (परे की, उत्कृष्ट) है, वह जीव रूप है, जिस से यह जगत् धारण किया जाता है ॥५॥

भष्य–प्रकृति सांख्य की परिभाषा में उस मूलतत्त्व का नाम है, जो इस जड़ जगत् का उपादान कारण है, जिसको प्रधान और अव्यक्त कहते हैं। पर यहां प्रकृति शब्द खुले अर्थों में लिया गया है। परमात्मा की वह शक्ति जिसके द्वारा इस जगत् का प्रकाश (ज़हूर) हुआ है। वह शक्ति दो प्रकार की है, एक जड़ और दूसरी चेतन। इन में से जड़ भोग्य है और चेतन भोक्ता है,

जड़ दृश्य है और चेनत द्रष्टा है, जड़ शक्ति चेतन के लिये नानारूप धरती है, चेतन आत्मा उसके नानारूपों को देखता और भोगता है। जगत् की सारी शोभा इन दोनों के मेलसे है। शैवाल (काई) से लेकर अनेक प्रकार के तृण घास, अनेक प्रकार के लता, गुल्म गुच्छ;ओषधि, वनस्पति, नाना प्रकारके जीव जन्तु सरीसृप जलचर स्थलचर और वायुचर पशुपक्षी; और फिर सब से उत्तम अन्ततः मानुष जीवन यह सारा जीवन ही जीवन इन दोनों के मेल से प्रकट होता है, इस लिये यही दोनों इस सारी शोभा की प्रकृति हैं। यद्यपि जड़ शक्ति मूल में तीन गुण (सत्त्व, रज, तम) रूप है। पर वह चेतनावाले शरीरों में आठ प्रकार की होकर आरम्भक हुई है। पृथिवी जल तेज वायु आकाश यह शरीर का ढांचा बनाने वाले हैं और मन बुद्धि अहंकर चेतन के प्रधान साथी हैं। ख्याल करना मन के साथ, निश्चय करना बुद्धि के साथ, और मैं और ममता का भाव अहंकार के साथ मिलकर प्रकाशता है* यह आठ प्रकार की प्रकृति जड़ है और परार्थ (दूसरे के लिये अर्थात् जीवात्मा के भोगने के लिये) है,इस लिये यह अपर

---

* सांख्य शास्त्र में, शब्द तन्मात्र स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रस तन्मात्र और गन्धतन्मात्र यह पांच तन्मात्र और अहंकार महत्तत्त्व और अव्यक्त यह आठ प्रकृतियां कही हैं। प्रायः व्याख्याकारों ने उस के साथ मिलाने के लिये यहां भी पांच भूतों से उनके कारण पञ्चतन्मात्र, मन से उसका कारण अहंकार, बुद्धि से महत्तत्त्व और अहंकार से अव्यक्त अर्थ लिया है। पर यह अनावश्यक परिश्रम है,सीधे अर्थमें कोई हानिनहीं और प्रकृति शब्द यहां सांख्यका परिभाषिक कहा ही नहीं, जिस लिये जीवको भी प्रकृति कहा है।

है, जीवात्मा चेतन है और भोक्ता है, इस लिये वह पर है। इनके दर्शन का क्रम भी यही है, कि इन आठों को देखकर पीछे शुद्ध आत्मा को देखता है, इस लिये यह आठों अपरा प्रकृति है, और जीवात्मा पराप्रकृति, इस पराप्रकृति ने ही छोटे २ तृणों से लेकर मनुष्य पर्यन्त सारे जगत् का धारण किया हुआ है।

संगति—इन दोनों का प्रकृति होना दिखलाते हुए परब्रह्म को इनके द्वारा सृष्टि आदि का कर्ता होना दिखलाते हैं—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ६

श—(एतत्-योनीनि, भूतानि, सर्वाणि) यही दोनों कारण हैं जिनके, जीव सारे (इति, उपधारय) यह जान (अहं, कृत्स्नस्य, जगतः) मैं सारे जगत् का (प्रभवः, प्रलयः, तथा) उत्पत्ति स्थान लाय का स्थान वैसे।

अ—यह जान, कि यही दोनों (प्रकृतियें) सारे भूतों के कारण हैं*। मैं सारे जगत् का प्रभव (चश्मा, सोत) तथा प्रलय (लय का स्थान) हूं†।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

---

* जड़ प्रकृति से शरीर बनते हैं, और आत्मा उनमें प्रविष्ट हो कर धारण करते हैं।

† मैं इनको प्रगकट करता हूं और मैं ही संहार करता हूं।

श–(मत्तः, परतरं) मुझ से अधिक परे (न, अन्यत्, किञ्चित्, अस्ति, धनञ्जय) नहीं और कुछ है हे धनञ्जय (मयि, सर्वं, इदं, प्रोतं) मुझ में यह सारा प्रोया हुआ है (सूत्रे, मणि-गणाः,इव) तागे में मणियों की लड़ी जैसे।

अ–हे धनञ्जय मुझ से बढ़ कर परे कुछ और नहीं है, यह सब मुझ में प्रोया हुआ है, जैसे तागे में मोतियों की लड़ी।

भाष्य–प्रकृति से परे जीव,जीव से परे ब्रह्महै,ब्रह्म से परे कुछ नहीं है। ब्रह्म प्रकृति और जीव दोनों से अलग है, दोनों के अन्दर स्थित हुआ दोनों का नियन्ता है, अन्तर्यामि ब्राह्मण (बृहदा ३।७) में यह विषय सविस्तर वर्णन किया गया है। यहां तागे में मोतियों की लड़ी की तरह प्रोया हुआ कहने से जगत् से ब्रह्म का भेद स्पष्ट दिखलाया है। तागे और मणियों में स्पष्ट भेद होता है, अतएव अद्वैतवादी श्री मधुसूदन स्वामी इस पर लिखते हैं, कि 'कनके कुण्डलादिवत् इति तु योग्यो दृष्टान्तः' सोने में कुण्डल आदि की तरह (उस में जगत् प्रोया हुआ है) यह योग्य दृष्टान्त है।क्योंकि सोना ही कुण्डल है,कुण्डल सोने से पृथक् नहीं। इस लिये अद्वैतवाद में उन्होंने इस दृष्टान्त को योग्य दृष्टान्त कहा है। पर हम देखते हैं, कि असली दृष्टान्त मन्त्र और उपनिषद् के सहारे पर है 'यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्य योविद्यात् सविद्यात् ब्राह्मणं महत्=जो उस फैले हुए तागे को जान ले, जिस में यह सारी प्रजाएं प्रोई हुई हैं, हां जो सूत्र के सूत्र को जानले, वह पर ब्रह्म को जानलेगा (अथर्व० १०। ८। ३७) और देखो बृहदारण्यक ३। ७ और ८।

संगति–परमात्मा हर एक भाव को शक्ति और जीवन देता हुआ उस में स्थित है, यह दिखलाते हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

श–(रसः, अहं, अप्सु, कौन्तेय) रस मैं जलों में हे कुन्ती के पुत्र (प्रभा, अस्मि, शशि-सूर्ययोः) प्रभा हूं चन्द्र सूर्य में (प्रणवः, सर्व-वेदेषु) ओंकार सारे वेदों में (शब्दः, खे, पौरुषं, नृषु) शब्द आकाश में पराक्रम मनुष्यों में।

अ–हे कौन्तेय जलों में मैं रस हूं, चन्द्र और सूर्य में प्रभा हूं, सारे वेदों में ओंकार हूं, आकाश में शब्द हूं, और मनुष्यों पौरुष हूं।

भाष्य–यह सारा जगत् परमात्मा के आश्रय है, वही इसको शक्ति देरहा है, और वही इसको जीवन देरहा है। जलोंका जलत्व और सूर्य का सूर्यत्व उसके सहारे पर है, इस भावको बोधन करने के लिये यह कहा है, कि जलों में मैं रस हूं और सूर्य में प्रभा। रस से ही जलका जलत्व है और प्रकाश से ही सूर्य का सूर्यत्व है, जलों में रस कहने से और सूर्य में प्रभा कहने से यह बोधन किया है, कि इनकी सारी महिमा परमात्मा के सहारे पर है* यही आशय आगे श्लोक १२ में स्पष्ट करेंगे।

पुण्योगन्धः पृथिव्यांचतेजश्चास्मिविभावसौ
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

श–(पुण्यः, गन्धः, पृथिव्यां, च) और पवित्र गन्ध पृथिवी में (तेजः, च, अस्मि, विभावसौ) और तेज हूं अग्नि में (जीवनं,

---

*सविस्तर देखो उपनिषदों की भूमिका पहला भाग विषय ब्रह्म सब को शक्ति देरहा है, और ब्रह्म सबका जीवन है।

सर्व-भूतेषु, तपः, च, अस्मि, तपस्विषु) जीवन सारे प्राणियों में और तप हूं तपस्वियों में ।

अ—पृथिवी में मैं पवित्र गन्ध हूं, अग्नि में तेज हूं (दहन शक्ति) हूं, सब भूतों में जीवन हूं,और तपस्वियों में तप (सर्दी गर्मी भूख प्यास आदि द्वन्द्वों के सहन का सामर्थ्य) हूं।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मितेजस्तेजस्विनामहम्१०

श—(वीजं, मां, सर्व-भूतानां) बीज मुझे सब भूतों का (विद्धि, पार्थ, सनातनं) जान हे पृथा के पुत्र सनातन (बुद्धिः, बुद्धिमतां, अस्मि) बुद्धि बुद्धि वालों की हूं (तेजः, तेजास्विनां, अहं) तेज तजस्वियों का मैं।

अ—हे पार्थ सब भूतों का सनातन बीज मुझे तूं जान, बुद्धि वालों की मैं बुद्धि हूं और तेजस्वियों का तेज हूं।

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ११॥

श—(बलं, बलवतां, अस्मि) बल बलवालों का हूं (काम-राग-विवर्जितं) काम राग से शून्य (धर्म-अविरुद्धः) कर्तव्य के अविरुद्ध (भूतेषु, कामः, अस्मि, भरत-ऋषभ) भूतों में इच्छा हूं हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ।

अ—बल वालों का मैं काम और राग से शून्य* बल हूं,

---

*काम = अप्राप्त विषयों में तृष्णा और राग = प्राप्त विषयों में आसक्ति। जब काम और राग बल को किसी काम में लगाते हैं, तो बल का क्षय होता है, इस लिये ईश्वरीय भाव उस बल में

हे भारतों में श्रेष्ठ मैं अपने कर्तव्य के अविरुद्ध इच्छा हूं* ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्चये
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि १२।

श–(ये, च, एव, सात्त्विकाः,भावाः राजसाः,तामसाः,च,ये) और जो ही सात्त्विक भाव राजस और तामस जो (मत्तः, एव, इति, तान्, विद्धि) मुझ से ही कि उनको जान (न, तु, अहं, तेषु, ते, मयि) नहीं पर मैं उनमें वह मुझ में ।

अ–और जो (और) भी सात्त्विक राजस और तामस भाव है,† उनको तू जान, कि वह मुझ से ही हैं । और (यह जानकि) मैं उन में नहीं हूं पर वह मुझ में हैं‡ ।

है जो ईश्वर की आज्ञा में लगाया जाता है, न कि काम राग, की आज्ञा में ।

* अपने धर्म से अविरुद्ध अर्थात् अपनी स्त्री में ही केवल पुत्र की उत्पत्ति के उपयोगी काम में हूं (श्री श्रीधर) ।

†सात्त्विक राजस और तामस, जिन में सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण प्रधान है । सब चर अचर इन्हीं तीनों गुणों से बना है, और हर एक में तीनों में से कोई गुण प्रधान होता है।भाव= पदार्थ; सात्विक भाव=शमदम आदि, राजस=हर्ष दर्प आदि, और तामस शोक मोह आदि, जो प्राणियों के अपने २ कर्म के अधीन उत्पन्न होते हैं, उन सब को मुझ से ही उत्पन्न हुआ जान, क्योंकि मेरी प्रकृति के जो गुण तीन हैं, उनका वह कार्य्य हैं (श्री श्रीधर) ।

‡ मैं उनके सहारे वा अधीन नहीं,वह मेरे सहारे हैं । यही पूर्वकहे 'रसोऽहमप्सु' इत्यादि से अभिप्राय है ।

संगति-(प्रश्न) ऐसे परब्रह्म को लोग क्यों नहीं जानते हैं, यह बतलाते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥१३

श-(त्रिभिः, गुणमयैः, भावैः, एभिः) तीन गुणमय भावों इन से (सर्वं, इदं, जगत्) सारा यह जगत् (मोहितं, न, अभिजानाति) मोहा हुआ नहीं जानता है (मां, एभ्यः, परं, अव्ययं) मुझको इन से परे अविनाशी।

अ-गुणमय (गुणों से बने हुए) इन तीन (सात्त्विक, राजस तामस) भावों से मोहा हुआ यह जगत्, इन से परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता है।

भाष्य-प्रकृति का सौन्दर्य इसको ऐसा मोहित करलेता है कि यह उसी में रम जाता है, उस से परे देखता ही नहीं।

संगति-कौन तब परब्रह्म को जानता है, यह बतलाते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥१४

श-(दैवी, हि, एषा, गुणमयी) दैवी निःसन्देह यह गुणमयी = गुणस्वरूप (मम, माया, दुरत्यया) मेरी माया न उलांघी जाने वाली (मां, एव, ये, प्रपद्यन्ते) मुझे ही जो प्राप्त होते हैं (मायां, एतां, तरन्ति, ते) माया इसको तर जाते हैं वह।

अ-यह दैवी (अद्भुत) गुणमयी (सत्त्व, रज, तम रूपा) मेरी माया (किसी से) उलांघी नहीं जासक्ती, मेरी ही जो शरण पकड़ते हैं, वह इस माया से पार होते हैं।

भाष्य—माया का अर्थ पूर्व ४।६ में कहा है, और माया शब्द की प्रवृत्ति जिस तरह धोखे के अर्थ में हुई है, वह भी कहा है। माया के कार्य को भी माया कहते हैं। ऋग्वेद में देवता के सम्बन्ध में माया का बहुधा वर्णन है (देखो ऋग्० २।१.७५; ५।४०।६; ५।६३।४; ६।४७।१८)। जहां २ देवता के सम्बन्ध में माया का वर्णन है, वहां २ सच्चे ज्ञान और सच्चे कार्य से अभिप्राय है। दूसरा वर्णन असुरों के सम्बन्ध में मिलता है, जहां २ असुरों के सम्बन्ध में वर्णन है, वहां २ धोखे के अर्थ में है (देखो शतपथ ११।१।६।१२)। सो यह दो भेद देखकर आचार्य ने यहां माया का विशेषण दैवी और गुणमयी दिया है। यह इस जगत् की मोहने वाली रचना है, जो पुरुष को अपने ही सौन्दर्य में उरझाय रखती है, परे नहीं जाने देती। पर सच तो यह है, कि अतएव यह भी हमारे लिये धोखा ही है, यह धोखा मिटता तभी है, जो हम परमेश्वरपरायण हों "तस्याभिध्यानाद् योजनाद् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः"=उसके स्मरण से, उसमें (चित्त को) जोड़ने से और तन्मय होजाने से, फिर अन्ततः सारी माया हटजाती है (श्वेत० १।१०)। जगत् में उरझकर मनुष्य धोखा तो अवश्य खारहा है, पर जगत् मिथ्या है "है नहीं और प्रतीत होता है" ऐसा न उपनिषद् में है, न गीता में है। अनुगीता में तो स्पष्ट श्रीकृष्ण कहते हैं "सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्"=सत्य से भूत उत्पन्न हुए हैं, अतएव सत्य है यह भूतमय जगत्।

संगति—यदि ब्रह्म की शरण आए माया को तर जाते हैं, तब सभी ब्रह्म की शरण क्यों नहीं लेते इस पर कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः १५

श–(न, मां, दुस्-कृतिनः, मूढाः) नहीं मुझे खोटे कर्मों वाले मूढ़ (प्रपद्यन्ते, नर-अधमाः) प्राप्त होते मनुष्यों में से नीच (माय-या, अपहृत-ज्ञानाः) माया से नष्ट हो गया है ज्ञान जिनका (आ-सुरं, भावं, आश्रिताः) आसुर भाव का आश्रय लिये हुए।

अ–खोटे कर्मों वाले मूढ नीच मनुष्य जिनका कि ज्ञान (विवेक) माया से नष्ट हो गया है, जो आसुर भाव का* आश्रय लिये हुए हैं, वह मेरी शरण नहीं लेते†।

संगति–कौन वह पुण्यात्मा हैं जो परमेश्वर की शरण लेतेहैं–

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ १६

---

*आसुर भाव = असुरों की प्रकृति, देहको ही आत्मामान कर उसी के लालन पालन में प्रवृत्ति। छलछिद्रादि से भी लौकिक सुखों का भोगना (देखो गीता १६। ४)।

† श्री यामुनाचार्य्य और श्री रामानुजने यहां चार प्रकार के पुरुष कहे हैं. एक वह जो पापकारी हैं, दूसरे वह जो मूढ हैं, जिनको परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान नहीं, इस लिये वह प्राकृत विषयों में ही आसक्त रहते हैं। तीसरे वह जिनका ज्ञान माया से नष्ट करदियागया है,वह परमात्माको जानकर भी उलटी वासनाओं के हेतु उससे विमुख ही रहते हैं। चौथे वह जो आसुर भाव का आश्रय लिये हुए हैं। स्वयं दम्भ दर्पादि सेजीवन बिताते हुए जगत् को ईश्वर से खाली मानने में ही कुशल समझते हुए परमात्मा के द्वेषी बनजाते हैं। यह चारों ही अधम मनुष्य हैं।

श-(चतुर्-विधाः, भजन्ते, मां) चार प्रकार के भजते हैं मुझे (जनाः, सुकृतिनः, अर्जुन) जन पुण्यात्मा हे अर्जुन (आर्तः, जिज्ञासुः, अर्थ-अर्थी) पीडित, जिज्ञासु, अर्थ का अर्थी (ज्ञानी, च, भरत-ऋषभ) और ज्ञानी हे भरतों में श्रेष्ठ।

अ-हे भरतों में श्रेष्ठ! चार प्रकार के जन मेरा भजन करते हैं-पीडित (दुखिया, रोग वा विपद् में ग्रस्त) जिज्ञासु, किसी अर्थ से अर्थी और ज्ञानी।

संगति-इन के मध्य में ज्ञानी श्रेष्ठ है यह कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियोहिज्ञानिनोऽत्यर्थमहं सचममप्रियः१७॥

श-(तेषां, ज्ञानी) उनमें से ज्ञानी (नित्य-युक्तः, एक-भक्तिः, विशिष्यते) सदा युक्त एक में भक्तिवाला बढ़कर है (प्रियः,हि, ज्ञानिनः, अत्यर्थं, अहं) प्यारा निःसन्देह ज्ञानी का अतिशय करके मैं (सः, च, मम, प्रियः) और वह मेरा प्यारा।

अ-उनमें से ज्ञानी जो सदा (परमात्मा से) युक्त है, और एक (परमात्मा) में ही भक्ति वाला है, वह बढ़कर है। मैं ज्ञानी का अत्यन्त प्यारा हूं, और वह मेरा प्यारा है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः सहियुक्तात्मामामेवानुत्तमांगतिम्

श-(उदाराः, सर्वे, एव, एते) उदार सारे ही यह (ज्ञानी, तु, आत्मा, एव, मे, मतं) ज्ञानी तो आत्मा ही मेरा मत (आस्थितः

सः, हि, युक्त-आत्मा) आश्रय लिये हुए वह क्योंकि युक्त आत्मा वाला (मां, एव, अनुत्तमां, गतिं) मुझ कों ही सब से उत्तम गति को।

अ—सभी यह उदार (मोक्ष के भागी) हैं, पर ज्ञानी तो मेरा आत्मा *ही है, यह मेरा सिद्धान्त है, क्योंकि वह युक्त (मुझ से जुड़े हुए) आत्मा वाला मुझे ही सब से उत्तम गति मानता हुआ मेरा ही आश्रय लिये हुए है (न कि मुझ से कुछ और आरोग्य आदि चाहता हुआ मेरी भक्ति करता है—दूसरे पीड़ा का निवारण ज्ञान की प्राप्ति और अर्थ की प्राप्ति चाहते हैं) ।

संगति—परमात्मा का ऐसा भक्त बड़ा दुर्लभ है, यह कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।१९।

श—(बहूनां, जन्मनां, अन्ते) बहुत जन्मों के अन्त में (ज्ञान-वान्, मां, प्रपद्यते) ज्ञान वाला मुझे प्राप्त होता है (वासुदेवः,सर्वं, इति) वासुदेव सब कुछ है ऐसा (सः, महात्मा, सु-दुर्लभः) वह महात्मा बड़ा दुर्लभ ।

अ—बहुत जन्मों की समाप्ति में ज्ञान वाला हुआ वह मुझे प्राप्त होता है—'यह सब वासुदेव है†' ऐसा देखता हुआ, वह महात्मा बड़ा दुर्लभ है ।

---

* आत्मा कहने से प्रेमका अतिशय प्रकट किया है, न कि स्वरूप से एकता, अन्यथा भक्तों में इस को गिना ही न जाता। ज्ञानी की ही भक्ति सब से ऊंची है, क्योंकि वह परमात्मा से कोई और कामना नहीं चाहता है।

†यह सब परमात्म से व्याप्त है परमात्मा के अधीन है, इसलिये उसे सब कुछ कहा है " सर्वं समाप्नोषिततोऽसिसर्वः " (११ । ४)

संगति—उस ज्ञानी की दुर्लभता ही उपपादन करते हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया

श—(कामैः, तैः, तैः, हृत-ज्ञानाः) कामनाओं उन२ से हरे हुए ज्ञान वाले (प्रपद्यन्ते, अन्य-देवताः) प्राप्त होते हैं दूसरे देवता ओं को (तं, तं, नियमं, आस्थाय) उस २ नियम को आश्रय करके (प्रकृत्या, नियताः, स्वया) प्रकृति से जकड़े हुए अपनी से

अ—उन २ (धन पुत्र कीर्ति शत्रु जय आदि) कामनाओं से दूर हुए विवेक वाले (सारे लौकिक पुरुष) अपनी प्रकृति (लौकिक विषयों की वासना) से जकड़े हुए, उस २ (देवता के आराधन के अनुकूल) नियम का आश्रय करके (केवल दूसरे) (इन्द्रादि) देवताओं को ही भजते हैं ।

भाष्य—यहां 'अन्य देवता' दूसरे देवताओं से क्या तात्पर्य है, यह बात वेदों का परम रहस्य समझे विना समझनी अतीव कठिन है, अतएव कई एक व्याख्याकार इस में भूले हैं, और कई एक तो ऐसे उलझे हैं, कि उनको कहीं ठिकाना ही नहीं लगा। उन्होंने अन्यदेवताओं की पूजा को पाप भी माना है और फिर आगे यह भी माना है कि अन्य देवताओं की पूजा भी सफल है हां फल अन्तवाला है अनन्त नहीं, और यह भी, कि परमात्मा ही इस पूजा में उनकी श्रद्धा को अचल बनाते हैं इत्यादि । यह व्याख्या उन्हीं को शोभा पाती है । अस्तु हम यहां वास्तव अभिप्राय को विवृत करते हैं ।

वेदों में जो इन्द्रादि देवता कहे हैं वह परमात्मा की व्याष्टि महिमा के द्योतक हैं । जिस तरह जीते जागते शरीर से जो कुछ प्रकाश पाता है, वह सब आत्मा के आश्रय है । आंख देखती है

कान सुनता है, वाणी बोलती है, और मन सोचता है, यह सब जीवित पुरुष के धर्म आत्मा से प्रकाशित हो रहे हैं, और आत्मा इन धर्मों के सहारे अलग २ नाम धारण करता है, आंख के धर्म को लेकर वह द्रष्टा है, और श्रोत्र के धर्म को लेकर वह श्रोता है; यद्यपि यह सारे धर्म एक ही आत्मा के हैं, तथापि उनका सम्बन्ध अलग २ इन्द्रिय से है, जिस के द्वारा आत्मा की वह शक्ति प्रकाशित होती है। आंख का अधिष्ठता होकर ही आत्मा द्रष्टा है, श्रोत्र का अधिष्ठाता होकर वह द्रष्टा नहीं कहलाता। अब इसी प्रकार इस जीते जागते समस्त विश्व से जो कुछ प्रकाश पाता है, वह सब इस परमात्मा के आश्रय है 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उस के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है। जिसके आश्रित हुई अग्नि जलती है, उसी के आश्रित हुआ सूर्य चमकता है और बिजली चमकती है, यह इस जीवन्त विश्व के धर्म उस परम आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं, और वह परम आत्मा इन धर्मों के सहारे अलग २ नाम धारण करता है। सूर्य के धर्म को लेकर वह सूर्य है और बिजली के धर्म को लेकर वह इन्द्र है, इस प्रकार यद्यपि यह सारे नाम उसी परम आत्मा के हैं, तथापि इनका सम्बन्ध इस विश्व की एक अलग २ दिव्य शक्ति से है। सूर्य का अधिष्ठाता होकर वह सूर्य ही कहलाता है, बिजली का अधिष्ठाता होकर वह सूर्य नहीं कहलाता। इसी प्रकार बिजली का अधिष्ठाता होकर वह इन्द्र कहलाता है। यही **शबल ब्रह्म** है यही **अपरब्रह्म** है। यही इन्द्र आदि देवता है। यह एक ही परम देव है, जो अधिष्ठान भेद से भिन्न २ देवता के नामों से पुकारा जाता है। अतएव कहा है 'यो देवानां नामधा एकएव'=जो एक ही सारे देवताओं के

नाम धारने वाला है (ऋग्० १० । ८२ । ३) 'स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् । स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्'=सायंकाल वह वरुण और अग्नि होता है, और प्रातः काल उदय होता हुआ वह मित्र होता है, वह सविता होकर अन्तरिक्ष से चलता है, वह इन्द्र होकर मध्य से द्यौ को तपाता है (अथर्व १३ । ३ । १३) 'स धाता स विधाता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् । सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ॥४॥ सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः ॥ ५ ॥=वह धाता है, वह विधाता है, वह वायु है, वह ऊंचा मेघ है ॥ ३ ॥ वह अर्यमा है, वह वरुण है, वह रुद्र है, वह महादेव है ॥ ४ ॥ वह अग्नि है, वह सूर्य है, और वह ही महायम है ॥ ५ ॥ (अथर्व १३ । ४)

इसप्रकार अधिष्ठानभेद से नामभेद और धर्मभेद होकर भी उसी एक परम शक्ति का वर्णन है । इसी अधिष्ठान और धर्म भेद से ही अलग २ देवता के तौर पर उसकी स्तुति की जाती है, और इसी भेद को लेकर प्रार्थना में भेद होता है । हम बल मांगते हुए इन्द्र से मांगते हैं, क्योंकि उस रूप में परमात्मा बलके अधिपति हैं । हम पवित्रता मांगते हुए वरुण से प्रार्थी होते हैं, क्योंकि इस रूप में वह पवित्रता के अधिपति हैं ।

उपनिषद् भी इसी आशय को स्पष्ट करते हैं—' तदूयदिदमाहुरमुंयजामुंयजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उह्येव सर्वे देवाः' सो जो यह कहते हैं, कि इसको पूजो, इसको पूजो, इसप्रकार एक एक देव को (पूजने के लिये कहते हैं) यह इसी की विसृष्टि (विविध फैलाव) है, यही सारे देवता है । सविस्तर वर्णन देखो वेदोपदेश; ईश ९से ११;कठकी भूमिका;छान्दोग्य५।१८।३ इत्यादि ।

गीता का भी देवता से ऐसा ही अभिप्राय है, यह बात बड़ी स्पष्ट है। देखो ९। २० जिसमें स्पष्ट कहा है, कि सोम पीने वाले मुझे यज्ञों से पूजते हैं। सोमयज्ञों में इन्द्रादि देवताओं को ही आहुतियां दीजाती हैं, इन्द्रादि देवताओं की पूजा परमात्मा की पूजा इसीलिये है, कि वह परमात्मा के ही शवल रूप हैं। फिर ९। २३ में यह स्पष्टही कह दिया है। 'येप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः।तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्ति' = जो अन्य देवताओं में भक्ति वाले हुए श्रद्धापूर्वक उनको पूजते हैं,वह भी हे कौन्तेय! मुझे ही पूजते हैं। यही निःसन्देह यहां भी अभिप्रेत है।अतएव आगे कहा है 'मैं ही उन देवताओं में उनकी श्रद्धा को अचल वनाता हूं; (२१)। 'मैं ही उनका फल देता हूं; (२२) इत्यादि। २१ की व्याख्या में श्री रामानुज लिखते हैं 'वह भी देवता मेरे ही शरीर हैं' 'जो सूर्य में रहता है० जिसको सूर्य नहीं जानता० जिसका सूर्य शरीर है; (बृह० ३। ७) इत्यादि श्रुतियों से वतलाये हुए मेरे शरीर हैं, ऐसा न जानता हुआ भी जो जो मेरे इन्द्रादि शरीर को भक्त बनकर श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस उस की-न जानते हुए की भी-मेरे उस शरीर के विषय में यह श्रद्धा है,इसप्रकार मैं ही जान करके उस उस श्रद्धा को अचलवना देता हूं इत्यादि'। इस तरह व्याख्याकार भी इस अभिप्राय पर पहुंचे हैं (प्रश्न) यदि यह अभिप्राय है तो फिर यह भी ईश्वर पूजा ही है, तव (१) इसको ईश्वर पूजा से अलग क्यों कहा (२) इस का फल अन्तवाला क्यों कहा (३) और ९। २२ में इस पूजा को अविधिपूर्वक पूजा क्यों कहा (उत्तर) यहां पूजा से अभिप्राय यज्ञ है,अतएव २३ में 'देवयजः' कहा है और ९। २२ में 'यजन्ते' कहा है।सो जो केवल कर्मी इन्द्रादि देवताओं के लिये कर्म

तो करते हैं, पर इस अपनी पूजा के रहस्य को नहीं समझते, उनको भी कर्म का स्वाभाविक फल-धन पुत्र पशु स्वर्गादि मिल जाता है, और वह फल भी परमात्मा ही देता है, पर यह फल सब अन्तवाला होता है। जो फिर वैदिक रहस्य को समझते हुए यज्ञादि कर्म करते हैं, वह कर्म करते समय ध्यान से परमात्मा की महिमा चिन्तन करते हुए परमात्मा में मग्न होते हैं, इसलिये उनका कर्म अधिक शक्तिवाला होता है 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'=(कर्म) जो विद्या श्रद्धा और रहस्य ज्ञान के साथ किया जाता है वही अधिक शक्तिवाला होता है। कर्म दोनों ही करते हैं, जो इन्द्रादि देवता स्वरूप में परमात्मा को अनुभव करते हैं, और जो नहीं करते हैं। पर यह दूसरे केवल इन्द्रादि के पूजक हैं, उनकी दृष्टि बाहर के देवता (दिव्य व्यक्ति) पर ही है, अन्दर के देवता पर नहीं पहुंची। (१) इसी लिये इसको अन्य देवता की पूजा कहा है, और (२) अतएव उनको इस पूजा का फल परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती, तथापि उनकी वह कामनायें पूर्ण होती हैं, जिन लौकिक कामनाओं के लिये उनकी पूजा की जाती है, वही उनका अन्तवाला फल है। और (३) यद्यपि वह वेद के मन्त्रों से परमात्मा की ही पूजा करते हैं, पर उनकी दृष्टि परमात्मा पर नहीं पहुंची है, इसलिये उनकी पूजा अविधिपूर्वक कही है। अतएव ईश ९ से ११ तक ऐसे केवल कर्म की निन्दा करके विद्या सहित कर्म की स्तुति की है। २३ की व्याख्या में श्री रामानुज भी लिखते हैं, जो मेरे भक्त हैं, वह उन्हीं कर्मों को मेरी आराधना जानते हुए, छोटे फलों में आसक्ति को त्यागकर केवल एक मेरी प्रसन्नता का प्रयोजन रखकर करते हुए मुझे ही प्राप्त होते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्यतस्याचलांश्रद्धांतामेवविदधाम्यहम् २१

श-(यः, यः, यां,यां,तनुं,भक्तः) जो जो जिस जिस शरीरको भक्त (श्रद्धया, अर्चितुं, इच्छति) श्रद्धा से पूजना चाहता है (तस्य, तस्य, अचलां, श्रद्धां) उस उसकी अचल श्रद्धा (तां, एव, विद धामि, अहं) उसको ही बनाताहूं मैं।

अ-जो २ भक्त जिस २ शरीर*को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस २ की उसी श्रद्धा को मैं ही अचल (बनाता हूं)।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभतेचततःकामान्मयैवविहितान्हितान् २२

श-(सः,तया, श्रद्धया, युक्तः) वह उस श्रद्धा से युक्त हुआ (तस्याः, राधनं, ईहते) उसका आराधन करता है (लभते,च, ततः, कामान्) और पाता है उससे कामनाएं (मया, एव, विहि, तान्, हि, तान्) मुझ से ही रची हुई निःसन्देह उनको।

अ-वह (भक्त)उस (अचल) श्रद्धा से युक्त हुआ उसका आराधन करता है, और उस (देवता) से निःसन्देह उन (संकल्पित) कामनाओं को प्राप्त होता है, जो मुझ से ही रची गई है

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजोयान्तिमद्भक्तायान्तिमामपि २३

---

* अन्तर्यामि ब्राह्मण (बृह० ३ । ७) में अग्नि वायु सूर्य आदि सारे देवताओं को अन्तर्यामि परमात्मा का शरीर कहा है। जीवन्त शरीर जैसे आत्मा से, वैसे वह परम आत्मा से जीवित है।

श–(अन्तवत्, तु, फलं) अन्तवाला पर फल (तेषां, तत् भवति, अल्प-मेधसां) उनका वह होता है थोड़ी बुद्धि वालों का (देवान्, देव-यजः, यान्ति) देवताओं को देवताओं के पूजने वाले प्राप्त होते हैं (मद्-भक्ताः, यान्ति, मां, अपि) मेरे भक्त प्राप्त होते हैं मुझे भी।

अ–पर उन थोड़ी बुद्धि वालों का वह फल अन्तवाला होता है, देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, मेरे भक्त मुझे भी* प्राप्त होते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परंभावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४

श–(अ-व्यक्तं, व्यक्तिं, आपन्नं, मन्यन्ते) अव्यक्त को व्यक्ति को प्राप्त हुआ मानते हैं (मां, अबुद्धयः) मुझे अज्ञानी (परं, भावं, अजानन्तः, मम) परले स्वरूप को न जानते हुए मेरे (अव्ययं, अनुत्तमं) अविनाशी सब से उत्तम।

अ–अज्ञानी लोग मुझ अव्यक्त को व्यक्ति में प्राप्त हुआ समझते हैं, क्योंकि वह मेरे उस परले स्वरूप को नहीं जानते हैं जो अविनाशी और सर्वोत्तम है।

---

* "मुझे भी" अर्थात् मुझे भी प्राप्त होते हैं, और उस फल को भी प्राप्त होते हैं, जिस को निरे देव पूजक प्राप्त होते हैं। बाहर के देवता देवयाजियों के अनुकूल होते हैं, परमात्मायाजियों को अन्दर के देवता की भी प्राप्ति होती है। यही बात ईश ९से११ में भी केवल कर्म की निन्दा करके बतलाई है। "भी" कहने से यह स्पष्ट है कि यह देव पूजा भी यहां कोई निन्दनीय पूजा नहीं, अपितु, शुद्ध परमात्मा की भक्ति से वह छोटी है, अतएव देव, पूजा यहां विद्या रहित देवयज्ञ है देखो ८। २३ से २५॥

भा–परमात्मा सूर्यादि व्यक्तियों में रहकर भी इनसे अलग है, अतएव अव्यक्त है 'यः आदित्ये तिष्ठन् आदित्यादन्तरः' जो सूर्य में रहता हुआ सूर्य से अलग है (बृह० ३।७) अज्ञानियों की पहुंच व्यक्ति तक ही रहती है इसलिये वह उस अव्यक्त को व्यक्त बना लेते हैं, क्योंकि वह उसके परले स्वरूप को नहीं जानते।

संगति–क्यों यह उनको अज्ञान होता है, यह कहते हैं :—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयंनाभिजानातिलोकोमामजमव्ययम्।

श–(न, अहं, प्रकाशः, सर्वस्य) नहीं मैं प्रकाश सब के (योग-माया-समावृतः) योग माया से ढका हुआ (मूढः, अयं, न, अभि-जानाति, लोकः) मूढ यह नहीं जानता लोक (मां, अजं, अव्ययं) मुझे अजन्मा अविनाशी।

अ–योगमाया * से ढका हुआ मैं सब के प्रकाश (जाहर) नहीं हूं, यह लोक (दुनिया) मूढ हुआ मुझे अजन्मा अविनाशी नहीं जानता है†।

---

* योग=प्रकृति के तीनों गुणों का मेल, वही है माया, इस माया से परमात्मा ढका हुआ है, अतएव लोग उसको नहीं जानते। पर देखने वालों ने उसको इसी माया के अन्दर छिपा हुआ पाया है 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढम्"= उन्होंने (ऋषियों ने) ध्यान और समाधिमें लगकर देव (परमात्मा) की आत्मशक्ति (अपनी निज शक्ति) को जो अपने गुणों (कार्यों) के अन्दर छिपी हुई है प्रत्यक्ष देखा (श्वेत ३।१९)

† पुराने व्याख्याकारों ने प्रायः इन दोनों श्लोकों को अवतार-परक लगाया है, कि लोग मेरे परमात्म स्वरूप को न जानते हुए

सं–परमात्मा के ज्ञान और जीवात्मा के ज्ञान में अन्तर दिखलाते हैं :—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।२६

श–(वेद, अहं, सम्-अतीतानि, वर्तमानानि, च, अर्जुन) जानता हूं मैं बीते हुए और वर्त्तमानों को हे अर्जुन (भविष्याणि, च, भूतानि) और होने वाले भूतों को (मां, तु, वेद, न, कश्चन) मुझ पर जानता नहीं कोई।

अ–हे अर्जुन ! मैं अतीत वर्त्तमान और होने वाले सब भूतों (प्राणियों) को जानता हूं, पर मुझे कोई नहीं जानता है*।

भाष्य–'स वेत्ति वेद्यं नच तस्यास्तिवेत्ता ;=वह वेद्य (जा-

मुझे शरीरधारी मानते हैं। और श्लोक९।११को अपने इस अभिप्राय का अधिक पोषक माना है। पर जैसा कि गीता में "अस्मद्" शब्द अन्यत्रप्रायः अन्तर्य्यामीके अभिप्राय से कहा गया है,ऐसा ही यहांभी अभिप्राय लेवें, तो जो आशय हमने दिया है, वह अधिक सजता है, और उपनिषद् से मिल जाता है। और यहां भी अगले श्लोक हमारे अभिप्राय के अधिक पोषक हैं। अवतार का तत्त्व हमने चौथे अध्याय में निरूपण किया है। यदि अवतार से ही यहां अभिप्राय मानें,तो भी पूर्व निरूपण किये हुए तत्वके अनुकूल अभिप्राय यहां होसक्ता है।

* कोई विरला ही जानता है, इस अभिप्राय से 'कोई नहीं जानता है' कहा है, यह अभिप्राय नहीं कि सर्वथा कोई नहीं जानता।

नने की वस्तु) को जानता है, उसका जानने वाला कोई नहीं * (श्वे० ३ । १९) ।

सं–किस निमित्त से जीवधारी तुझे नहीं जानते, यह आशंका करके कहते हैं ।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप । २७

श–(इच्छा-द्वेष-समुत्थेन) राग द्वेष से उत्पन्न हुए (द्वन्द्व-मोहेन, भारत) द्वन्द्वों के मोह से हे भारत (सर्व-भूतानि, संमोहं, सर्गे, यान्ति, परं-तप) सारे भूत मोह को सृष्टि में प्राप्त होते हैं हे परन्तप ।

अ–हे भारत ! राग द्वेष से उत्पन्न हुआ जो द्वन्द्वों का मोह है, उससे हे परन्तप ! सारे भूत सृष्टि में मोह को प्राप्त होते हैं ।

भाष्य–राग द्वेष के वश से शीत उष्ण सुख दुःखादि द्वन्द्वों (अनुकूल प्रातिकूल वस्तुओं) में मनुष्य ऐसा फंसता है, कि परमात्मा को सर्वथा भुला देता है, राग द्वेष से मलिन चित्त में परमात्मा की ज्योति नहीं दीखती है, जैसे मलिन दर्पण में मुख ।

सं–कौन फिर इस द्वन्द्व के मोह से छूटते हैं :–

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः २८

श–(येषां, तु, अन्त-गतं, पापं) जिनका हां क्षय हो गया है पाप (जनानां, पुण्य-कर्मणां) जन पुण्य कर्म वालों

---

* यह उपनिषद् वाक्य परमात्मा के प्रकरण में है, अतएव अवतार की अपेक्षा " अस्मत् " शब्द से परमात्मा ही अभिप्रेत है ।

का (ते, द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ताः) वह द्वन्द्व मोह से छूटे हुए (भजन्ते-मां, दृढ-व्रताः) भजते हैं मुझे दृढ़व्रतों वाले हुए ।

अ–हां जिन पुण्य कर्मों वाले जनों का पाप क्षय हो गया है, वह द्वन्द्व मोह से छूटे हुए दृढ़व्रत होकर मुझे भजते हैं।

संगति—इसप्रकार परमात्मा को भजते हुए वह हर एक जानने योग्य वस्तु को जानकर कृतार्थ होते हैं, यह कहते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुःकृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।

श–(जरा-मरण-मोक्षाय) बुढापे और मौत से छूटने के लिये (मां, आश्रित्य, यतन्ति, ये) मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं जो (ते, ब्रह्म, तद्, विदुः) वह ब्रह्म उसको जानते हैं (अध्यात्मं, कर्म, च, अखिलं) अध्यात्म और कर्म सारा।

अ–बुढ़ापे और मौत से छूटने के लिय जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करतेहैं, वह समग्र (ऐश्वर्यादि सहित) उस ब्रह्म को, अध्यात्मको और सारे कर्म को जानते हैं ।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपिचमां तेविदुर्युक्तचेतसः॥३०॥

श–(स-अधिभूतं-अधि दैवं, मां) सहित अधि भूत अधिदैव के मुझे (स-अधियज्ञं,च, ये,विदुः) और सहित अधियज्ञ के जो जानते हैं, (प्रयाण-काले, अपि, मां) मरण कालमें भी मुझे (ते,विदुः, युक्त-चेतसः) वह जानते हैं युक्त चित्तवाले।

अ–जो मुझे अधिदैव और अधियज्ञ के साथ जानते हैं वह

मरण काल में भी युक्त चित्त वाले हुए मुझे जानते हैं*(मरने का समय जो सब लोगों को व्यामोह में डालदेता है, उनको उस समय भी परमात्मा की याद नहीं भूलती, क्योंकि उनकी भावना दृढ़ होती है, इस लिये भगवान् में लगातार दृढ़ भवना करनी चाहिये)

इति श्रीमद्भगवद्गीता० विज्ञान योगो नाम सप्तमोऽध्यायः।

संगति–पूर्वाध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण से कहे हुए ब्रह्म अध्यात्म आदि सात पदार्थों का तत्त्व जानना चाहता हुआ—

अर्जुन उवाच=अर्जुन बोला।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते १॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले चकथंज्ञेयोऽसिनियतात्मभिः २॥

श–(किं,तत्,ब्रह्म,किं,अध्यात्मं) क्या वह ब्रह्म क्या आध्यात्म (किं, कर्म, पुरुष-उत्तम) क्या कर्म हे पुरुषोत्तम(अधिभूतं, च,किं, प्रोक्तं) और अधिभूत क्या कहा गया है (अधिदैवं, किं, उच्यते) अधिदैव क्या कहाता है ॥१॥ (अधियज्ञः, कथं, कः, अत्र) अधियज्ञ कैसे कौन यहां (देहे, अस्मिन्, मधु-सूदन) देह इस में हे मधुसूदन (प्रयाण-काले, च,) और मरने के समय में (कथं, ज्ञेयः, असि, नियत-आत्मभिः) कैसे जानने योग्य है वस में किये हुए मन वालों से ॥ २ ॥

---

*श्लोक २९, ३० ब्रह्म अध्यात्म, कर्म, अधिभूत अधिदैव, और अधियज्ञ यह जो छः परिभाषा आई हैं, इनकी व्याख्या आप ही श्रीकृष्ण अगले अध्याय में करेंगे इस लिये यहां व्याख्या नहीं की।

अ–क्या वह ब्रह्म क्या अध्यात्म और क्या कर्म है हेपुरुषोत्तम ? और क्या अधिभूत कहा गया है, और क्या अधिदैव कहा-जाता है ॥ १ ॥ और क्या यहां इस देह में हे मधुसूदन अधियज्ञ है और कैसे है ? और कैसे तू मरने के समय उनसे जाना जाता है जिन्हों ने मन को वश में किया हुआ है* ।

संगति–इन प्रश्नों के यथाक्रम निर्णय के लिये—

श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

श–(अक्षरं,ब्रह्म, परमं) अक्षर ब्रह्म परम (स्व-भावः, अध्यात्मं, उच्यते) स्वभाव अध्यात्म कहलाता है (भूत-भाव-उद्भव-करः,विसर्गः, कर्म-संज्ञितः) भूतों के भाव को प्रकट करने वाली सृष्टि कर्म संज्ञा वाली है ।

अ–अक्षर (परमात्मा) परम ब्रह्म है, स्वभाव अध्यात्म कहलाता है, भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला विसर्ग (सृष्टि) कर्म संज्ञा वाला है ।

भाष्य–प्रथम प्रश्न किं तद् ब्रह्म का उत्तर । अक्षर=कूटस्थ परमात्मा शुद्ध ब्रह्म है, जिसका वर्णन 'एतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूल मनण्वह्रस्वमदीर्घं०,=हे गार्गि ! इसको ब्राह्मण (ब्रह्मके जानने वाले) अक्षर (अविनाशि, कूटस्थ) कहते हैं, न वह मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न लम्बा है, इत्यादि (बृह० ३।८) द्वितीय प्रश्न 'किं मध्यात्मं' का उत्तर–स्वभाव = अपना स्वरूप =

*यही सात बातें पूर्व ध्याय के दो श्लोकों में कही हैं ॥

देह और इन्द्रियों के संसर्ग से भोक्ता के तौर पर प्रकाशता हुआ आत्मा का स्वरूप अध्यत्म है तीसरे प्रश्न 'किं कर्म' का उत्तर-सृष्टि जो कि भूतों (प्राणधारियों) के भाव (हस्ती) को प्रकट करने वाली है, वह कर्म है* ।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

श–(अधिभूतं, क्षरः,भावः) अधिभूत विनश्वर भाव (पुरुषः च, अधिदैवतं) और पुरुष अधिदैवत (अधियज्ञः, अहं एव, अत्र, देहे) अधियज्ञ मैं ही यहां देहमें (देह-भृतां,वर) हे देह धारियोंमें श्रेष्ठ,

अ–विनश्वरभाव अधिभूत है, और पुरुष अधिदैवत है। और हे देह धारियों में श्रेष्ठ (अर्जुन) मैं ही यहां देहमें अधियज्ञ हूं।

भाष्य–चौथे प्रश्न 'अधिभूतं च किं प्रोक्तं' का उत्तर-विनश्वर भाव=देहादि पदार्थ। भूत अर्थात् प्राणिमात्र का अधिकार करके

---

*भूत भाव=प्राणधारी पदार्थ, उनकीउत्पत्ति का कारण जो विसर्ग=त्याग,अर्थात् जो यज्ञ में इन्द्रादि देवताके लिये आहुति का त्याग किया जाता है वह वैदिक यज्ञरूप यहां कर्म है (यज्ञ इस तरह भूतों की उत्पत्ति का कारण है,कि "अग्नि मेंय था विधिडाली हुई आहुति सूर्यको प्राप्त होती है,सूर्य्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न, अन्न से प्रजा" (मनु०) श्री शङ्कराचार्य) भूतों के स्वभाव और उत्पत्ति का कारण यज्ञ कर्म है (श्रीनीलकण्ठ) भूत भाव=मनुष्यादि भाव, उसकी उत्पत्तिका कारण जो त्याग=स्त्री में रेतःत्याग,जो कि श्रुति (बृहदा०) में कहा है, "पांचवी आहुति में जल पुरुषवाची होते है" इस बातका जानना इस कर्म को त्यागने के लिये है जैसाकि गीता ८।११ में ब्रह्मचर्य का उपदेश करेंगे (श्रीरामानुज)

रचे हुए हैं इस लिये अधिभूत कहलाते हैं। पांचवें प्रश्न 'अधिदैवं किमुच्यते, का उत्तर-पुरुष=सूर्य मण्डल के मध्यवर्ती पुरुष=हिरण्यगर्भ, जिसका वर्णन (बृहदा० ५ । ४ । २) में है सारे देवता इसी का अंश हैं; अपने अंश रूप सारे देवताओं का अधिपति होने से अधिदैवत कहलाता है। छटे प्रश्न 'अधियज्ञः कथंकोऽत्रदेहेऽस्मिन् मधुसूदन' का उत्तर—इस देह में अन्तर्यामी रूप से स्थित परमात्मा ही हमारे कर्म का अधिष्ठाता है, कर्म का फल दाता मरमात्मा है। जो इस देह में फल भोगने वाले जीव के साथ है। 'कथं' 'कैसे' का उत्तर भी इसी से उक्तप्राय है, वह कर्म फल भुगाता हुआ जीव से विलक्षण होने के हेतु स्वयं असंग रहता है, जैसा कि कहा है । 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति'=दो पंछी जो सदा इकट्ठे रहने वाले सखा हैं, दोनों एक वृक्ष का आलिङ्गन किये हुए हैं। उनमें से एक स्वादु फल खाता है, दूसरा आप न खाता हुआ उसको देखता है * (मुण्ड० ३ । १ । १) अर्थात् वह आप असंग रहकर जीवात्मा को कर्मफल भुगाता है।

सं—सातवें प्रश्न 'प्रयाणकालेच कथं ज्ञेयोऽसि' का उत्तरः—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावंयातिनास्त्यत्रसंशयः।५

श—(अन्तकाले, च, मां, एव, स्मरन्) और अन्तकाल में मुझे

---

*यहां दो पंछी जीवात्मा और परमात्मा हैं, वृक्षशरीर है जिस पर दोनों का वास है, जीवात्मा इस में फल भोगता है, और परमात्मा उसे देखता है (मिलाओ ऋग्० १। १६४ ।२० निरुक्त १४। ३० श्वेता० ४ । ६ ।कठ३। १ ।

ही स्मरण करता हुआ (मुक्त्वा, कलेवरं) छोड़कर शरीर को (यः, प्रयाति, स, मद्-भावं, याति) जो जाता है वह मेरे भाव को प्राप्त होता है (नास्ति, अत्र, संशयः) नहीं है इसमें संशय।

अ—अन्तकाल में मुझ (अन्तर्य्यामी परमेश्वर) को ही स्मरण करता हुआ शरीर को छोड़कर जो * जाता है, वह मेरे भाव (मुक्त रूपता) को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं।

सं—न केवल मेरे स्मरण से मेरे भाव को प्राप्त होता है, यह नियम है, किन्तु।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।६

श—(यं, यं, वा, अपि, स्मरन्, भावं) जिस २ अथवा भी स्मरण करता हुआ भाव को (त्यजति, अन्ते, कलेवरं) त्यागता है अन्त में शरीर को (तं, तं, एव, एति, कौन्तेय) उस२ को ही प्राप्त होता है, हे कौन्तेय (सदा, तद्-भाव-भावितः) सदा उसकी भावना से रंगा हुआ।

अ—अथवा जिस२ भी भाव (पदार्थ) को स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर छोड़ता है,हे कौन्तेय! सर्वदा उसकी भावना से रंगा हुआ† वह उस उस ही भाव को प्राप्त होता है।

---

* शुक्लमार्ग से जाता है (देखो २४) कैसे जानने योग्य है, यह प्रश्न था,सो जानने का उपाय स्मरण बतलाया है,और उसके भाव की प्राप्ति स्मरण का फल कहा है॥

†सदा उसकी भावना से रंगा हुआ कहने से यह बोधन किया है कि वही वासनाएं अन्त समय सामने आती हैं, जो चित्त पर पहले से ही जमी हुई होती हैं॥

सं—जिसलिये ऐसा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्। ७

श—(तस्मात्, सर्वेषु, कालेषु) इसलिये सब समयों में (मां, अनुस्मर, युध्य, च) मुझे स्मरण कर और युद्धकर (मयि, अर्पित-मनः-बुद्धिः) मुझ में लगाये हुए मन बुद्धिवाला (मां, एव, एष्यसि, अ—संशयं) मुझे ही प्राप्त होगा निःसन्देह।

अ—इसलिये सारे समयों में*मेरा स्मरण कर और युद्धकर(अपना कर्त्तव्य पालन कर) मन और बुद्धि को मुझ में लगा देने से तू मुझे ही प्राप्त होगा इसमें संशय नहीं ।

सं—इसी बात को तीन श्लोकों से विवृत करते हैं :—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।८

---

* यह लोकप्रसिद्ध बात है, कि "अन्त मति सो ही गति" मरने के समय जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है। यह बात तो ठीक है, पर इसके समझने में भूल नहीं करनी चाहिए। ऐसा कभी मत समझो, कि पहले चाहे कुछ ही करते रहें। अन्त समय में चित्त को परमात्मा में लगा लेंगे। ऐसा नहीं होगा, तुम्हारा चित्त जिन बातों में अब लग रहा है, उनकी वासना उन पर जम रही है, वही वासनाएं अन्त्य समय में उन्हीं बातों को वे बस स्मरण करायेंगी। सो यदि चाहते हो, कि अन्त्य समय में परमेश्वर का स्मरण हो, तो अब भी परमेश्वरको कभी मत भूलो, इसलिए कहा है। सब कालों में मेरा स्मरण कर। यह स्मरण तुम्हारे चित्तकी भावना है, अपना काम करते रहोऔर उसको चित्त में बनाए रक्खो, हत्थ कार वल, चित्त यार वल

श—(अभ्यास-योग-युक्तेन, चेतसा) अभ्यास योग से युक्त चित्त से (न, अन्य-गामिना) नहीं अन्य में जाने वाले से (परमं,पुरुषं दिव्यं) परम पुरुष दिव्य को (याति, पार्थ, अनुचिन्तयन्) प्राप्त होता है हे पार्थ ! चिन्तन करता हुआ।

अ—अभ्यासयोग * से युक्त और अन्य (किसी) में न जाने वाले चित्त से चिन्तन करता हुआ हे पार्थ ! दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है।

सं—सो इसप्रकार उपासना का स्वरूप कहकर अब उपास्य का स्वरूप कहते हैं :—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांस-मनुस्मरेद्यः । सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९

श—(कविं, पुराणं, अनुशासितारं) सर्वज्ञ पुराने शासन करने वाले (अणोः,अणीयांसं) सूक्ष्म से सूक्ष्मतर को (अनुस्मरेत्, यः) स्मरण करता है जो (सर्वस्य,धातारं, अचिन्त्य रूपं) सब को धारने वाले अचिन्त्य स्वरूप को (आदित्य-वर्णं, तमसः, परस्तात्) सूर्य की तरह दीप्तिमान् अन्धकार से परे।

अ—सर्वज्ञ पुराने (सनातन) (सब के) शासन करने वाले (सब के नियन्ता) सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सब के धारने वाले, अचिन्त्य स्वरूप, सूर्य की तरह दीप्तिमान्, अन्धकार से परे * (उस परमेश्वर को) जो स्मरण करता है :—

---

* अभ्यास=बार २ उसका ध्यान (स्मरण) यह अभ्यास ही योग है । " परात्परंपुरुषमुपैति दिव्यं " (मुण्डक ३ । २ । ८)

* " आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् " (यजु० ३१ । १८) से लिया गया है।

सं०—उसकी उपासना का फल कहते है :—

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव । भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।१०

श—(प्रयाण-काले, मनसा, अचलेन) मरने के समय मन निश्चल से (भक्त्या, युक्तः, योग-बलेन, च, एव) भक्ति से युक्त और योग के बल से ही (भ्रुवोः, मध्ये, प्राणं, आवेश्य, सम्यक्) भवों के मध्य में प्राण को खींचकर ठीक २ (सः, तं, परं, पुरुषं उपैति, दिव्यं) वह उस परम पुरुष को प्राप्त होता है दिव्य को।

अ—मरने के समय निश्चल मन से भक्ति युक्त हुआ और योग के बल से युक्त हुआ (सुषुम्ना के मार्ग द्वारा) भवों के मध्य में प्राण को ठीक २ खींचकर वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है।

संगति—यह अन्तकाल में ईश्वर का स्मरण ओंकार के आधार होना चाहिये, यह ओंकार की स्तुतिपूर्वक बतलाते हैं :—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११

श—(यत्, अक्षरं, वेद-विदः, वदन्ति) जिसको अक्षर वेद के जानने वाले कहते हैं (विशन्ति, यत्, यतयः, वीत-रागाः) प्रवेश करते हैं जिसमें यति दूर हुए राग वाले (यत्, इच्छन्तः, ब्रह्मचर्यं,

चरन्ति) जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य करते हैं (तद्, ते, पदं, संग्रहेण, प्रवक्ष्ये) वह तुझे पद संक्षेप से कहूंगा ।

अ–वेद के जानने वाले जिसको अक्षर (कूटस्थ) कहते हैं, दूर हुए राग वाले यति जिसमें प्रवेश करते हैं; जिसकी (प्राप्ति की) इच्छा करते हुए (गुरुकुल में) ब्रह्मचर्य करते हैं,वह पद* तुझे संक्षेप से कहूंगा ।

संगति–प्रतिज्ञा कियेहुए उपाय को सहित अंगों के कहते हैं:–

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनःप्राणमास्थितोयोगधारणाम्
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यःप्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।१३

श–(सर्व, द्वाराणि, संयम्य) सारे द्वारों को वन्द करके (मनः हृदि, निरुध्य, च) और मन को हृदय में रोककर (मूर्ध्नि, आधाय, आत्मनः, प्राणं) मूर्धा में स्थापन करके अपने प्राण को (आस्थितः योग-धारणां) आश्रय किया हुआ योग की धारणा का । १२ । (ओम्, इति, एक-अक्षरं, ब्रह्म) ओम् इस एकाक्षर ब्रह्म को (व्याहरन्, मां, अनुस्मरन्) उच्चारण करता हुआ मुझे स्मरण, करता हुआ (यः, प्रयाति, त्यजन्, देहं) जो चलता है त्यागकर देह को (सः, याति, परमां, गतिं) वह प्राप्त होता है परम गति को

अ–सारे द्वारों† को बन्द करके, मन को हृदय में रोककर

---

* पद=प्राप्ति का स्थान । यहां ओंकार और ब्रह्म में अभेद बोधन किया है, इस अभिप्राय से कि ओंकार ब्रह्म प्राप्ति का अचूक साधन है ।

† देह के द्वार=इन्द्रिय ।

और अपने प्राण को मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र) में प्रवेश करके, योग की धारणा (स्थिरता) का आश्रय किये हुए । १२ । 'ओम्' इस एकाक्षर ब्रह्म* को उच्चारण करता हुआ और मुझे स्मरण करता हुआ जो देह को छोड़कर चलता है वह परमगति † को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

संगति—यह गति बड़ी दुर्लभ है ! ऐसा मत जान, किन्तुः—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः १४

श—(अनन्य-चेताः, सततं) न दूसरे में चित्त वाला लगातार (यः, मां, स्मरति, नित्यशः) जो मुझे स्मरण करता है, नित्य नित्य (तस्य, अहं, सुलभः, पार्थ) उसको मैं सुलभ हे पार्थ (नित्य-युक्तस्य, योगिनः) सदा योग वाले योगी को।

अ—जो लगातार (सब अवस्थाओं में) प्रतिदिन मेरा स्मरण करता है, हे पार्थ उस सदा (परमात्मा में) योग वाले योगी को मैं सुलभ हूं ।

---

* यहां भी 'ओम्' इस एक अक्षर को ब्रह्मप्राप्ति का पूरा साधन बोधन करने के लिये ब्रह्म के साथ अभेद कहा है, जैसाकि प्रश्न उपनिषद् ५ । २ में 'ओम्' को पर अपर ब्रह्म कहा है। जहां सच्चे साधन पर बल देने की आवश्यकता होती है, वहां उस साधन को कह बार साध्य के साथ एकरूप बनादेते हैं, जैसे 'आयुर्वै घृतम्' यह सचमुच आयु है जो घी है। इसी प्रकार यहां एकाक्षर ब्रह्म कहा है। अथवा यह तात्पर्य भी होसक्ता है, कि ओम् यह एकाक्षर वेद है।

† परमगति=अव्यक्तब्रह्म=शुद्धब्रह्म (देखो गीता ८ । २० और २१) ।

संगति–तेरे लाभ में क्या फल होगा, यह बतलाते हैं :—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्तिमहात्मानःसंसिद्धिंपरमांगताः १५

श–(मां, उपेत्य) मुझे प्राप्त होकर (पुनः, जन्म, दुःख-आलयं, अ-शाश्वतं) फिर जन्म दुःख के घर अस्थिर को (न, आप्नुवन्ति) नहीं प्राप्त होते हैं (महा-आत्मानः, संसिद्धिं, परमां, गताः) महात्मा सिद्धि परम को प्राप्त हुए ।

अ–मुझे प्राप्त होकर परम सिद्धि को प्राप्त हुए महात्माजन फिर दुःखों के घर इस अस्थिर जन्म को नहीं प्राप्त होते हैं ।

संगति–अन्य सब लोकोंमें पुनरावृत्ति (फिर लौटना,पुनर्जन्म) दिखलाते हुए उपर्युक्त बात का ही निर्धारण करते हैं :—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाःपुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।१६

श–(आ-ब्रह्म-भुवनात्, लोकाः) ब्रह्म भुवन तक लोक (पुनर्-आवर्तिनः, अर्जुन) पुनरावृत्ति वाले हे अर्जुन (मां,उपेत्य, तु, कौन्तेय मुझे प्राप्त होकर किन्तु हे कौन्तेय (पुनः, जन्म, न, विद्यते) फिर जन्म नहीं होता है ।

अ–हे अर्जुन ब्रह्म लोक तक के सारे लोक पुनरावृत्ति वाले है, किन्तु मुझे प्राप्त होकर हे कौन्तेय!फिर जन्म नहीं होता है* ।

---

* 'आब्रह्म भुवनात्'=ब्रह्म लोक तक 'आ=तक' शब्द दो अर्थों में बोला जाता है—सहित अर्थ में, जैसे 'आकुमारं यशः पाणिनेः'=बच्चों तक पाणिनि का यश है । और रहित अर्थ (हद)में जैसे 'आपर्वतं वृष्टो देवः' पर्वत तक मेंह बरसा है । अब विचारणीय

संगति–पुनरावृत्ति वाले लोकों में सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का समय दिखलाते हैं :—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः १७

श–(सहस्र-युग-पर्यन्तं अहः) हजार युगों तक दिन (यत् ब्रह्मणः, विदुः) जो ब्रह्मा का जानते हैं (रात्रिं, युग-सहस्र-अन्तां) रात युग हजार तक (ते, अहः-रात्र-विदः, जनाः) वह दिन रात के जानने वाले जन ।

यह है, कि 'आब्रह्मभुवनात्' में 'आ=तक' शब्द किस अभिप्राय से है । प्रायः व्याख्या कारों ने इसको सहित अर्थ में लिया है, कि ब्रह्म लोक समेत सारे लोक पुनरावृत्ति वाले हैं, अर्थात् ब्रह्म लोक से भी पुनरावृत्ति होती है । पर हमारा इन सब व्याख्या कारों से यहां भेद है, हम इस 'आ=तक' शब्दको हद्द अर्थ में लेते हैं, अर्थात् ब्रह्म लोक पुनरावृत्ति वाले लोकोंको हद्द है, ब्रह्म लोकसे वरेकेलोकपुनरावृत्तिवालेहैंब्रह्मलोकनहीं।क्योंकिब्राह्मणऔरउपनिषदों में ब्रह्मलोकसे पुनरावृत्ति नहीं मानीहै जैसे 'अथ हैषोऽनन्तमपारम क्षय्यं लोकं जयति यः परेणादित्यम्' अब यह उस अनन्त अपार अक्षय लोक को जीतता है जो सूर्य से परे है (तै० ब्रा० ३।११।८) यहां ब्रह्म लोक को अक्षय बतलाया है । उपनिषदों में, जैसे 'ब्रह्म लोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते' वह ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है और फिर वापिस नहीं आता है (छा० ८ । १५ । १) 'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः'=वह उन ब्रह्म लोकों में लम्बे वर्षों के लिये बसते हैं, उनकी पुनरावृत्ति (वापिस लौटना) नहीं होती है (बृह० ६ । २ । १५) इस प्रकार ब्राह्मणों और उपनिषदों में जब स्पष्टतया ब्रह्म लोक से पुनरावृत्ति का निषेध किया है, तो गीता में उसके विरुद्ध नहीं होना चाहिये,

अ—ब्रह्मा का दिन हजार युग के बराबर है, जो ऐसा जानते

इसलिये यहां 'आ=तक' शब्द हद्द के अभिप्राय से है। और यह सन्देह सर्वथा दूर होजाता है, जब हम गीता में ही आगे चलकर देखते हैं, कि ब्रह्म लोक से पुनरावृत्ति का निषेध किया है, देखो श्लोक २३ और २६। सो निःसंदेह यहां 'आ=तक' शब्द अवधि (हद्द)के अभिप्राय में है, न कि व्याप्ति के अभिप्राय में (प्रश्न) अक्षरों की शैली से तो यही प्रतीत होता है, कि यहां ब्रह्म लोक से पुनरावृत्ति अभिप्रेत है, क्योंकि 'ब्रह्म लोक तक सारे लोक पुनरावृत्ति वाले हैं' यह कह कर कहा है 'किन्तु मुझे प्राप्त होकर हे कौन्तेय पुनर्जन्म नहीं होता है'। इससे ब्रह्म लोक की प्राप्ति से अपनी प्राप्ति अलग कहकर अपनी प्राप्ति से पुनरावृत्ति का निषेध किया है, न कि ब्रह्म लोक की प्राप्ति से ? (उत्तर) ब्रह्म लोक में भी ब्रह्म की प्राप्ति होती है, देखो श्लोक २३ में स्पष्ट कहा है, कि शुक्ल गति से ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, और यह शुक्ल गति ब्रह्म लोक का मार्ग है। उपनिषद् में ब्रह्म लोक में पहुंचकर ब्रह्म की प्राप्ति कही है 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं, स एतस्माज्जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुष मीक्षते'=उसे साम मन्त्र ब्रह्म लोक में ऊपर लेजाते हैं, और वह वहां इस परले हिरण्यगर्भ से भी परे जो परमपुरुष (परब्रह्म) सारे ब्रह्माण्ड में स्थित है, उसको देखता है (प्रश्न ५।५) जब यह उपनिषद् और गीता से स्पष्ट है, कि ब्रह्म लोक में ब्रह्म की प्राप्ति होती है, तो इस श्लोक में यह बात मानी हुई जानकर यह कहा है, कि ब्रह्म लोकसे वरे लोक पुनरावृत्ति वाले हैं, किन्तु मुझे प्राप्त होकर अर्थात् ब्रह्म लोक में पहुंचकर ब्रह्म को प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है। सच तो यह है कि उपनिषदों में अनावृत्ति का शब्द आया ही ब्रह्मलोक के सम्बन्ध में है, वेदान्त के अन्तिम सूत्र 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्ति शब्दात्' का विषय वाक्य 'न च पुनवर्तते' (छा० ४।१५।६) भी ब्रह्म लोक के विषय में है। ब्रह्म लोक का पूरे विस्तार के साथ वर्णन उपनिषदों की शिक्षा भाग चौथे में कियागया है, वहां देखो। इस अनावृत्ति का सम्बन्ध महा प्रलय तक है, परे नहीं, देखो

हैं, और हजार युग के बराबर (ब्रह्मा की) रात को जानते हैं, * वह जन (ज्ञानी) दिन रात के जानने वाले हैं (सूर्य के उदय और अस्त से जो दिन रात होते हैं, केवल उसी दिन रात के जानने वाले दिन रात के जानने वाले नहीं होते, क्योंकि वह बहुत थोड़ा जानते हैं)।

संगति–ब्रह्मा के दिन और रात में जो होता है, वह बतलाते हैं :—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥१८

उपनिषदों की शिक्षा चौथा भाग पृष्ठ २५८ से २६६; उपनिषदों की भूमिका में मुक्तिप्रकरण और वेदान्तदर्शन में अन्तिम सूत्र की टिप्पनी।

*युगसेयहांअभिप्राय दिव्ययुगहै।दिव्ययुगचारोंयुगोंकोमिलाकर कहते हैं। दिव्ययुग, महायुग वा चतुर्युगी से एकही अभिप्राय है। हमारे एक वर्ष का दिव्य दिन रात होता है। ऐसे तीस दिन रात का महीना, और बारह महीने का दिव्यवर्ष होता है। बारह हजार दिव्यवर्ष का एक युग और हजार युग का ब्राह्मदिन और हजार युग की ब्राह्मरात्रि होती है। इसको अलग २ इस तरह गिनते हैं। हमारे ४३२००० वर्षों का कलियुग। कलि से दुगना अर्थात् ८६४००० वर्षों का द्वापर। कलि से तिगुना अर्थात् १२९६००० वर्षों का त्रेता, कलि से चौगुना अर्थात् १७२८००० वर्षों का सत्ययुग होता है। इन चारों का जोड़ ४३२०००० वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। दिव्यवर्षों के हिसाब से १२०० दिव्य वर्षों का कलि २४०० का द्वापर ३६०० का त्रेता और ४८०० का सत्ययुग। चारों का जोड़ १२००० दिव्यवर्षों का दिव्ययुग। १००० चतुर्युगी का ब्राह्मदिन और १००० चतुर्युगी की ब्राह्मरात्रि। ब्राह्म दिन को कल्प कहते हैं। ३६० दिनरातका ब्राह्मवर्ष ऐसे सौ वर्षका महाकल्प वा ब्रह्माकी आयु। इतने समयके पीछे महाप्रलयहोता है।

श-(अव्यक्तात्, व्यक्तयः, सर्वाः) अव्यक्त से व्यक्तियें सारी (प्रभवन्ति, अहः-आगमे) प्रकट होती हैं दिन के आने पर (रात्रि-आगमे, प्रलीयन्ते) रात्रि के आने पर प्रलीन=प्रलय को प्राप्त,होती हैं (तत्र, एव, अव्यक्त-संज्ञके) उसी अव्यक्त नाम वाले में।

अ-(ब्रह्मा के) दिन के आरम्भ में अव्यक्त * से सारी व्यक्तियें (चर अचर सारे भूत) प्रकट होती हैं, और (ब्रह्मा की) रात्रि के आने पर उसी अव्यक्त में प्रलीन होती हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥१९॥

श-(भूत-ग्रामः, सः, एव, अयं) भूतों का समूह वह ही यह (भूत्वा, भूत्वा, प्रलीयते) हो होकर प्रलीन होता है (रात्रि-आगमे-अवशः, पार्थ) रात्रि के आने पर बेवस हुआ हे अर्जुन (प्रभवति, अहः-आगमे) प्रकट होता है दिन के आने पर।

अ-(चर अचर) प्राणियों का समूह हे पार्थ ! (जो पहली सृष्टि में था) वही यह दिन के आने पर हो २ कर रात्रि के आने पर लीन होता है और (लीन होकर फिर भी) दिन के आने पर बेबस (कर्मादि के अधीन) हुआ प्रकट होता है।

भाष्य-प्राणियों का समूह वही प्रकट होता है। इससे यह सिद्ध होता है, कि जीव नित्य हैं, नए उत्पन्न नहीं होते, प्रलय के अनन्तर भी वही होते हैं, उन २ कर्मों के अनुसार,जो उन्होंने पहली

---

* यहां अव्यक्त से तात्पर्य इस स्थूल सृष्टि की अव्यक्त अवस्था से है, न कि प्रकृति से, क्योंकि यहां कही हुई प्रलय अवान्तरप्रलय है, महाप्रलय नहीं, और प्रकृति में लय महा प्रलय में ही होता है, अवान्तर प्रलय में सूक्ष्म सृष्टि बनी रहती है!

सृष्टि में किये होते हैं,अतएव हरएक सृष्टि में मनुष्य पशु आदि सभी प्राणी होते हैं। यदि वही न होते,नए होते, तो नए जन्मने वालों को तो बिना कर्म के भिन्न २ फल मिलता, और मलीन होने वाले जीवों के कर्म बिना फल दिये नष्ट होजाते,यह दुहरा दोष आता। पर जब वही होते हैं, तो ऐसा कोई दोष नहीं आसक्ता। सो ब्रह्मा के दिन में सृष्टि उत्पन्न होती रहती है और ब्रह्मा की रात्रि में लीन होती रहती है, ऐसा चक्र सदा चलता ही रहता है।

संगति—इस प्रकार व्यक्त अव्यक्त का वर्णन करके, पूर्वोक्त अव्यक्त से परे एक और अव्यक्त (अक्षर ब्रह्म) की स्थिति है, यह दिखलाते हैं:—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तो व्यक्तात्सनातनः। यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

श—(परः, तस्मात, तु, भावः, अन्यः) पर उससे तो भाव और (अव्यक्तः, अव्यक्तात, सनातनः) अव्यक्त अव्यक्त से सनातन (यः, सः, सर्वेषु, भूतेषु) जो वह सारे भूतों के (नश्यत्सु, न, विनश्यति) नाश होते हुए नहीं नाश होता है।

अ—उस (पूर्वोक्त चर अचर के कारण भूत) अव्यक्त से परे एक और जो सनातन (अनादि) अव्यक्त भाव* है, वह सब (आकाशादि) भूतों के नाश होते हुए नाश नहीं होता है।

संगति—यही अव्यक्त परागति (परली पहुंच) यह दिखलाते हैं।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्

* यह अव्यक्त भाव परमात्मा है। श्री रामानुज के अनुसार यह जीवात्मा का निज स्वरूप है, जो मुक्ति में होता है।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।२१

श–(अव्यक्तः, अक्षरः, इति, उक्तः) अव्यक्त अक्षर यह कहागया है (तं, आहुः, परमां, गतिं) उसको कहते हैं परमगति, (यं प्राप्य, न, निवर्तन्ते) जिसको प्राप्त होकर नहीं लौटते हैं (तद्, धाम, परमं, मम) वह स्थान सब से ऊंचा मेरा ।

अ–अव्यक्त अक्षर*(अविनाशी)कहागया है, इसको परमगति† कहते हैं, जिस (अव्यक्त) को प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते हैं, वह मेरा परमधाम है ।

संगति–उसकी प्राप्ति में भक्ति ही अन्तरंग उपाय है, यह पूर्व कहा हुआ ही कहते हैंः—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया
यस्यांतःस्थानिभूतानियेनसर्वमिदंततम् २२

श–(पुरुषः, सः, परः, पार्थ) पुरुष वह परला हे अर्जुन (भक्त्या, लभ्यः, तु, अनन्यया) भक्ति से पाया जासक्ता है सचमुच अनन्य से (यस्य, अन्तः-स्थानि, भूतानि) जिसके अन्दर स्थित हैं भूत (येन, सर्वं , इदं, ततं) जिसने सारा यह फैलाया है ।

अ–हे पार्थ वह परम पुरुष अनन्य भक्ति (और सब छोड़कर उसी की भक्ति)से ही पाया जासक्ता है, जिसने सारा यह (विश्व) फैलाया है, और सर्व भूत जिस के अन्दर स्थित है ।

संगति–सो इस प्रकार परमेश्वर के उपासक उस परम धाम को पाकर नहीं लौटते हैं, दूसरे लौटते हैं, यह कहा है । अब किस

---

* " येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं " (मुण्ड० १।२।१३) ।
† " एषाऽस्य परमागतिः " (बृहदा० ४।३।३२) ।

मार्ग से गए हुए नहीं लौटते हैं और किस से गए हुए लौट आते हैं, इस अकांक्षा के होने पर कहते हैं:—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ २३

श-(यत्र, काले, तु, अनावृत्ति) जिस काल में फिर अनावृत्ति को (आवृत्तिं च, एव, योगिनः) और आवृत्ति को ही योगी (प्रयाताः, यान्ति) गए हुए जाते हैं (तं, कालं, वक्ष्यामि, भरत-ऋषभ) उसकाल को बतलाउंगा हे भरतों में श्रेष्ठ।

अ-जिसकाल में गए (मरे) हुए योगी जन! अनावृत्ति तथा आवृत्ति को प्राप्त होते हैं, हे भरतों में श्रेष्ठ वह काल तुझे बतलाउंगा।

संगति-उनमें से पहले अनावृत्ति के मार्ग को कहते हैं—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः २४

श-(अग्निः, ज्योतिः, अहः,शुक्लः, षट्, मासाः, उत्तरायणं) अग्नि ज्योति दिन शुक्ल छः महीने उत्तरायण (तत्र, प्रयाताः, गच्छन्ति) उसमें गए हुए प्राप्त होते हैं (ब्रह्म, ब्रह्म-विदः, जनाः) ब्रह्मको ब्रह्म के जानने वाले जन।

अ-अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और छः महीने उत्तरायण उन में गए (मरे) हुए ब्रह्म ज्ञानी जन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं (जहां से फिर नहीं लौटते हैं)।

संगति-आवृत्ति का मार्ग कहते हैं:—

धूमो रात्रिस्तथाकृष्णः षण्मासादक्षिणायनम्

तत्र चान्द्रमसंज्योतिर्योगीप्राप्यनिवर्तते२५।

श–(धूमः, रात्रिः, तथा, कृष्णः, षट्, मासाः, दक्षिणायनं) धूम, रात्रि,तथा कृष्ण छः महीने दक्षिणायन (तत्र, चान्द्रमसं, ज्योतिः) उस में चन्द्रमासम्बन्धी ज्योति को (योगी, प्राप्य, निवर्तते) योगी प्राप्त होकर लौट आता है ।

अ–धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा छः महीने दक्षिणायन, उसमें (गया हुआ) योगी चन्द्रमासम्बन्धी ज्योतिंको प्राप्त होकर (वहां स्वर्ग सुख को भोगकर फिर) लौट आता है ।

भाष्य–यहां देवयान और पितृयाण यह दो मार्ग वतलाए हैं। इनमें से पहला देवयान वा शुक्लगति वा शुक्लमार्ग कहलाता है। दूसरा पितृयाण वा कृष्ण गति वा कृष्णमार्ग कहलाता है।उपनिषदों में देवयान और पितृयाण का वर्णन सविस्तर है (देखो छान्दोग्य५। १०बृहदारण्यक ६।२ और कौषीतकि १।३)। उपनिषदों में कहे देवयान मार्ग का पूरा वर्णन वेदान्त ४।३ में है। और पितृयाण का ३।१ में। वहां देवयान मार्ग इसक्रम से कहा है–अर्चि, दिन,शुक्ल पक्ष,उत्तरायण, वरस, देवलोक, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत, वरुण इन्द्र, प्रजापतिं। और पितृयाणमार्ग का क्रम यह है, धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक, आकाश और चन्द्र। यहां गीता में यद्यपि यह सारे नाम नहीं दिये हैं, तथापि अभिप्राय उसी देवयान और पितृयाण से है,जो उपनिषदों में वर्णित है। उपनिषद् मेंउपासकोंकी गति देवयान मार्ग से और कर्मियों की गति पितृयाण मार्ग से कही है गीता में यह दोनों गतियां योगियों की कही हैं। दूसरा-उपनिषदों में यह केवल मार्ग वतलाए हैं,यह नहीं कहा, कि इस काल में मरने से शुक्ल गति और इस काल में मरने से कृष्णगति

को प्राप्त होता है, पर यहां गीता में उस २ काल में मरने वालों की यह गतियां कही हैं। यह भेद व्याख्याकारों ने इस तरह मिटाया है, कि गीता में योगी शब्द उपासक और कर्मी दोनों के लिये है, क्योंकि कर्म को भी योग ही कहा है, और काल यहां मार्ग का उपलक्षण है। यूं भी शुक्ल गति में अग्नि और ज्योति, और कृष्णगति में धूम कोई काल नहीं,किन्तु शुक्ल और कृष्ण गति में दिन रात्रि आदि काल के नाम अधिक हैं,इस लिये 'जिस काल में' कहा है, वस्तुतः, मार्ग से अभिप्राय है, और अग्नि धूम आदि की नांई दिन रात्रि आदि भी मार्ग में आगे २ पहुंचाने वाले देवता हैं, यह अभिप्राय नहीं, कि दिन को मराहुआ ब्रह्म को प्राप्त होता है, और रात्रि को मराहुआ चन्द्र को, क्योंकि मरण काल का नियम नहीं होसक्ता, उपासक भी रात्रि को मरते हैं और कर्मी भी दिन को। और जो निरे पापी हैं, वह भी किसी न किसी काल में ही मरते हैं। इस लिये अभिप्राय मार्ग से है, अर्थात् उपासक चाहे मरे किसी समय, पर वह अग्नि आदि मार्ग से ब्रह्म को प्राप्त होता है और कर्मी चाहे मरे किसी समय, पर वह धूम आदि मार्ग से चन्द्र को ही प्राप्त होता है। इसी लिये ब्रह्मसूत्रोंमें कहा है"अतश्चायनेपि-दक्षिणे" जिस लिये रश्मियों का सम्बन्ध देह से है इस लिये दक्षिणायन में भी मरा हुआ उपासक ब्रह्म लोक को ही प्राप्त होता है (वेदान्त ४ । २ । २०) यह व्यवस्था व्याख्याकारों की है। पर ब्रह्म सूत्रों में हम इस की एक और व्यवस्था देखते हैं वह यह ,योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्तेचते (४ । २ । २१) आशय यह है गीता ८ । २४ और २५ में अनावृत्ति आवृत्ति के जो काल कहे हैं, वह योगियों के विषय में हैं, अतएव 'योगिनः' (८ । २३) कहा

है, सो योगी होकर जो दक्षिणायन में मरता है, वह चन्द्र में जाकर फिर लौटता है और जो उत्तरायण में मरता है, वह ब्रह्मलोक में जाता है, और फिर नहीं लौटता है। योगी के लिये समय का नियम है, इसलिये महाभारत में भीष्म ने मरने के लिये उत्तरायण की प्रतीक्षा की है।

संगति—उक्त मार्गों का उपसंहार करते हैं :—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥२६॥

श—(शुक्ल-कृष्णे, गती, हि, एते) शुक्ल कृष्ण मार्ग निःसंदेह यह दोनों (जगतः, शाश्वते, मते) जगत के सनातन माने गए हैं (एकया, याति, अनावृत्तिं) एक से प्राप्त होता है अनावृत्ति को (अन्यया, आवर्तते, पुनः) दूसरे से लौटता है फिर।

अ—शुक्ल और कृष्ण* यह दोनों मार्ग जगत् के अनादि † माने गये हैं, (इन में से) एक से (शुक्ल मार्ग से) अनावृत्ति (मोक्ष) को प्राप्त होता है दूसरे (कृष्ण मार्ग से) फिर लौटता है।

संगति—मार्ग के जानने का फल दिखलाते हुए भक्तियोग का उपसंहार करते हैं :—

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥२७

श—(न, एते, सृती, पार्थ, जानन्) नहीं इन दोनों मार्गों को

---

* अग्नि आदि मार्ग प्रकाशमय होने से शुक्ल है और धूमादि मार्ग अन्धकारमय होने से कृष्ण है।

† संसार अनादि है, उसके साथ यह मार्ग भी अनादि हैं, जिन पर ज्ञान और कर्म के अधिकारी चलते हैं।

हे अर्जुन जानता हुआ (योगी, मुह्यति, कश्चन) योगी मोह को प्राप्त होता है कोई (तस्मात्, सर्वेषु, कालेषु) इसलिये सारे कालों में (योग-युक्तः, भव, अर्जुन) योग से युक्त हो हे अर्जुन।

अ—हे पार्थ! इन दोनों मार्गों को (मोक्ष और संसार के देने वाले) जानता हुआ कोई भी योगी मोह को प्राप्त नहीं होता है (स्वर्गादि सुख को अनित्य जानता हुआ उसकी कामना नहीं करता है, किन्तु परमेश्वर में ही निष्ठा वाला होता है) इसलिये सब कालों में हे अर्जुन! तू योगयुक्त हो।

संगति—योग में श्रद्धा की वृद्धि के लिये उसके फल की अधिकता दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं :—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्। अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

श—(वेदेषु, यज्ञेषु, तपः सु, च, एव) वेदों में यज्ञों में और तपों में ही (दानेषु, यत्, पुण्य-फलं, प्रदिष्टं) दानों में जो पुण्य का फल बतलाया गया है (अत्येति, तत्, सर्वं, इदं, विदित्वा) उलांघ जाता है, उस सारे को इसको जानकर (योगी, परं, स्थानं, उपैति (च, आद्यं) योगी और सब से ऊंचे स्थान को प्राप्त होता है आदि को

अ—पुण्य का फल, जो वेदों (के यथाविधि पढ़ने) में यज्ञों (के यथाविधि अनुष्ठान करने) में, तपों के (यथाविधि तपने) में और दानों के (यथाविधि देने) में बतलाया है, इस (पूर्वोक्त उपासना) को जानकर योगी उस सबको उलांघ जाता है और सब से ऊंचे उत्तम) आदि स्थान (ब्रह्मलोक) को प्राप्त होता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० अक्षर ब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः

संगति—इस प्रकार सातवें और आठवें अध्याय में परमेश्वरतत्त्व भक्ति से ही सुलभ है अन्यथा नहीं, यह कहकर अब परमेश्वर का असाश्चर्य ऐश्वर्य और भक्ति का असाधारण प्रभाव दिखलाना चाहते हुए:—

श्रीभगवानुवाच=श्री भगवान बोले ।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्

श—(इदं, तु, ते, गुह्यतमं) यह सचमुच तुझे गुह्यतम (प्रवक्ष्यामि, अनसूयवे) कहूंगा असूया से रहित के लिये (ज्ञानं, विज्ञान-सहितं) ज्ञान विज्ञान सहित (यत्, ज्ञात्वा, मोक्ष्यसे, अशुभात्) जिसको जानकर छूटेगा अशुभ से ।

अ—तू जो असूया* से रहित है, तुझे यह गुह्यतम †(शास्त्रका) ज्ञान विज्ञान (अपने अनुभव) के सहित बतलाऊंगा, जिसको जानकर तू अशुभ (संसार के वन्धन) से छूटेगा ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२

श—(राज-विद्या, राज-गुह्यं) राजविद्या राजगुह्य (पवित्रं इदं, उत्तमं) पवित्र यह परम (प्रत्यक्ष-अवगमं, धर्म्यं) प्रत्यक्ष जाना जानेवाला धर्म्मयुक्त (सु-सुखं, कर्तुं, अव्ययं) बड़ा आसान करने को अविनाशी ।

---

* असूया=दोष दृष्टि, विद्या का अधिकारी वही है, जिस का मन गुणों को ग्रहण करता हो, न कि गुणों में दोष दृष्टि रखता हो । †गुह्य=रहस्य । धर्म ज्ञान गुह्य है, उससे आत्मज्ञान गुह्यतर है और परमात्मज्ञान उससे भी गुह्यतम है ।

अ–यह (ज्ञान) राजविद्या राज गुह्य * और परम पवित्र है, प्रत्यक्ष जाना जाने वाला, धर्म्मयुक्त, अनुष्ठान करने में बड़ा आसान और (फल) में अविनाशी है।

संगति–भला ऐसे आसान मोक्ष-धर्म्म के होते हुए कौन तब संसारी रहेंगे, इसपर कहते हैं :–

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि। ३

श–(अ-श्रद्दधानाः, पुरुषाः) न श्रद्धा करते हुए पुरुष (धर्मस्य, अस्य, परं-तप) धर्म्म इसकी हे परंतप=शत्रुओं के तपाने वाले (अ-प्राप्य, मां निवर्तन्ते) न पाकर मुझे लौटते हैं (मृत्यु-संसार-वर्त्मनि) मौत की दुनिया के मार्ग में।

अ–इस धर्म्म (मोक्ष धर्म) में श्रद्धाहीन पुरुष हे परंतप! मुझे न पाकर मौत की दुनिया के मार्ग में लौट आते हैं।

संगति–सो इसप्रकार कहने योग्य प्रकृतज्ञान की स्तुतिद्वारा श्रोता का ध्यान खींचकर अब उस ज्ञान को कहते हैं :—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि नचाहंतेष्ववस्थितः। ४

श–(मया, ततं, इदं, सर्वं) मैंने घेरा हुआ है यह सारा (जगत्, अव्यक्त-मूर्तिना) जगत् अव्यक्त स्वरूप वाले ने (मत्-स्थानि

---

* राजविद्या=विद्याओं का राजा। और राजगुह्य=गुह्यों का राजा है। अथवा राजविद्या, राजा लोग विशाल और अथाह मन वाले होते हैं, ऐसे पुरुषोंकी यह विद्या है। और गम्भीर मनवाले ही गुह्य बात को गुप्त रख सक्ते हैं। अर्थात् जो अपने मन के राजा हैं, यह उनकी विद्या है और उनका गुह्य है।

सर्व-भूतानि) मुझ में स्थित हैं सारे भूत (न, च, अहं, तेषु, अव-स्थितः) और नहीं मैं उनमें स्थित।

अ—अव्यक्त स्वरूप वाले मैंने यह सारा जगत् घेरा हुआ है, सारे (चराचर) भूत मुझ में स्थित हैं, मैं उनमें स्थित नहीं हूं (सब भूत मेरे आश्रित हैं, मैं उनके आश्रित नहीं हूं)।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।५

श—(न, च, मत्-स्थानि भूतानि) नहीं मुझ में स्थित भूत (पश्य, मे, योगं, ऐश्वरं) देख मेरा योग ईश्वरीय (भूत-भृत्, न, च, भूत स्थः) भूतों का धारनेवाला नहीं भूतों में स्थित (मम, आत्मा, भूत-भावनः) मेरा आत्मा भूतों का जीवनदाता।

अ—यह भूत मुझ में स्थित नहीं हैं, देख तू मेरा य ईश्वरीय योग। मैं भूतों का धारणे वाला हूं और भूतों में स्थित नहीं हूं, मेरा आत्मा भूतों का जीवन दाता है।

भाष्य—पूर्व कहा है, सब भूत मुझ में स्थित हैं, यहां कहा है मुझमें स्थित नहीं हैं, यह परस्पर विरुद्ध नहीं, आशय यह है, कि पर मात्मा सब भूतों का आश्रय है, और आश्रय होकर भी सब से असङ्ग है 'असङ्गो नहि सज्जते' वह असङ्ग है, किसी से जुड़ नहीं जाता है (बृह०) यह उसका अद्भुतयोग (करामात) है कि वह सब भूतों का आश्रय भी है और सब से न्यारा भी है, और वही सब भूतों का जीवनदाता है 'कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' कौन जी सके, कौन सांस ले सके, यदि यह आकाश आनन्द न हो (तैत्ति०)।

संगति—उत्पत्ति प्रलय करता हुआ भी मैं असंग रहता हूं इसी को स्पष्ट करके वर्णन करते हैं :-

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगोमहान्।
तथा सर्वाणि भूतानिमत्स्थानीत्युपधारय ६।

श—(यथा, आकाश-स्थितः, नित्यं) जैसे आकाश में स्थित सदा (वायुः, सर्वत्र-गः, महान्) वायु सर्वत्र गति वाला महान् (तथा, सर्वाणि, भूतानि) वैसे सारे भूत (मत्-स्थानि, इति, उप धारय) मुझ में स्थित हैं, ऐसा निश्चय जान।

अ—जैसे सर्वत्र गतिवाला महान् वायु नित्य आकाश में स्थित है वैसे सब भूत मुझ में स्थित हैं ऐसा निश्चय जान।

सर्वभूतानिकौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्
कल्पक्षयेपुनस्तानिकल्पादौ विसृजाम्यहम् ७।

श—(सर्व-भूतानि, कौन्तेय) सारे भूत हे कौन्तेय (प्रकृतिं, यान्ति, मामिकां) प्रकृति को प्राप्त होते हैं मेरी (कल्प-क्षये) कल्प के क्षय में (पुनः, तानि, कल्प-आदौ, विसृजामि, अहं) फिर उनको कल्प के आदि में उत्पन्न करता हूं मैं।

अ—कल्प के क्षय होने पर हे कौन्तेय ! सारे भूत मेरी प्रकृति को * प्राप्त होते हैं, और कल्प के आदि में मैं फिर उनको उत्पन्न करता हूं।

---

*अपर प्रकृति (देखो ७।४) अर्थात् प्रलय में सब जीव प्रकृति में लीन होते हैं।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ८॥

श-(प्रकृतिं, स्वां, अवष्टभ्य) अपनी प्रकृति का आश्रय करके (विसृजामि, पुनः, पुनः) रचता हूं फिर फिर (भूत-ग्रामं इमं, कृत्स्नं) भूतों के समूह इस सारे को (अवशं, प्रकृतेः, वशात्) बेवस प्रकृति की शक्ति से ।

अ-अपनी प्रकृति का अधिष्ठाता होकर उसी प्रकृति की शक्ति से बेबस हुए इस सारे भूतों के समुदाय को फिर फिर रचता हूं ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्तिधनंजय
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

श-(न, च, मां, तानि, कर्माणि) और नहीं मुझे वह कर्म (निबध्नन्ति,धनञ्जय) बांधते हैं हे धनञ्जय (उदासीनवत्, आसीनं) उदासीन की तरह वर्तमान हुए को (अ-सक्तं, तेषु, कर्मसु) न आसक्त हुए उन कर्मों में ।

अ-(भागवान् जब नाना प्रकार के कर्म करते हैं, तो जीव की नाईं बन्धन में क्यों नहीं आते इसका उत्तर देते हैं) हे धनञ्जय उन (सृष्टि आदि) कर्मों में न फंसे हुए उदासीन की तरह स्थित हुए मुझ को वह कर्म नहीं बांधते हैं* (कर्मों में आसक्त न होना ही उनकी उदासीनता है, वस्तुतः वह उदासीन नहीं, कर्ता हैं) ।

---

*जब इस सृष्टि को विषम रचा है अर्थात् किसी को सुख भागी बनाया है, किसी को दुःख भागी, तो फिर तुझमें विषमता

संगति–उदासीन की तरह हूं, न कि सचमुच उदासीन हूं, यह स्पष्ट दिखलाते हैं—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

श–(मया, अध्यक्षेण) मुझ अध्यक्ष के द्वारा (प्रकृतिः, सूयते स-चर-अचरं) प्रकृति उत्पन्न करती है चराचर सहित को (हेतुना, अनने, कौन्तेय) हेतु इससे हे कौन्तेय (जगत्,विपरिवर्तते) जगत् घूमता है।

अ–मुझ अधिष्ठाता के द्वारा (मेरे अधिष्ठातृत्व में) यह प्रकृति चराचर सहित (जगत्) को उत्पन्न करती है, इस हेतु से हे कौन्तेय! यह जगत् (जन्मादि अवस्थाओं में) घूमता है (अर्थात् जड जगत् और परवश आत्मा भी विना किसी अन्य समर्थ चेतन अधिष्ठाता के जगत् रचने में असमर्थ हैं*)।

और (दुःख के रचने से) निर्दयता होगी, इसका उत्तर देते हैं कि मुझे कर्म नहीं बांधते, क्योंकि मैं उदासीन की तरह रहता हूं, जैसे मेघ किसी भी बीज में राग द्वेष न करता हुआ उदासीन की तरह बरसता है, अंकुरोंमें और फलमें भेद बीजके भेदसे होता है। इसी प्रकार अपने २ अलग २ कर्मबीज के वशसे लोग भिन्न २ फल को प्राप्त होते हैं, ईश्वर में विषमता वा निर्दयता नहीं है (श्री नीलकण्ठ)।

* श्वेताश्वतर उपनिषद में पहले यह प्रश्न उठाया है, कि सृष्टि का कारण क्या है,इसपर "क्या काल वा स्वभाव वा होनी वा यदृच्छा (chance) वा महाभूत कारण हैं वा जीवात्मा कारण है" पहले यह आशंका उठाकर फिर उत्तर यह दिया है, "संयोग एषां नानात्म भावा

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ११॥

श–(अवजानन्ति, मां, मूढाः) अवज्ञा करते हैं मेरी मूढ़ (मानुषीं, तनुं, अश्रितं) मानुष शरीर के अश्रित की (परं, भावं, अजानन्तः) परले भाव को न जानते हुए (मम, भूत-महा-ईश्वरं) मेरे भूतों के महान् ईश्वर को ।

अ–मूढ मेरी मानुष शरीर में स्थित हुए की अवज्ञा करते हैं मेरे परले भाव को न जानते हुए, कि मैं भूतों का महेश्वर हूं* ।

दात्मा ह्यनीशः सुख दुःखहेतोः" यह सारे मिलकर भी कारण नहीं हो सकते, क्योंकि यह अनात्म(जड़) पदार्थ हैं और आत्मा भी समर्थ नहीं क्योंकि वह स्वयं सुख दुःख में है। इस प्रकार इनमें से किसी को भी स्वतन्त्र न देख कर "तेध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः" वह ध्यान और समाधि में लगे हुए परमदेव की आत्मशक्ति (अपनी निज शक्ति) को, जो अपने गुणों (कार्यों) के अन्दर छिपी हुई है; प्रत्यक्ष देखते भए, जो देव अकेला काल और आत्मा समेत उन समस्त कारणों का अधिष्ठाता है (श्वेत:०१।३)। ऋक् संहिता में कहा है "योऽस्याध्यक्षः परमेव्योमॅन्"= जो इसका अध्यक्ष (अधिष्ठाता) परम आकाश में है (ऋक १०।१२९।७) और श्वेताश्वतर ६।११ में कर्माध्यक्ष=कर्मों का अधिष्ठाता कहा है।

* ११ से १४ श्लोकों तक का तात्पर्य इकट्ठा खोलेंगे।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिंमोहिनीं श्रिताः १२

श—(मोघ-आशाः, मोघ-कर्माणः) व्यर्थ आशाओं वाले व्यर्थ कर्मोंवालें (मोघ-ज्ञानाः, वि-चेतसः) व्यर्थ ज्ञानवाले मूर्ख (राक्षसीं, आसुरीं, च, एव) राक्षसी और आसुरी ही (प्रकृतिं, मोहनीं, श्रिताः) प्रकृति मोहने वाली को आश्रय किये हुए।

अ—व्यर्थ (वेहूदा) आशाओं वाले, व्यर्थ कर्मों वाले, व्यर्थ ज्ञान वाले, अविवेकी (बदतमीज़), मोहने वाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति* को ही आश्रय किये हुए (मेरी अवज्ञा करते हैं)

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसोज्ञात्वाभूतादिमव्ययम्१३

श—(महा-आत्मानः, तु, मां, पार्थ)महात्मा तो मुझे हे पार्थ (दैवीं, प्रकृतिं, आश्रिताः) दैवी प्रकृति का आश्रय किये हुए (भजन्ति, अनन्य-मनसः) भजते हैं अनन्य मन वाले हुए (ज्ञात्वा भूत-आदिं, अव्ययं) जान कर भूतों का कारण अविनाशि।

अ—दैवी प्रकृति का आश्रय किये हुए महात्मा तो हे पार्थ ! मुझे भूतों का अविनाशिकारण जानकर अनन्यमनवाले हो कर भजते हैं।

---

* प्रकृति=स्वभाव। राक्षसी प्रकृति=राक्षसों वाला स्वभाव, आसुरी प्रकृति=असुरों वाला स्वभाव। राक्षस, जंगली हिंसाप्रिय (खूंखार) तामसी प्रकृति वाले, और असुर देवताओं के विरोधी दम्भादि से युक्त निरे स्वार्थी जन।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्चमांभक्त्यानित्ययुक्ताउपासते

श–(सततं, कीर्तयन्तः, मां) सदा कीर्तन करते हुए मुझे (यतन्तः, च, दृढ-व्रताः) और यत्न करते हुए दृढव्रतों वाले (नमस्यन्तः, च, मां, भक्त्या) और नमस्कार करते हुए मुझे भक्ति से (नित्य–युक्ताः, उपासते) सदा युक्त हुए उपासते हैं।

अ–सदा मेरी महिमा गाते हुए, लगे हुए, दृढव्रतों वाले, भक्ति के साथ मुझे नमस्कार करते हुए सदा युक्त (एकाग्रमन) हुए मुझे उपासते हैं*।

---

*११ से १४ तक श्लोकों का आशय व्याख्या कारों ने यह लिखा है, कि श्रीकृष्ण यह बतलाते हैं कि मैंने मानुष देह धारण किया हुआ है इस से मूढ जन मेरा अनादर करते हैं क्योंकि वह मुझे नहीं जानते, कि मैं सब भूतों का ईश्वर हूं, पर जो महात्मा हैं, वह मुझे भूतों का अविनाशि कारण जानते हैं, और अनन्य चित्त होकर मेरी भक्ति करते हैं। यह अभिप्राय अवतार के आशय से है। पर अद्वैत वाद में तो इसका सीधा एक दूसरा अभिप्राय कहा जासक्ता है, कि श्रीकृष्णजी नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तरूप अपने परमार्थ स्वरूप के लक्ष्य से यह वचन कहते हैं, कि मूढ़ जन जब कि मैं मानुष देह में ढका हुआ हूं, मेरी अवज्ञा करते हैं क्योंकि वह मेरे परम स्वरूप को नहीं जानते हैं, और विवेकी मुझे भूतों का आदि जानते हुए मेरी भक्ति करते हैं, इसीतरह अद्वैतवाद में यह वचन मनुष्यमात्र के अभिप्राय से भी होसक्ता है, कि राक्षसी और आसुरी प्रकृति के लोग मनुष्य के चोले में ढके हुए परमात्मा की अवज्ञा करते हैं. और दैवी प्रकृति वाले मनुष्य मात्र के हितैषी जन मनुष्यमात्र का हित सम्पादन करने से उसकी भक्ति

संगति—अध्यात्म उपासना कहकर अधिदैवत उपासना बतलाते हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५

श—(ज्ञान-यज्ञेन, च, अपि, अन्ये.) और ज्ञानयज्ञ से भी

करते हैं, यह आशय "आत्मौपम्येन सर्वत्र" (गीता ६। ३२) में कहे भावके साथ पूरा मेल रखता है। भागवत में भी कहा है "नरेष्व-भीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् । स्पर्द्धाऽसूयातिरस्काराः सा-हङ्कारा वियन्ति हि" = मनुष्यों में जो बार २ मेरी भावना करता है, ऐसे पुरुष में से बहुत जल्दी दूसरों से स्पर्द्धा, असूया अनादर दूर होते हैं और अहङ्कार दूर हो जाता है ॥ पर इसको पूर्वापर आलोचना से हमें यहां यह अभिप्राय प्रतीत होता है, कि इस नवें अध्याय में शास्त्रीय ज्ञान और विज्ञान (अनुभव) दोनों के बतलाने की प्रतिज्ञा करके, परमात्मा के अधीन सारे जीवों की स्थिति और परमात्मा के अधिष्ठातृत्व में प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति कही है। और जगत् को प्रकृति की फांसों में फंसा हुआ बतलाया है। अब उस प्रकृतिसे छूटने का मुख्य उपाय ब्रह्मकी प्राप्ति कहते हैं। ब्रह्म की प्राप्ति का मुख्य स्थान हृदयाऽऽकाश है "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" हे अर्जुन ईश्वर सब भूतों के घट में स्थित है "तमेवशरणं गच्छ सर्वभावेन भारत" सारी भावना से उसी की शरण पकड़ हे भारत (१८। ६२)। इस प्रकार अन्तर्यामी परमात्मा मनुष्य के घट में वास करता है, तथापि राक्षसी और आसुरी प्रकृति वाले मूढ़ जन उसका अनादर कर देते हैं, उसकी शरण त्याग कर बाहर भटकते रहते हैं। पर हे अर्जुन। जो महापुरुष दैवी प्रकृति वाले हैं, वह इसी मानुष शरीर में ढके हुए अन्त-र्यामी को भूतों का अविनाशि कारण जान कर अनन्यमन से भजते हैं "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यतेत्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" = यह सब भूतों में छिपा हुआ आत्मा नहीं

दूसरे (यजन्तः, मां, उपासते) यजन करते हुए मुझे उपासते हैं (एकत्वेन, पृथक्त्वेन) एक भाव से और पृथक् भाव से (बहुधा, विश्वतः-मुखं) बहुत तरह से सब ओर मुख वाले को।

अ—और दूसरे (कर्म योगी) भी जब यजन करते हैं, तो ज्ञानयज्ञ द्वारा एक के तौर पर वा अलग २ के तौर पर बहुत तरह से मुझे उपासते हैं, जो कि मैं सब ओर मुख वाला हूं*।

प्रकाशता है, पर हां सूक्ष्म दर्शियों से सूक्ष्म बुद्धि द्वारा देखा जाता है (कठ० ३।१२) इस प्रकार १४ श्लोक तक हृदयस्थ ब्रह्मकी उपासना कही है। इस के आगे समष्टि व्यष्टि रूप से उसकी बाह्य जगत् में उपासना कही है। यह अध्यात्म और अधिदैवत दो प्रकार का उपदेश है यहां भी "अस्मत्" शब्द अन्तर्यामी के अभिप्राय से है, जैसा कि गीता में बहुधा है, किसी विशेष व्यक्ति के अभिप्राय से नहीं। यहां के श्लोक ११ को सातवें अध्याय के २४ से मिलाओ, वहां भी परम भाव को न जानने वालों की निन्दा है, जैसे कि यहां है, इस से दोनों का अभिप्राय एकसा है। और वहां स्पष्ट कहा है, कि मैं अव्यक्त हूं। जोकि अन्तर्यामी ही हो सकता है, न कि व्यक्ति विशेष, अतएव यहां भी "अस्मत्" शब्द अव्यक्त अन्तर्यामी का बोधक है।

* यज्ञ में यजनीय देवताका तत्त्व जाने विना यज्ञ केवलयज्ञ है, और उस तत्त्व के ज्ञान के साथ यज्ञ ज्ञानयज्ञ है। यह यजनीय देवता समष्टि रूप से और व्यष्टि रूप से एक परमात्मा ही है, समष्टि रूप में एक भाव से उसकी पूजा होती है और व्यष्टि रूप में इन्द्र वरुणादि अलग भाव से। पर है वही एक बहुधा वर्तमान "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधावदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वान माहुः" (ऋग् १। १६४। ४६)। यह एक भाव से और नाना भाव से उसकी पूजा उसकी व्यापक महिमा का चिन्ह है, क्योंकि वह विश्वतोमुख

संगति—इसी उपासना को विवृत करते हैं:—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

श—(अहं, क्रतुः, अहं,यज्ञः) मैं क्रतु मैं यज्ञ (स्वाधा, अहं,-अहं,औषधं) स्वधा मैं मैं औषध (मन्त्रः, अहं, अहं, एव, आज्यं) मन्त्र मैं मैं ही घी (अहं, अग्निः, अहं, हुतं) मैं अग्नि मैं हवन कर्म ।

अ—मैं क्रतु हूं, मैं यज्ञ हूं, मैं स्वधा हूं, मैं औषध हूं, मैं मन्त्र हूं, मैं ही घी हूं, मैं ही हवन कर्म हूं* ।

है, सब ओर से सबके सम्मुख है, जहां चाहो देखो (सविस्तर देखो पूर्व ७ । २०का भाष्य) यद्यपि यहां व्याख्याकारोंने ज्ञानयज्ञ से ज्ञान रूप यज्ञसे अभिप्राय लिया है, पर जब अगला श्लोक यज्ञकी समाग्री में ब्रह्म दृष्टि दिखलाता है, तो यहां ज्ञानयज्ञ से उपर्युक्त अभिप्राय ही लेसक्ते हैं, और "एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखं" भी इसी अर्थ में ठीक संगत होसक्ता है, और "यजन्तः उपासते" में पुनरुक्ति भी नहीं आती, अन्यथा ज्ञान को रूपक से यज्ञ कहा हो, तो उपासन ही रूपक से यजन ठहरता है,यजन कोई अलग नहीं रहता । तब "यजन्तः उपासते" न कह कर केवल "यजन्ति" कहना ही पर्याप्त होसक्ता है ।

*क्रतु=सोम यज्ञ । और यज्ञ=महायज्ञ । मिलाओ मुण्डक२ । १'६।स्वधा=पितरों के लिये अन्न । औषध=चरु । मन्त्र=यजन काल में पढ़े जाने वाले मन्त्र । अग्नि=आहवनीयादि । इन सब को ब्रह्म रूप जिस हेतु से कहा है, उसके लिये पूर्व ४ । २४ का भाष्य देखो । इस श्लोकमें, क्रतु=श्रौतयज्ञ और यज्ञ=स्मार्तयज्ञ और औषध=

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च १७।

श–(पिता, अहं, अस्य, जगतः) पिता मैं इस जगत् का (माता, धाता, पितामहः) माता धाता पितामह (वेद्यं, पवित्रं, ओंकारः) जानने योग्य पवित्र ओंकार (ऋक्, साम, यजुः, एव, च) ऋक् साम और यजु ही ।

अ–मैं इस जगत् का पिता माता धाता (धारने वाला=सहायक) पितामह (पिता का पिता) पवित्र जानने योग्य वस्तु ओंकार, ऋक्, साम, यजु* हूं ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्
प्रभवः प्रलयःस्थानंनिधानंबीजमव्ययम् १८

श–(गतिः, भर्ता, प्रभुः, साक्षी) गति भर्ता प्रभु साक्षी (निवासः, शरणं, सुहृत्) निवास शरण सुहृद (प्रभवः, प्रलयः, स्थानं) उत्पत्ति प्रलय स्थिति का आधार (निधानं, बीजं, अव्ययं) भंडारा बीज अनखुट्ट ।

अ–गति (ठौर ठिकाना) भर्ता (भरण पोषण करने वाला) प्रभु (मालिक=नियन्ता) साक्षी (प्राणियों के कर्मों का), निवास

मनुष्यों का अन्न (श्री शंकराचार्य) क्रतु=संकल्प=देवता का ध्यानरूप, और यज्ञ श्रौतस्मार्तयज्ञ (श्री नीलकण्ठ) ।

* ऋक् साम यजु=पद्य, गीत और गद्य रूप तीन प्रकार के मंत्र । अथवा तीनों वेद (धाता=कर्म फलका विधाता=बांटने वाला, पवित्र=पावन=श्रीशंकराचार्य) पवित्र=पावन वा प्रायश्चित्तादिक (श्री श्रीधर) और तप आदिक श्री नीलकण्ठ ।

(रहने की जगह) शरण (रक्षक=पनाह) सुहृद् (हितैषी) उत्पत्ति प्रलय और स्थितिका आधार, भंडारा (जिस में सब रखे रहते हैं) और अनखुट्टबीज (जिसमें से निकल कर प्रकट होते रहते हैं)।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

श–(तपामि, अहं) तपाता हूं, मैं (अहं, वर्षं, निगृह्णामि, उत्सृजामि, च) मैं वर्षा को थामता हूं, और छोड़ता हूं, (अमृतं, च, एव, मृत्युः, च) अमृत और मृत्यु (सत्, असत्, च, अहं, अर्जुन) सत् और असत् मैं हे अर्जुन ।

अ–मैं तपाता हूं, मैं वर्षा को थामता हूं और छोड़ता हूं * हे अर्जुन मैं ही अमृत और मृत्यु हूं, मैं सत् और असत् हूं† ।

संगति–सो इस प्रकार ज्ञानयज्ञ से परमात्मा की बहुधा उपासना कहकर अब उक्त ज्ञान से हीन केवल यज्ञमात्र (अर्थात् विद्या रहित कर्म का) फल बतलाते हैं—

त्रैविद्यामांसोमपाः पूतपापायज्ञैरिष्ट्वास्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्यसुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

---

* "स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवं" अथर्व १३ । ३ । १३ " सवायुर्नभऊच्छ्रितं " वह वायु है वह ऊंचा मेघ है (अथर्व १३ । ४ । ३) ।

† अमृत और मृत्यु=मोक्ष और मौत वा जीवन और मौत। सत् और असत्=व्यक्त अव्यक्त=दृश्य अदृश्य ।

श-(त्रै-विद्याः, मां, सोम-पाः, पूत-पापाः) तीन विद्याओं वाले मुझे सोम के पीने वाले, शुद्ध हुए पापों वाले (यज्ञैः, इष्ट्वा, स्वर्-गतिं, प्रार्थयन्ते) यज्ञों से यजन करके स्वर्ग गति=स्वर्ग के मार्ग को चाहते हैं (ते, पुण्यं, आसाद्य, सुर-इन्द्र-लोक) वह पुण्य पाकर देवताओं के राजा के लोक को (अश्नन्ति, दिव्यान्, दिवि, देव-भोगान्) भोगते हैं दिव्य स्वर्ग में देवताओं के भोगों को।

अ-तीन विद्याओं वाले* (तीन वेदों में विधान किये) यज्ञों से मुझे † यजन करके (यज्ञ के शेष) सोम के पीने वाले, पापों से शुद्ध हुए, स्वर्ग गति को चाहते हैं, वह पुण्य देवेन्द्रलोक‡ को प्राप्त होकर द्यौमें देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१॥

श-(ते, तं, भुक्त्वा, स्वर्ग-लोकं, विशालं) वह उसको भोग कर स्वर्ग लोक विशाल को (क्षीणे, पुण्ये, मर्त्य-लोकं, विशन्ति) क्षीण होने पर पुण्य के मर्त्य लोक में प्रवेश करते हैं (एवं, त्रयी-धर्मं, अनुप्रपन्नाः) इस प्रकार त्रयी के धर्म का आश्रय लिये हुए

---

* तीन विद्या=ऋग् यजु साम, इन तीन वेदकी विद्या वाले अर्थात् तीनों वेदों से विहित कर्मों में तत्पर † मेरा ही प्रबल रूप देवता हैं, ऐसा न जानते हुए भी वस्तुतः इन्द्रादि रूप से मुझे ही यजन करके ‡ देवेन्द्र=देवों का राजा इन्द्र॥ विद्य,त्, उस का लोक=स्वर्ग लोक।

(गत-आगतं, काम-कामाः,लभन्ते) जान आनेको भोगों की कामना वाले प्राप्त होते हैं ।

अ–वह (स्वर्ग की कामना वाले उस (चाहे हुए) विशाल स्वर्गलोक (के सुख) को भोगकर पुण्य के क्षीण होने पर मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं, इस प्रकार त्रयी (ऋक्, यजु, साम) धर्मका आश्रय लिये हुए, भोगों की कामना वाले पुरुष, जाने आने (आवागवन) को प्राप्त होते हैं ।

भाष्य–त्रयी=ऋक् यजु साम । यज्ञ में इन तीनों वेदों का प्रयोग होता है । इस लिये त्रयीधर्म से यहां यज्ञ से अभिप्राय है । यज्ञ में इन्द्रादि रूप से परमात्मा की ही पूजा है । जो इस तत्त्वको जानता है, वह हाथ से आहुति देता हुआ ध्यान से परमात्मा में मग्न रहता है, यही बात गीता में पूर्व " ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः " (४ । २४) से, और यहां " अहंक्रतुरहं यज्ञः " इत्यादि से कही है, और इसीको यहां ज्ञानयोग कहा है । पर जो इस तत्त्व को नहीं जानता, कर्म वह भी पूरा करता है, पर उसका लक्ष्य परमात्मा नहीं होते, यद्यपि वह बिनजाने भी उन्हीं को पूजता है । ऐसे कर्म का फल यद्यपि मुक्ति नहीं, क्योंकि उसने कर्म तो किया है, पर दर्शन नहीं किया । और इस को इच्छा भी भोगों की ही रही है । तथापि स्वर्ग लोक में जाकर दिव्य भोग भोगता है, और जब उस के पुण्यफल को भोग चुकता है, तो फिर इस मर्त्य लोक में आता है । इस प्रकार ज्ञान-यज्ञ की अपेक्षा से केवलयज्ञ को यहां अल्प फल वाला बतलाया है, यही बात छान्दोग्य में कही है " यदेव विद्यया करोतिश्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति " जो ही विद्या श्रद्धा और

रहस्य ज्ञान के साथ किया जाता है, वही अधिक शक्ति वाला होता है *।

संगति—काम्य कर्मों का फल कहकर, अब कामना छोड़ निष्काम हो मेरी भक्ति में लगे हुओं का सब कुछ मैं साधता हूं, यह बतलाते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषांनित्याभियुक्तानांयोगक्षेमंवहाम्यहम्२२

---

*यहां इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये, कि त्रयीधर्म की निन्दा से वेद की निन्दा सूचित होती है, नहीं, किन्तु परमात्म दृष्टि से हीन याज्ञिकों की निन्दा है। गीता में अन्यत्र वेद की महिमा भरी पड़ी है "ब्रह्माक्षरसमुद्भवं" (३।१५) "स्वाध्याया भ्यासनंचैव वाङ्मयं तप उच्यते"(१७।१५)। यह दोनों श्लोक(८।२०।२१) मुण्डक उपनिषद् १।२१से १० तक का सार हैं, उनमें भी इसी तरह केवल कर्म का अल्प फल दिखलाकर ज्ञान सीखने के लिये गुरु के पास जाने का उपदेश किया है,पर गुरु कैसा हो,इस की बाबत यह कहा है "श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"= वेद के जानने वाला ब्रह्ममें निष्ठा वाला। ज्ञान सीखने के लिये श्रोत्रिय के पास जाने की आज्ञा संबोधन किया है, कि वेद ब्रह्मज्ञान का भण्डार है, हां यह ठीक है, कि वेद का जानने वाला ब्रह्म में निष्ठा वाला भी हो, खाली वेद को ही न जानता हो, वेदत्र को भी जानता हो। ईश० ९ से ११ तक यजुर्वेद के मन्त्रों में इस बात को जितला दिया है, कि केवल कर्म अल्प फल रखता है, उसको अध्यात्म दृष्टि के साथ पूरा करो, तो अमृतत्व का देने वाला होगा। वेद सारा ही मुख्य प्रबल रूप से ब्रह्म का बोधक है, अतएव कहा है "सर्वे वेदा यत् पद मामनन्ति"।

श–(अनन्याः, चिन्तयन्तः, मां) न दूसरे वाले चिन्तन करते हुए मुझे (ये, जनाः, परि, उपासते) जो जन पूरा उपासते हैं (तेषां, नित्य-अभि युक्तानां) उन नित्य जुड़े हुओं का (योग-क्षेमं, वहामि, अहं) योग क्षेम उठाता हूं मैं।

अ–दूसरे को छोड़* केवल मुझे चिन्तन करते हुए जो जन उपासते हैं, उन नित्य (मुझ में) जुड़े हुओं का योग क्षेम मैं उठाता हूं।

भाष्य–योग=अप्राप्त की प्राप्ति, और क्षेम=प्राप्त की रक्षा। बस किसी की प्राप्ति वा किसी की रक्षा, इन्हीं दो प्रयोजनों को लक्ष्य में रखकर कामना वाले जन वैदिक काम्य कर्मों को करते हैं, और वह उनकी पूरी होती है, पर जिन्होंने इस योग-क्षेम की चिन्ता छोड़ केवल भगवान् को अपना लक्ष्य बनाया है, उनके योग क्षेम की चिन्ता का भार भगवान् स्वयं उठा लेते हैं। उनको यह चिन्ता नहीं दबाती। वस्तुतस्तु भगवान् के प्रेम में पूर्ण जन पूर्ण ही होते हैं, वह निधन भी नित्यधन वाले हैं, निघरे भी नित्य घर वाले हैं, बन्धुहीन भी नित्य बन्धुवाले हैं, क्योंकि जिन्होंने सब कुछ छोड़ भगवान् की शरण ली है, भगवान् उनको अकेला नहीं छोड़ते "ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे"=जो घरणी घर पुत्र और अपने जन और प्राण इस धनको बिल्कुल छोड़ कर मेरी शरण में आए हैं, मैं उनको कैसे त्याग सक्ता हूं, (भाग० ९।४।६५) जो स्वयं भगवान् के हो गए, उनका सब कुछ भगवान् का होगया

---

* "अनन्याः" जिनका उपास्य दूसरा नहीं। अथवा परमात्मा के साथ अभिन्न हुए, तन्मय हुए।

उनको अब चिन्ता किस की, जनक ने कैसा ठीक कहा है "अनन्तं-वत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन। मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन"=मेरा धन अनन्त है, जिस मुझ का कुछ भी नहीं, मिथिला के जलने पर मेरा कुछ नहीं जलता है (महा० शान्ति १७८।२)।

संगति-(प्रश्न) जब वास्तव में अन्य देवता तुझ से अलग नहीं, तो इन्द्रादि के भक्त भी तेरे ही भक्त हैं, फिर वह क्यों गतागत (अवागवन) को प्राप्त होते हैं? इस पर कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपिमामेवकौन्तेययजन्त्यविधिपूर्वकम्॥२३
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
नतुमामभिजानन्तितत्त्वेनातश्च्यवन्तिते२४

श-(ये, अपि, अन्य-देवता-भक्ताः) जो भी अन्य देवताओं को भक्त हुए (यजन्ते, श्रद्धया, अन्विताः) पूजते हैं श्रद्धा से युक्त हुए (ते, अपि, मां, एव कौन्तेय) वह भी मुझे ही हे कौन्तेय! (यजन्ति, अविधि-पूर्वकं) पूजते हैं अविधि पूर्वक ॥ २३ (अहं, हि) मैं क्योंकि (सर्व-यज्ञानां, भोक्ता, च, प्रभुः, एव, च,) सारे यज्ञों का भोगने वाला और स्वामी ही (न, तु, मां, अभिजानन्ति, तत्वेन) नहीं किन्तु मुझे पहचानते हैं ठीक२ (अतः, च्यवन्ति, ते) इस लिये गिरते हैं वह।

अ-जो भी श्रद्धा से युक्त, भक्ति से पूर्ण हुए, अन्य (इन्द्रादि)

देवताओं को पूजते हैं, वह भी मुझे ही* अविधि पूर्वक † हे कौन्तेय! पूजते हैं ॥२३॥ क्योंकि मैं ही सारे यज्ञों का भोक्ता हूं और प्रभु (फलदाता) हूं, किन्तु वह मुझे ठीक २ नहीं पहचानते हैं, इस लिये वह गिरते हैं (फिर लौटते हैं, पर जो सारे देवताओं में मुझे ही अन्तर्यामी को देखते हुए पूजते हैं, वह नहीं लौटते हैं)।

---

* वेदों में इन्द्रादि नामों से भगवान् की ही महिमा गाई है। यह बहुत बार बतलाया गया है "तद् यदिदमाहु रमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेषउह्येव सर्वे देवाः" = सो जो यह कहते हैं, कि उसको पूजो उसको पूजो इस प्रकार एक २ देवको (अलग २ पूज्य बतलाते हैं) यह इसी का सारा फैलाव है यही सारे देवता हैं (बृहदा०) इसी अभिप्राय से श्री श्रीधर ने कहा है "त्वद् व्यतिरेकेण वस्तुतो देवतान्तरस्याभवादिन्द्रादिसेविनोपित्वद्भक्ता एव" = वास्तवमें तुझसे अलग किसी और देवताके अभावसे इन्द्रादिके सेवक भी तेरे ही भक्त हैं † वैदिक यज्ञोंके करने की परम विधि यही है, कि हाथ से कर्म करें, और जिह्वा से मन्त्र पढ़ें, पर ध्यान से परमात्मा में मग्न हो, उनको फल भी परमात्मा की प्राप्ति होती है। जबकि केवल कर्म का फल कामना की पूर्ति ही होती है। अतएव ईश ९ से ११ तक केवल कर्म की निन्दा करके विद्या सहित कर्म की स्तुति की है। सो जिस विधिका आश्रय करके यजन करने से साक्षात् भगवान् की प्राप्ति होती है, उस विधि से वह यजन नहीं करते हैं, इस लिये वह क्षुद्रफलके भागी होते हैं। अन्य व्याख्याकारोंका भी आशय यही है, जैसे "अविधि पूर्वक अज्ञान पूर्वक (श्री शंकाराचार्य) 'वेदान्तवाक्य परम पुरुष के शरीर रूपसे स्थित इन्द्रादि को ही साक्षात् आराध्य विधान करते हैं' (श्री रामानुज) 'मोक्ष के जनाने वाले विधिके विना' (श्री श्रीधर) 'विधि = अभेद बुद्धि उस से रहित' (श्रीनीलकण्ठ) "मुझे प्राप्त कराने वाली विधि के विना" (श्री विश्वनाथ)।

संङ्गति–इसी का उपपादन करते हैं–

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २४ ॥

श–(यान्ति, देवव्रताः, देवान्) प्राप्त होते हैं देवताओं के व्रतवाले देवताओं को (पितॄन्, यान्ति, पितृ-व्रताः) पितरों को प्राप्त होते हैं पितरों के व्रत वाले (भूतानि,यान्ति,भूत-इज्याः)भूतों को प्राप्त होते हैं* भूतों के पूजने वाले (यान्ति, मद्-याजिनः, अपि, मां) प्राप्त होते हैं मेरे पूजने वाले भी मुझे।

अ–देवताओं के व्रत (नियम) वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं; पितरों के व्रत वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों के पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं* मेरे पूजने वाले भी मुझे प्राप्त होते हैं।

संगति–इस प्रकार अपने भक्तों को अक्षय फल कहा, अब अपनी भक्ति की अनायासता दिखलाते हैं–

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२५॥

श–(पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं,) पत्र पुष्प फल जल (यः, मे, भक्त्या,प्रयच्छति) जो मुझे भक्ति से देता है (तत्,अहं, भक्ति-उपहृतं) उस को मैं भक्ति से भेंट किये हुए को (अश्नामि, प्रयत-आत्मनः) खाता हूं शुद्ध चित्त वाले का।

---

*यह पूजा लोक प्रसिद्धि से कही गई है, इसका विस्तार १७। ४ में है, वहीं खोलेंगे ' तात्पर्यांश इसमें यह है, कि जैसी जिसकी भावना होती है, वैसी उसको प्राप्ति होती है।

अ—पत्र पुष्प फल जल जो (कुछ भी) मुझे भक्ति से देता है, शुद्ध चित्त वाले (निष्कपट हृदय वाले) के भक्ति से भेंट किये हुए उस (पत्र पुष्पादिक) को मैं खाता हूं*।

संगति—यह पत्र पुष्पादिक भी यज्ञ में सोमादि की तरह मेरे लिये ही तय्यार करके समर्पण करने की जरूरत नहीं, किन्तु स्वभाव से ही—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत्।
यत्तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥२७

श—(यत्, करोषि, यत्, अश्नासि) जो करता है जो खाता है (यत्, जुहोषि, ददासि, यत्) जो होमता है देता है जो (यत्, तपस्यसि, कौन्तेय) जो तपताहै हे कौन्तेय (तत्, कुरुष्व, मत्-अर्पणं) उस को कर मेरे अर्पण।

अ—जो कुछ तू करता है, जो खाता है जो होमता है, जो देता है (अतिथियों को अन्न वा पात्रों को दान), जो (तप) तपता है, हे कौन्तेय! उस को मेरे अर्पण कर।

संगति—ऐसे करते हुए तुझे जो फल होगा वह सुन—

---

* भगवान् सचमुच खाते नहीं, खाने से तात्पर्य प्रीति से स्वीकार करलेना है, "याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताः स्युरेकान्तगत बुद्धिभिः। ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रति गृह्णाति वैस्वयम्। जो कर्म एकान्त भक्ति वालों से किये जाते हैं, उन सब को भगवान् स्वयं बड़े आदर से स्वीकार करते हैं (महाभ. ० शान्ति १७१। ६२)। भगवान् भक्ति के भूखे हैं, वह भक्ति मात्र से तृप्त होते हैं, इस लिये, अपने भक्त से समर्पण किया हुआ यत् किञ्चित् भी, उसके अनुग्रह के लिये, प्रीति से स्वीकार करते हैं। भगवान् को प्रसन्न करने के लिये बड़े २ व्रतों की भी परवाह नहीं, केवल हृदय निष्कपट चाहिए।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्माविमुक्तोमामुपैष्यसि॥

श-(शुभ-अशुभ-फलैः, एवं) शुभ अशुभ फल वालों से इस प्रकार (मोक्ष्यसे, कर्म-बन्धनैः) छूटेगा कर्म के बन्धनों से (संन्यास-योग-युक्त-आत्मा) संन्यास योग से युक्त चित्तवाला (विमुक्तः, मां, उपैष्यसि) छूटा हुआ मुझे प्राप्त होगा ॥

अ-इस प्रकार तू शुभ अशुभ फल वाले कर्म बन्धनों से छूट जाएगा, (उन से) छूटा हुआ संन्यास योग * से युक्त चित्तवाला हुआ तू मुझे प्राप्त होगा† ॥

संगति-(प्रश्न) यदि तुम भक्तों को ही मोक्ष देते हो, अभक्तों को नहीं, तो क्या तुम में भी राग द्वेष से होनेवाली विषमता है? इसका उत्तर देते हैं ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः
येभजन्तितुमांभक्त्यामयितेतेषुचाप्यहम्२९

श-(समः,अहं, सर्व-भूतेषु) सम मैं सारे भूतों में (न, मे, द्वेष्यः, अस्ति, न, प्रियः) न मेरा द्वेष्य है न प्यारा (ये, भजन्ति, तु, मां, भक्त्या) जो भजते हैं किन्तु मुझे भक्ति से (मयि, ते, तेषु, च, अपि-अहं) मुझ में वह और उन में भी मैं ।

अ-मैं सब भूतों में सम हूं, (विषम नहीं), न मेरा कोई द्वेष्य (द्वेष के योग्य) है न प्यारा, किन्तु जो मुझे भक्ति से भजते हैं, वह

---

* संन्यास=भगवान् में कर्मों का अर्पण, वही योग । † अथवा संन्यास योग से युक्त चित्तवाला हुआ तू जब देह से छूटेगा, तो मुझे प्राप्त होगा ।

मुझ में हैं और मैं भी उन में हूं।

भाष्य–जैसा कि सर्वत्र विद्यमान भी सूर्य का प्रतिबिम्ब स्वच्छ जलादि में ही अभिव्यक्त होता है, न कि अस्वच्छ घटादि में। पर सूर्य न दर्पण में राग रखता है न घट से द्वेष रखता है। इसी प्रकार सर्वत्र सम भी भगवान् स्वच्छ भक्तचित्त में ही अभिव्यक्त होते हैं, अस्वच्छ अभक्तचित्त में नहीं, इस प्रकार भगवान् न किसी में राग रखते हैं, न द्वेष, किन्तु सामग्री की मर्यादा से जो कार्य होता है, उस पर कोई आक्षेप नहीं हो सक्ता। अग्नि उसी के शीत को दूर करती है, जो उस के समीप जाते हैं। भगवान् किसी को त्याग कर किसी को स्वीकार नहीं करते, जिससे उन में विषमता हो, किन्तु विद्यमान भी वस्तु जिस तरह दृष्टिदोष से दृष्टि का विषय नहीं होती, इसी तरह सदा सान्निहित भी भगवान् अभक्तों के दृष्टि-गोचर नहीं होते, यह उन्हीं की दृष्टि का दोष है, न कि भगवान् में विषमता है॥

संगति–भक्ति का माहात्म्य कहते हैं–

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥

श–(अपि, चेत्, सु-दुर्-आचारः) भी यदि महादुराचारी (भजते, मां, अनन्य-भाक्) भजता है मुझे न दूसरे को भजनेवाला हुआ (साधुः, एव, सः, मन्तव्यः) नेक ही वह समझना चाहिये (सम्यक्, व्यवसितः, हि, सः) अच्छा इरादा किया क्योंकि उसने।

अ–यदि महादुराचारी भी अनन्यभक्त हो कर मुझे भजता है, तो उसे भला ही समझना चाहिये, क्योंकि उसने भला निश्चय किया है।

संगति—क्या अच्छे निश्चयमात्र से उसे नेक समझ लेना चाहिये, इस पर कहते हैं।

क्षिप्रंभवति धर्मात्माशश्वच्छान्तिंनिगच्छति
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तःप्रणश्यति ३१

श—(क्षिप्रं, भवति, धर्म-आत्मा) जल्दी बन जाता है धर्मात्मा (शश्वत्, शान्ति, निगच्छति) सदा की शान्ति को प्राप्त होता है, (कौन्तेय, प्रतिजानीहि) हे कौन्तेय विश्वास रख (न, मे, भक्तः, प्रणश्यति) नहीं मेरा भक्त नाश होता है।

अ—(दुराचारी भी मुझे भजता हुआ) जल्दी धर्मात्मा बन जाता है और नित्य शान्ति को प्राप्त होता है, हे कौन्तेय विश्वास रख* मेरा भक्त नाश नहीं होता है।

संगति—मेरी शरण पकड़ कर नीच भी तर जाते हैं, उत्तमों का तो कहना ही क्या है, यह दिखलाते हैं—

मां हिपार्थव्यपाश्रित्ययेऽपिस्युःपापयोनयः।
स्त्रियोवैश्यास्तथाशूद्रास्तेपियान्तिपरांगतिम्

---

* प्रति जानीहि=निश्चय जान, विश्वास रख। टीकाकारों ने "प्रतिजानीहि=प्रतिज्ञा कर" यह अर्थ लिया है और तात्पर्य यह कहा है, दुराचारी भी तर जाता है, यह बात कुतर्की जन नहीं मानेंगे, इस आशंका से व्याकुल चित्त वाले अर्जुन को भगवान् उत्साह देते हैं हे कौन्तेय! विवादियों की सभा में जाकर निःशंक प्रतिज्ञा कर, कि परमात्मा का भक्त कभी नष्ट नहीं होता है, अपितु कृतार्थ ही होता है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याभक्ताराजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्

श–(मां, हि, पार्थ, व्यपाश्रित्य) मुझे सच मुच हे पार्थ आश्रय करके (ये, अपि, स्युः, पाप-योनयः) जो भी हों पाप योनियों वाले (स्त्रियः,वैश्याः, तथा, शूद्राः) स्त्रियें वैश्य तथा शूद्र (ते,अपि, यान्ति, परां, गतिम्) वह भी प्राप्त होते हैं परम गति को ॥ ३२ ॥ (किं, पुनः, ब्राह्मणाः, पुण्याः)क्या फिर ब्राह्मण पवित्र (भक्ताः, राज-ऋषयः, तथा) भक्त राजऋषि तथा (अनित्यं, असुखं, लोकं, इमं) अनित्य सुख रहित लोक इसको (प्राप्य, भजस्व, मां) प्राप्त होकर भज मुझे ।

अ–मेरा सहारा पकड़ कर हे पार्थ ! जो पापयोनि (चण्डालादि) भी हों, और जो स्त्रियें वैश्य और शूद्रादि भी* हैं, वह भी निश्चित परमगति को प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥ क्या फिर पवित्र ब्राह्मण और भक्तिवाले राजऋषि, (सो तू) अनित्य, सुख रहित† इस लोक को प्राप्त होकर मुझे भज।

संगति–भजन का प्रकार दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं–

---

* जंजाल में फंसी हुई स्त्रियें, व्योपार में रत वैश्य और विद्या रहित शूद्र भी परमेश्वर का सहारा पकड़ कर पार उतर जाते हैं। † यह लोक अनित्य है, इस लिये मेरी भक्ति में विलम्ब न कर। और यह सुख रहित भी है, इस लिये यहां के सुखों में न फंसकर मेरी भक्ति कर॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ३४

श–(मत्-मनाः, भव, मत्-भक्तः) मेरे में मन वाला हो मेरा भक्त (मत्-याजी, मां, नमस्कुरु) मेरा यजन करने वाला मुझे नमस्कार कर (मां, एव, एष्यसि) मुझे ही प्राप्त होगा (युक्त्वा, एवं, आत्मानं, मत्-परायणः) जोड़ कर इस प्रकार आत्मा को मेरे परायण हुआ ।

अ–मुझ में मन वाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा यजन कर, मुझे नमस्कार कर, इस प्रकार आत्मा को (मुझ में) जोड़ कर मेरे परायण हुआ तू मुझे ही प्राप्त होगा ।

इति श्री मद्भगवद्गीता० राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ।

संगति–इस प्रकार पूर्व सातवें आठवें और नवें अध्यायों से भजनीय परमेश्वर का स्वरूप निरूपण किया है । उसकी विभूतियें भी सातवें में "रसोऽहमप्सु कौन्तेय" (८) इत्यादि से संक्षेपतः दिखलाई हैं । आठवें में भी "अधियज्ञोऽहमेवात्र" (४) इत्यादि से, और नवें में भी "अहं क्रतुरहंयज्ञः" (१६) इत्यादि से दिखलाई हैं । अब अपने भक्तों को अपने तक पहुंचने में अपनी सहायता का हाथ दिखलाने के लिये और उन्हीं विभूतियों को सविस्तर वर्णन करने के लिये—

श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान बोले ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया १ ।

श–(भूयः,एव, महा-बाहो) फिर हे महाबाहो, (शृणु, मे, परमं, वचः) सुन मेरा परम वचन (यत्, ते, अहं, प्रीयमाणाय) जो तुझे मैं प्यार किये हुए को (वक्ष्यामि, हित-काम्यया) कहूंगा भलाई की कामना से ।

अ–फिर हे महाबाहो ! मेरे परम (ऊंचे) वचन को सुन । जो मैं तुझ प्यारे* को भलाई की कामना से कहूंगा ।

संगति–कहे हुए के फिर कहने में हेतु दुर्ज्ञेयता है,यह बतलाते हैं

न मे विदुःसुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।२।

श–(न, मे, विदुः, सुर-गणाः) नहीं मेरी जानते हैं देवताओं के समूह (प्रभवं, न, महा-ऋषयः) उत्पत्ति को न महर्षि (अहं, आदिः, हिं) मैं आदि क्योंकि (देवानां, महा-ऋषीणां, च, सर्वशः) देवताओं का और महर्षियों का सब प्रकार से ।

अ–देवताओं के गण और महर्षि जन मेरी उत्पत्ति† को नहीं जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकार से‡ देवताओं और महर्षियों§ का आदि हूं ।

---

* प्रीयमाणाय = प्यार किये जाते हुए । अथवा मेरे वचन से प्रीति को प्राप्त होते हुए ॥

† प्रभव = उत्पत्ति, जन्म रहित का भी नाना विभूतियों में प्रकट होना (श्रीश्रीधर) ‡ जन्म दाता होने से भी और बुद्धि आदिका प्रेरक होने से भी § देवगण = मुक्तात्मा और महर्षि = वेदों के प्रकाशक, मनुष्यों के मार्ग दर्शक ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

श–(यः, मां, अजं, अनादिं, च) जो मुझे अजन्मा और अनादि (वेत्ति, लोक-महा-ईश्वरं) जानता है लोकों का महान् ईश्वर (अ-संमूढः, सः, मर्त्येषु) धोखे में न आया हुआ वह मनुष्यों में (सर्व-पापैः, प्रमुच्यते) सारे पापों से छूट जाता है।

अ–जो मुझे अजन्मा अनादि और (सूर्यादि) लोकों का महान् ईश्वर जानता है, वह मनुष्यों में धोखे से बचा हुआ सारे पापों से छूट जाता है।

संगति–लोकों का महान् ईश्वर होना ही स्फुट करते हैं—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च४
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावाभूतानांमत्तएवपृथग्विधाः५॥

श–(बुद्धिः, ज्ञानं, अ-संमोहः) बुद्धि ज्ञान धोखे से बचाव (क्षमा, सत्यं, दमः, शमः) क्षमा सत्य दम शम (सुखं, दुःखं, भवः, अभावः) सुख दुःख जन्म मरण (भयं, च, अभयं, एव, च) भय और अभय ॥ ४ ॥ (अ-हिंसा, समता, तुष्टिः) अहिंसा समता सन्तोष (तपः, दानं, यशः, अशयः) तप दान यश अपयश (भवन्ति, भावाः, भूतानां) होते हैं भाव भूतों के (मत्तः, एव, पृथक्-विधाः) मुझ से ही नानाप्रकार के।

अ–बुद्धि (जानने का सामर्थ्य) ज्ञान (उस सामर्थ्य से आत्मादि पदार्थों का ठीक २ जानना) धोखे से बचाव, क्षमा, सत्य, दम (इन्द्रियों को वश में रखना) शम (मन की शान्ति) सुख दुःख, जन्म मरण*भय, अभय । ४ । अहिंसा (किसी को पीडा न देना) समता (राग द्वेष से रहित हो कर बर्तना) सन्तोष, तप, दान, यश, अयश इत्यादि लोगों के नानाप्रकार के भाव+ मुझ से ही होते हैं ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः

श–(महा-ऋषयः, सप्त) महर्षि सात (पूर्वे, चत्वारः) पहले चार (मनवः, तथा) मनु तथा (मद्-भावाः, मानसाः, जाताः) मेरे भावों वाले मानस उत्पन्न हुए (येषां, लोके, इमाः, प्रजाः) जिन की लोक में यह प्रजाएं ।

अ–(भृग्वादि) सात महर्षि, पहले चार (सनकआदि), तथा (चौदह) मनु, यह मेरे भावों वाले‡ मानस§ उत्पन्न हुए हैं, जिन की लोक में यह प्रजाएं॥ हैं ।

---

*स्वस्थता, अस्वस्थता श्रीयामुनाचार्य। + यद्यपि अपने २ कर्म के अनुसार अलग २ भाव होते हैं, तथापि परमात्मा सब में सांझा हेतु है जैसे अपने बीज के अनुसार भिन्न २ अंकुरोत्पत्ति में मेघ सांझा हेतु है, उसके बिना कोई भी अंकुर नहीं फूटता ।

‡ जिन में बुद्धि सत्यता शम दमादि का भाव मैंने दिया है अथवा मद्भावाः = मेरे चिन्तन में लगे हुए, अतएव मुझ में भावना के वश से जिनमें असीमज्ञान और ऐश्वर्य की शक्तियें प्रकट हुई हैं ।

§ मानस = मन से = संकल्पमात्र से उत्पन्न हुए ॥ प्रजाएं = पुत्र शिष्यादि, सनकादि चारों कुमार रहे हैं ॥

संगति—पूर्वकही विभूतिआदि के तत्त्वज्ञानका फल कहते हैं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्रसंशयः॥७

श—(एतां, विभूतिं, योगं,च) इस विभूति और योग को (मम, यः, वेत्ति, तत्त्वतः) मेरे जो जानता है ठीक २ (सः, अविकम्पेन, योगेन, युज्यते) वह न डगमगाने वाले योग से युक्त होता है (न, अत्र, संशयः) नहीं इस में संशय।

अ—जो मेरी इस विभूति और योग* को ठीक २ जानता है, वह न डगमगाने वाले योग से युक्त होता है, इस में संशय नहीं॥

संगति—किस प्रकार के न डगमगाने वाले योग से युक्त होता है, यह कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधाभावसमन्विताः॥८

श—(अहं, सर्वस्य, प्रभवः) मैं सबका उत्पन्न करने वाला (मत्तः, सर्वं, प्रवर्तते) मुझ से सब प्रवृत्त होता है (इति, मत्वा, भजन्ते मां) ऐसा जान कर भजते हैं मुझे (बुधाः, भाव-समन्विताः) विवेकी भावना से युक्त।

अ—मैं सब का उत्पन्न करने वाला हूं, मुझ से सब प्रवृत्त होता है (प्रकट होता है), ऐसा जान कर विवेकी पुरुष भावना से युक्त हुए (प्रेम से भरे हुए) मुझे भजते हैं।

---

*भृगु आदि रूप मेरी विभूति और ऐश्वर्य रूप योग। अथवा योग मेरे साथ जुड़ना, जैसे भृगु आदि महर्षि युक्त थे।

संगति—प्रीति पूर्वक भजन ही कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च

श—(मत्-चित्ताः) मुझ में चित्तवाले (मत्-गत-प्राणाः) मुझ में प्राप्त हुए प्राणों वाले (बोधयन्तः, परस्परं) जितलाते हुए एक दूसरे को (कथयन्तः,च,मां) और कथन करते हुए मुझे(नित्यं,तुष्यन्ति,च, रमन्ति,च) सदा प्रसन्न होते हैं और आनन्द मनाते हैं।

अ—मुझ में चित्त वाले,मुझ में प्राप्त हुए प्राणों वाले,एक दूसरे को जितलाते हुए, और मेरा ही कथन करते हुए, सदा तृप्त होते हैं और आनन्द मनाते हैं* ॥

संगति—ऐसे मेरे भक्तों को तत्त्वज्ञान मैं देता हूं, यह कहते हैं

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते१०

श—(तेषां, सतत-युक्तानां) उन सदा युक्त हुए (भजतां

---

*मुझ में चित्तवाले=मेरे स्वरूप नाम गुण और कर्मों की मधुरता के स्वाद में ही जिनका मन लुब्ध है। मुझ में प्राप्त हुए प्राणोंवाले=मेरे बिना प्राणों को धारने में असमर्थ, जैसे मछलियां बिना पानी के। परस्पर जितलाते हुए=अलग २ अनुभव किए हुए मेरे कल्याण गुणों को परस्पर जितलाते हुए। मुझे कथन करते हुए =मेरे ही स्वरूप ज्ञान बल नाम और कल्याण गुणों का कथन करते हुए। इस प्रकार सदा प्रसन्न रहते हैं और सुख अनुभव करते हैं। अथवा कहने वाले श्रोताओं के अनन्यप्रयोजन प्रश्न से प्रसन्न होते हैं, और श्रोते सुनने में प्रेमरस में भीने हुए आनन्द मनाते हैं।

प्रीति-पूर्वकं) भजते हुए प्रीति पूर्वक (ददामि, बुद्धि-योगं, तं) देता हूं बुद्धि योग वह (येन, मां, उपयान्ति, ते) जिससे मुझे प्राप्त होते हैं वह।

अ–(इस प्रकार) सदा युक्त हुए* प्रीतिपूर्वक भजते हुए उन (भक्तों) को मैं वह बुद्धियोग† देता हूं, जिस से वह मुझे प्राप्त होते हैं।

संगति–उनको बुद्धियोग देकर अपने साक्षात् दर्शन तक पहुंचाता हूं, यह बतलाते हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

श–(तेषां, एव, अनुकम्पा-अर्थं) उनके अनुग्रह के लिये (अहं, अज्ञान-जं, तमः) मैं अज्ञान से उत्पन्न होने वाले अन्धेरे को (नाशयामि, आत्म-भाव-स्थः) नाश करता हूं आत्मभाव में रहता हुआ (ज्ञान-दीपेन, भास्वता) ज्ञान के दीपक चमके हुए से।

अ–केवल उनके अनुग्रह के लिये अज्ञान से उत्पन्न होने वाले उनके अन्धेरे को मैं उनके आत्मा के अन्दर‡ रहता हुआ चमकते हुए ज्ञान के दीपक से नाश करता हूं।

---

* सदा मेरे साथ जुड़े हुए=मेरे ऊपर आसक्त; नित्य उत्साह वाले (श्री नीलकण्ठ) † बुद्धि-योग=बुद्धि का सम्बन्ध वा बुद्धि रूप उपाय। इसी बुद्धि योग की प्रार्थना गयत्री मन्त्र (ऋग्, ३।६२।१०) में है, और इसी बुद्धियोग का अपना अनुभव नारद ने प्रकट किया है (भागवत १।६।१६ से २७)।

‡ आत्मभाव=आत्म पदार्थ, अथवा आत्मभाव=चित्तकी भावना

संगति–संक्षेप से कही हुई भगवान् की विभूति और योग को विस्तार से सुनना चाहता हुआ—

अर्जुन उवाच–अर्जुन बोला ।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितोदेवलोव्यासःस्वयं चैवब्रवीषि मे । १३

श०–(परं, ब्रह्म, परं, धाम) परब्रह्म परम धाम (पवित्रं, परमं भवान्) पवित्र परम आप (पुरुषं, शाश्वतं, दिव्यं) पुरुष अनादि दिव्य (आदि-देवं, अजं, विभुं) आदि देव अजन्मा व्यापक । १२ । (आहुः, त्वां, ऋषयः, सर्वे) कहते हैं तुझे ऋषि सारे (देव-ऋषिः, नारदः, तथा) देव ऋषि नारद तथा (असितः, देवलः, व्यासः) असित देवल व्यास (स्वयं, च, एव, ब्रवीषि, मे) और आपही कहता है मुझे । १३ ।

अ–तू परब्रह्म, परमधाम (परमस्थान,परम आश्रय) और परम पवित्र है, ऋषि सारे तुझे अनादि दिव्य (प्रकाशमय) पुरुष आदिदेव अजन्मा और व्यापक कहते हैं, तथा असित देवल और व्यास भी । और स्वयमेव तू मुझे (ऐसे) कहता हैं ।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
नहि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः । १४

वा चित्तकी वृत्तियां, उन में रहता हुआ मैं उनके अन्धकार को नाश करता हूं ।

श--(सर्वं, एतत्, ऋतं, मन्ये) सब यह सत्य मानता हूं (यत्, मां, वदसि, केशव) जो मुझे कहता है हे केशव ! (न, हि, ते, भगवन्, व्यक्तिं) नहीं तेरी हे भगवन् व्यक्ति को (विदुः, देवाः, न, दानवाः) जानते हैं देवता न दानव।

अ—मैं यह सब सत्य मानता हूं, जो तू मुझे कहता है हे केशव! हे भगवन् ! तेरी व्यक्ति * को न देवता जानते हैं न दानव।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते। १५

श—(स्वयं, एव, आत्मना, आत्मानं) आपही आत्मा से आत्मा को (वेत्थ, त्वं, पुरुष-उत्तम) जानता है तू हे पुरुषों में उत्तम (भूत-भावन, भूत-ईश) हे भूतों को उत्पन्न करने वाले हे भूतों के मालिक (देव-देव, जगत्-पते) हे देवों के देव हे जगत् के स्वामी।

अ—आपही तू आत्मा से आत्मा को जानता है हे पुरुषोत्तम ! हे भूतों के उत्पन्न करने वाले ! हे भूतों के मालिक ! हे देवों के देव ! हे जगत् के स्वामी।

संगति—जिस लिये तेरी व्यक्ति को तूही जानता है, देवादि नहीं, इसलिये :—

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः। याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वंव्याप्यातिष्ठसि।

श—(वक्तुं, अर्हसि, अ-शेषेण) कहने योग्य है सम्पूर्णता से

---

* जहां २ तू व्यक्त=प्रकट है, इसका पार देवता और दानव भी नहीं पासक्ते हैं। दानव=दनु की सन्तान,=शुक्र के शिष्य।

(दिव्याः, हि, आत्म-विभूतयः) दिव्य अपनी विभूतियें (याभिः, विभूतिभिः, लोकान्, इमान्) जिन विभूतियों से लोक इनको (त्वं, व्याप्य, तिष्ठसि) तू व्यापकर स्थित है ।

अ—तेरी जो दिव्य विभूतियां हैं, उनको सम्पूर्णता से कहने की कृपा कर, जिन विभूतियोंसे तू इनलोकोंको व्यापकर स्थित है।

संगति—कहने का प्रयोजन दर्शाते हुए प्रार्थना करते हैंः—

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषुकेषुचभावेषुचिन्त्योऽसिभगवन्मया। १७

श—(कथं, विद्यां, अहं, योगिन्) कैसे जानूं मैं हे योगिन् (त्वां, सदा, परिचिन्तयन्) तुझे सदा सब ओर चिन्तन करता हुआ (केषु, केषु, च भावेषु) किनकिन भावों में (चिन्त्यः, असि, भगवन्, मया) चिन्तन किया जानेयोग्यहै हेभगवन् मुझ से।

अ—हे योगि ! (ऐश्वर्य्य वाले, विचित्र सामर्थ्य वाले) कैसे मैं सदा सब ओर चिन्तन करता हुआ तुझे जानूं, हे भगवन् ! किन किन भावों (व्यक्तियों = सूरतों) में तू मुझ से चिन्तनीय है।

संगति—जिससे कि चित्त के बहिर्मुख होने पर भी जहां देखूं, वहां तेरी ही महिमा देखूं, इसप्रकार विस्तार के साथ अपनी विभूतियां कहें, यह प्रार्थना करते हैं :—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।

श—(विस्तरेण, आत्मनः, योगं) विस्तार से अपने योग को

(विभूतिं, च, जन-अर्दन) और विभूति को हे जनार्दन ! (भूयः, कथय) फिर कहो (तृप्तिः, हि, शृण्वतः, नास्ति, मे, अमृतं) तृप्ति क्योंकि सुनते हुए की नहीं है मेरी अमृत।

अ—फिर हे जनार्दन ! अपने योग और विभूति को विस्तार से कहो, क्योंकि अमृत को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है।

संगति—इसप्रकार प्रार्थना किये हुए :—

श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान् बोले।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।

श—(हन्त, ते, कथयिष्यामि) अच्छा तुझे कहूंगा (दिव्याः, हि, आत्म-विभूतयः) दिव्य अपनी विभूतियें (प्राधान्यतः, कुरु-श्रेष्ठ) प्रधानता से हे कुरुओं में श्रेष्ठ (न, अस्ति, अन्त, विस्तरस्य, मे) नहीं है अन्त विस्तार का मेरे।

अ—अच्छा ! तुझे अपनी दिव्य विभूतियां प्रधानतासे (प्रधान २) कहूंगा, मेरे (विभूतियों के) विस्तार का अन्त नहीं है।

संगति—पहले अपना पारमेश्वर रूप दिखलाते हैं :—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च। २०

श—(अहं, आत्मा, गुडाका-ईश) मैं आत्मा हे निद्रा के मालिक (सर्व-भूत-आशय-स्थितः) सब भूतों के हृदय में स्थित

---

* योग और विभूति (देखो १० । ७ की टिप्पणी) योग= सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता आदि योग का ऐश्वर्य्य (श्रीश्रीधर)

(अहं, आदिः, च, मध्यं, च) मैं आदि और मध्य (भूतानां, अन्तः, एव, च) और भूतों का अन्त ही ।

अ–हे निद्रा के मालिक ! मैं आत्मा * सब भूतों के अन्त हृदय में स्थित हूं, मैं ही सब भूतों का आदि मध्य और अन्त हूं ।

संगति–मुख्य २ विभूतियां कहते हैं :—

आदित्यानामहंविष्णुर्ज्योतिषांरविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी । २१

श–(आदित्यानां, अहं, विष्णुः) आदित्यों में मैं विष्णु (ज्योतिषां, रविः, अंशुमान्) ज्योतियों में सूर्य किरणों वाला (मरीचिः, मरुतां, अस्मि) मरीचि मरुतों में हूं (नक्षत्राणां, अहं, शशी) नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा ।

अ–(१२) आदित्यों में मैं विष्णु हूं, ज्योतियों में सदा किरणों वाला सूर्य हूं, (४९) मरुतों में मरीचि हूं, नक्षत्रों में मैं (नक्षत्रों का पति) चन्द्रमा हूं ।

भाष्य–यह विभूतियां परमात्मा का स्वरूप नहीं, किन्तु इन

---

* आत्मा से तात्पर्य्य यहां अन्तर्य्यामी आत्मा से है, जो "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया " (१८ । ६१) में कहा है और " यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरः, यꣳसर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येषत आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, =जो सारे भूतों में रहता हुआ सारे भूतों से अलग है, जिसको सारे भूत नहीं जानते, जिसका सारे भूत शरीर हैं, जो सब भूतों को अन्दर रहकर नियम में रखता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्य्यामी अमृत है, (बृह० ३ । ७ । १५) में कहा है ।

में उसकी शक्ति का वैभव (ऐश्वर्य्य) प्रकाशता है, उसके ऐश्वर्य्य के प्रकाश की भूमियां (स्थान) होने से इनको विभूति कहा है। यद्यपि उसके वैभव का प्रकाश हरएक वस्तुसे होरहाहै,तथापि जहां२ उसकी अधिकता है, वहां २ उसका वैभव आसानी से ध्यान में आता है। अतएव वहां उसका ध्यान आसान होताहै और जमता है। एक छोटा सा तालाब भी उसके वैभव का अवश्य द्योतक है, पर महासागर को देखकर जिस महिमा से हृदय भरजाता है, वह महिमा कुछ और ही है, इस अभिप्राय से यहां विभूतियां दिखलाते हुए 'आदित्यों में से मैं विष्णु हूं', इत्यादि एक २ वस्तु को निखेर कर कहा है।

परमात्मा का स्वरूप शुद्ध (सारे तत्वों से निखरा हुआ) और शबल (तत्त्वों में मिला हुआ) दो प्रकार से ध्येय है। पहिला स्वरूप अपने अन्दर अन्तर्य्यामी आत्मा के तौर पर ध्येय है, जो पूर्व २० श्लोक में कहा है, दूसरा बाहर ऐश्वर्य्य वाला होने के तौर पर ध्येय है, जिसका वर्णन अब विभूतियों द्वारा करते हैं। यहां विभूतियां ध्यान का विषय नहीं, किन्तु उनमें नियन्ता के तौर पर परमात्मा ही चिन्तनीय है। अतएव श्रीशङ्कराचार्य्य ने कहा है। "सर्वेषां-भूतानामाशयेऽन्तर्हृदि स्थितोऽहमात्मा प्रत्यगात्मा नित्यं ध्येयः, तदशक्तेन चोत्तरेषु भावेषु चिन्त्योऽहं"=सब भूतों के अन्दर हृदय में स्थित प्रत्यगात्मा नित्य ध्यान के योग्य है, ऐसा ध्यान करने में अशक्त पुरुष को अगले भावों (वक्ष्यमाण पदार्थों) में चिन्तन करना चाहिये।

ऐसा चिन्तन ही शास्त्र के अभिमत है, जो ऐसा न समझकर यह समझते हैं, कि यह विभूतियां परमेश्वर का रूप हैं, और इन्हीं का ध्यान करना चाहिये, उनको तनिक "द्यूतं छलयतामस्मि"

(३६) पर ध्यान देना चाहिये, सन्देह आपही मिट जाएगा।

यहां विभूतियों में वेद, लोक वा इतिहास प्रसिद्ध सब तरह की विभूतियां कही हैं, अर्थात् वेद, लोक वा इतिहास में, जिस २ भावमें अधिक महिमा प्रसिद्ध है, वहां २ सर्वत्र परमात्मा की ही महिमा समझो, उसी को ध्यान करो।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणांमनश्चास्मिभूतानामस्मि चेतना।

श–(वेदानां, साम-वेदः, अस्मि) वेदों में सामवेद हूं (देवानां, अस्मि, वासवः) देवताओं में हूं इन्द्र (इन्द्रियाणां, मनः, च, अस्मि) और इन्द्रियोंमें मन हूं (भूतानां, अस्मि, चेतना) भूतों में हूं चेतना।

अ–वेदों में सामवेद * हूं, देवताओं में इन्द्र हूं, इन्द्रियों में मन हूं, भूतों में मैं चेतना (ज्ञानशक्ति) हूं।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।

श–(रुद्राणां, शंकरः, च, अस्मि) और रुद्रों में शंकर हूं (वित्त-ईशः, यक्ष-रक्षसां) वित्तेश यक्षराक्षसों में (वसूनां, पावकः, च, अस्मि) और वसुओं में पावक हूं (मेरुः, शिखरिणां, अहं) मेरु ऊंचे पर्वतों में मैं।

अ–(ग्यारह) रुद्रों में मैं शङ्कर हूं, यक्ष और राक्षसों में

---

* गीतिरूप होने से अतीव चित्त का आकर्षक है।

वित्तेश (धन का मालिक=कुबेर) हूं, (आठ) वसुओं में पावक (अग्नि) हूं। और ऊंचे पर्वतों में मेरु हूं।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः २४

श–(पुरोधसां, च, मुख्यं, मां, विद्धि, पार्थ, बृहस्पतिं) और पुरोहितों में से मुख्य मुझे जान हे पार्थ बृहस्पति (सेनानीनां, अहं, स्कन्दः) सेनापतियों में से मैं स्कन्द (सरसां, अस्मि, सागरः) सरोवरों में हूं सागर।

अ–पुरोहितों में हे पार्थ! (देवताओं का पुरोहित होने से) मुख्य जो बृहस्पति है–वह मुझे जान, सेनापतियों में मैं स्कन्द (स्वामिकार्तिक) हूं, झीलों में मैं सागर हूं।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।

श–(महर्षीणां, भृगुः, अहं) महर्षियों में भृगु हूं मैं (गिरां, अस्मि, एकं, अक्षरं) वाणियों में हूं एक अक्षर (यज्ञानां, जपयज्ञः, अस्मि) यज्ञों में जपयज्ञ हूं (स्थावराणां, हिम-आलयः) स्थावरों में हिमालय।

अ–महर्षियों में (अति तेजस्वी) भृगु मैं हूं, वाणियों में एक अक्षर (ओंकार) हूं, यज्ञों में जपयज्ञ हूं, स्थावरों में हिमालय हूं।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।

श-(अश्वत्थः, सर्व-वृक्षाणां) पीपल सारे वृक्षों में (देव-ऋषीणां, च नारदः) और देवऋषियों में नारद (गन्धर्वाणां, चित्र-रथः) गन्धर्वों में चित्ररथ (सिद्धानां, कपिलः,मुनिः) सिद्धों में कपिल मुनि ।

अ-सारे वनस्पतियों में पीपल हूं, देवऋषियों में नारद हूं, गन्धर्वों में चित्ररथ हूं, सिद्धों में कपिल मुनि हूं । *

उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् २७

श-(उच्चैः श्रवसं, अश्वानां, विद्धि, मां, अमृत-उद्भवं) उच्चै श्रवा घोड़ों में जान मुझे अमृत से उत्पन्न हुआ (ऐरावतं, गज-इन्द्राणां) ऐरावत गजेन्द्रों में (नराणां, च, नर-अधिपं) और मनुष्यों में मनुष्यों का अधिपति ।

अ-घोड़ों में अमृत से जन्मा † उच्चैः श्रवा मुझे जान, गजेन्द्रों (दिग्गजों=दिशाओं के हाथियों) में मैं ऐरावत हूं, और मनुष्यों में राजा हूं ।

---

* पीपल छाया देने से बहुत प्राणियों को तृप्त करता है, और पक्षियों का बड़ा वास घर है । देवऋषि=जो देवताओं में मन्त्रद्रष्टा हुए हैं-नारद भक्तों में श्रेष्ठ हुआ है । चित्ररथ गायकों में श्रेष्ठ हुआ है,सिद्ध जो जन्मसे ही ज्ञान और वैराग्य से युक्त होते हैं,उनमें से कपिल मुनि परमार्थ तत्व का दिखलानेवाला हुआ है ।

† अमृत से उत्पन्न हुआ=अर्थात् अमृत के मथन समय निकला । इतिहास पुराणोंकी आख्यायिका के अनुसार अमृत मथन के समय उच्चैःश्रवा और ऐरावत उत्पन्न हुए थे । अमृत मथन की अलंकृत कथा एक विशेष अभिप्राय रखती है, जो किसी अपने असली अवसर पर प्रकट किया जायगा ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।

श-(आयुधानां, अहं, वज्रं) शस्त्रों में मैं वज्र (धेनूनां, अस्मि, काम-धुक्) धेनुओं में हूं कामधुक् (प्रजनः, च, अस्मि, कन्दर्पः) और उत्पन्न करने वाला हूं काम (सर्पाणां, अस्मि, वासुकिः) सर्पों में हूं वासुकि ।

अ-शस्त्रों में मैं वज्र हूं, धेनुओं में कामधुक् (कामधेनु) हूं, उत्पत्ति का हेतु काम * हूं, सर्पों में वासुकि हूं ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणः यादसामहं ।
पितॄणामर्यमाचास्मि यमः संयमतामहम् २९

श-(अनन्तः, च, अस्मि, नागानां) और अनन्त हूं नागों में (वरुणः, यादसां, अहं) वरुण जल में रहने वालों में मैं (पितॄणां, अर्यमा, च, अस्मि) और पितरों में अर्यमा हूं (यमः, संयमतां, अहं) यम दण्ड देने वालों में मैं ।

अ--नागों में मैं (उनका राजा) अनन्त हूं, जलचरों में (उनका राजा) वरुण मैं हूं, पितरों में (उनका राजा) अर्यमा हूं, दण्ड देने वालों में यमराज हूं ।

प्रल्हादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।

श--(प्रल्हादः, च, अस्मि, दैत्यानां) और प्रल्हाद हूं दैत्यों में (कालः, कलयतां, अहं) काल हूं गिनती करने वालों में मैं

---

* निरा भोगरूप काम भगवान् की इच्छा के विरुद्ध है।

(मृगानां, च, मृग-इन्द्रः, अहं) और मृगों में मृगेन्द्र मैं (वैनतेयः, च, पक्षिणं) और गरुड़ पक्षियों में।

अ—दैत्यों में मैं प्रल्हाद हूं, गिनती करने वालों में काल हूं,* मृगों (वन पशुओं) में मृगेन्द्र (सिंह) हूं, पक्षियों में गरुड़ हूं।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मिस्रोतसामस्मिजाह्नवी।

श—(पवनः, पवतां, अस्मि) पवन पवित्र करने वालों में हूं (रामः, शस्त्र-भृतां, अहं) राम शस्त्र धारियों में मैं (झषाणां, मकरः, च, अस्मि) और मछलियों में मगर हूं (स्रोतसां, च, अस्मि) जाह्नवी) और प्रवाहों में हूं गंगा।

अ—पवित्र करने वालों में मैं पवन (वायु) हूं, शस्त्रधारियों में राम † हूं, मछलियों में मगर हूं, प्रवाहों में गंगा हूं।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।

श—(सर्गाणां, आदिः, अन्तः, च) सृष्टियों का आदि और अन्त (मध्यं, च, एव, अहं, अर्जुन) और मध्य ही मैं हे अर्जुन (अध्यात्म-विद्या, विद्यानां) अध्यात्म विद्या विद्याओं में (वादः, प्रवदतां, अहं) वाद बोलने वालों में।

---

* बस में करने वालों में काल हूं, क्योंकि काल के सब बस में है (श्रीधर, बलदेव, विश्वनाथ)

† व्याख्याकारों ने यहां श्रीरामचन्द्र से अभिप्राय लिया है। पर शस्त्रधारियों में प्रसिद्ध परशुराम भी है और उसको भी राम ही कहा जाता है।

अ—हे अर्जुन सृष्टियों का मैं ही आदि अन्त और मध्य हूं, विद्याओं में मैं अध्यात्मविद्या हूं, बोलने वालों में मैं वाद हूं।*

अक्षराणामकारोऽस्मिद्वन्द्वः सामासिकस्य च
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः।

श—(अक्षराणां, अकारः, अस्मि) अक्षरों में अकार हूं (द्वन्द्वः, सामासिकस्य, च) और द्वन्द्व समास समूह में (अहं, एव, अक्षयः, कालः) मैं ही अखण्ड काल (धाता, अहं, विश्वतः-मुखः धारने वाला मैं सब ओर मुखवाला।

अ—अक्षरों में अकार हूं, समास के समूह में द्वन्द्व समास हूं मैं ही अखण्ड काल हूं, मैं धारने वाला (सहायक) सब ओर मुख वाला हूं।†

---

* पूर्व (२०) जीवों का आदि अन्त और मध्य कहा है और यहां हरएक सृष्टि का, इसलिये पुनरुक्ति नहीं। अध्यात्मविद्या सब विद्याओं से श्रेष्ठ है। बोलने वाले जो बात चीत करते हैं, वह तीन प्रकार की होती है। वाद, जल्प, वितण्डा। तत्व निर्णय के लिये जो बात चीत होती है, वह वाद है। दूसरे को हरा देने के लिये जो बात चीत होती है वह जल्प है, और जो निरी उटंकना करके दूसरे की बात का खण्डन ही करता है, अपना पक्ष कुछ नहीं ठहराता है, उसकी बात चीत वितण्डा कहलाती है, इनमें से ठीक शुद्धनियतसे वादही प्रवृत्त होता है, औरदोनों वादियों कोएकही सचाई पर पहुंचादेताहै, इसलिये वही परमात्मा की विभूति में है।

† 'अ' ही स्वाभाविक उच्चरित होता है, और व्यञ्जनों के उच्चारण में भी इसकी सहायता ली जाती है। द्वन्द्व समास में दोनों पद प्रधान होते हैं, अर्थात् वह सारे का सारा प्रधान है, और कोई समास ऐसा नहीं। "पूर्व गिनने वालों में मैं काल हूं" से क्षण मुहूर्त आदि खण्ड काल का वर्णन है, यहां अखण्डकाल कहा है, इसलिये पुनरुक्ति नहीं।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिःश्रीर्वाक्चनारीणांस्मृतिर्मेधाधृतिःक्षमा

श-(मृत्युः, सर्व-हरः, च, अहं) और मृत्यु सब का हरने वाला मैं (उद्भवः, च, भविष्यतां) और निकास होने वालों का (कीर्तिः, श्रीः, वाक्, च, नारीणां) कीर्ति शोभा और बाणी नारियों की (स्मृतिः, मेधा, धृतिः,क्षमा) स्मृति मेधा धृति क्षमा।

अ-(संहार करने वालों में) सब का संहार करने वाला मृत्यु मैं हूं, सब होने (आने) वालों का निकास मैं * हूं, नारियों की कीर्ति शोभा और बाणी मैं हूं, स्मृति, मेधा (ग्रन्थ के धारण की शक्ति) धृति (धैर्य्य) और क्षमा मैं हूं।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ३५

---

* "स्त्रियों के मध्य में कीर्ति श्रीवाक् स्मृति मेधा धृति और क्षमा यह सात जो धर्म्म को पत्नियां हैं वह मैं ही हूं। इनमें से, कीर्ति=धार्म्मिक होने से प्रशंसा के तौर पर जो नाना दिग् देशों में ख्याति है। श्री=धर्म्म अर्थ और काम की सम्पत्ति,शरीर की शोभा कान्ति। वाक्=सरस्वती=हरएक विषय के प्रकाश करनेवाली संस्कृत बाणी। स्मृति=चिरकाल के अनुभव की हुई वस्तु की स्मरण शक्ति। मेधा=अनेक अर्थों के धारण की शक्ति। धृति=गिरने में भी शरीर और इन्द्रियों के संघात को थामने की शक्ति अथवा किसी उच्छृङ्खल प्रवृत्ति के कारण से जब चञ्चलता आने लगे। तो उसको रोकने की शक्ति। क्षमा=हर्ष और विषाद में चित्त का अविकृत (बिना विकार के=एक जैसा) रहना। यह कीर्ति आदि जिनके आभास मात्र के सम्बन्ध से भी मनुष्य सब लोगों का आदरणीय बन जाता है, उनका सब स्त्रियों में उत्तम होना अति प्रसिद्ध ही है (श्रीमधुसूदन)।

श—(बृहत्, साम,-तथा, साम्नां) बृहत् साम तथा सामों में (गायत्री, छन्दसां,अहं) गायत्री छन्दों में मैं (मासानां, मार्गशीर्षः, अहं) महीनों में मग्घर मैं (ऋतूनां, कुसुम-आकरः) ऋतुओं में फूलों की खानि=वसन्त।

अ—सामों में बृहत् साम मैं हूं, छन्दों में मैं गायत्री हूं, महीनों में मग्घर (अगहन) मैं हूं* (छः) ऋतुओं में वसन्त मैं हूं।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मिव्यवसायोऽस्मिसत्त्वं सत्ववतामहम्

श—(द्यूतं, छलयतां, अस्मि) जुआ छलनेवालों में हूं (तेजः, तेजस्विनां, अहं) तेज तेजस्वियों का मैं (जयः, अस्मि, व्यवसायः, अस्मि) जय हूं व्यवसाय हूं (सत्त्वं, सत्त्ववतां, अहं) दिलेरी दिलेरों की मैं।

अ—छलने वालों में जुआ † मैं हूं, तेजस्वियों का तेज मैं हूं

---

* वेदों में सामवेद मैं हूं, यह पूर्व कहा है, अब साम के भेद जो हैं, उनमें से "बृहत् साम" कहा है। बृहत् साम "त्वामिद्धि हवामहे" इस ऋचा में गाया जाता है, इसमें इन्द्र को सर्वेश्वर रूप से स्तुति है, इसलिये श्रेष्ठता दिखलाई है। गायत्री द्विजों को द्विज बनाती है, और गायत्री सोम के लाने वाली है। सोम के लाने की आख्यायिका देखो शतपथ ब्राह्मण ४। ३। २। ७,१९)। मग्घर में नये अनाजों की बहुतायत होती है।

† द्यूत जो कि शास्त्र प्रतिषिद्ध कर्म है, उसको अपनी विभूतियों में क्यों गिना ? यह आशंका पुराने व्याख्याकारों ने तो उठाई ही नहीं। एक नई व्याख्या जो ब्राह्म समाज के एक उपाध्याय ने लिखी है, उसमें यह उत्तर दिया है 'आपस में ठगने

(जीतने वालों की) जय मैं हूं (व्यवसायियों का) व्यवसाय (निश्चय वा उद्यम) मैं हूं, दिलेरों की दिलेरी मैं हूं*।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मिपाण्डवानांधनञ्जयः।
मुनानीमप्यहं व्यासः कवीनामुशनाःकविः।

वालों का जुआ जो सर्वस्व का हरने वाला है, वह मैं हूं "यस्याह मनुगृह्णामि हरिष्यामि च तद्धनम्"=जिसका मैं अनुग्रह करता हूं उसका धन हर लेता हूं। इस रीति से सर्वस्व हर लेना अनुग्रह ही है, इसलिये अपने आपको जुआ बतलाया है"। अस्तु। हम इसका यह सीधा अभिप्राय समझते हैं, कि इस खेल में मुहूर्त में कङ्गाल अमीर और अमीर कङ्गाल बनजाता है, राजगद्दियें भी बदल जाती हैं। यदि कल नल दमयन्ती राज्य के मालिक थे और आज एक धोती पहिने हुए वन में घूम रहे हैं। और फिर जब इससेभी बढ़कर उसीराजपुत्री और नल की महारानी दमयन्ती को फटे कपड़े पहने हुए और तन मलीन पागलों की तरह घूमती हुई देखते हैं तो इस घटना को देख कौननहींकहेगा,धन्य तेरी माया तेरी तूही जाने इत्यादि। इसलिये इसको विभूतियों में कहा है अर्थात् छलने वाली वस्तुयें एक पल छिन में और का और रंग दिखला देती हैं, जुआ इनमें सब से बढ़कर शक्तिवाला है, केवल इतना अभिप्राय है। जुआ वस्तुतः प्रतिषिद्ध ही है, अतएव भक्ति सूत्रों में यह कहा है,कि विभूतियोंमें पराभक्ति नहींकरनी चाहिये क्योंकि "द्यूत राज सेवयोः प्रतिषिद्धत्वात्"=जुआ और राज सेवा प्रतिषिद्ध हैं। विभूतियें भगवान् का स्वरूप नहीं हैं किन्तु भगवान् की शक्ति की प्रकाशक हैं, इसलिये उन विभूतियों में भगवान् चिन्तनीय है, न कि विभूतियें चिन्तनीय हैं। यह परमात्मा की महिमा को दिखलाती हैं,इसलिये इनको 'अहं=मैं' शब्द से अभेद करके कहा है।

* सात्विकों पुरुषों का सत्त्व गुण (धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य्य का कारण) मैं हूं (श्रीःश्रीधर)।

पदा०-(वृष्णीनां, वासुदेवः, अस्मि) यादवों में वासुदेव हूं (पाण्डवानां,धनञ्जयः) पाण्डवों में धनञ्जय(मुनीनां,अपि,अहं,व्यासः) मुनियों में भी मैं व्यास (कवीनां, उशनाः, कविः) कवियों में शुक्र कवि ।

अ०-यादवों में मैं वासुदेव * हूं, पाण्डवों में धनञ्जय † मुनियों में व्यास मैं हूं, कवियों में शुक्र कवि मैं हूं ॥

---

* यहां " वसुदेव का पुत्र वासुदेव संकर्षण अभिप्रेत है (श्री बलदेव) यहां " स्वार्थ में अण् प्रत्यय लाकर, वसुदेव ही वासुदेव कहा है (श्री विश्वनाथ) इन दोनों वैष्णव व्याख्याकारों ने यह क्लेश साध्य अप्रसिद्ध अर्थ इसलिये किया है, कि श्रीकृष्ण भगवान् का अवतार है उनकी विभूतियों में गणना कैसे हो, पर इस में उनका मनोरथ सिद्ध नहीं होता, पूर्व राम और शंकर भी तो विभूतियों में गिने हैं और श्री शाण्डिल्य ने भक्ति सूत्र में वासुदेव का अर्थ श्रीकृष्ण ही है, यह निर्णय किया है, और स्वयं श्रीकृष्ण ने " अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः । सर्वेप्येते यदुश्रेष्ठाव मृग्याः सचराचरम् " =मैं तुम वह आर्य और यह द्वारकावासी सारे ही इसप्रकार हे यदु श्रेष्ठ ! विचार के योग्य हैं (भाग० १० । ८५ । २०) इसप्रकार अपने आपका विभूति होना सिद्ध किया है । श्री शंकराचार्य्यादि ने भी वासुदेव का अर्थ श्रीकृष्ण ही लिया है । अतएव अवतार का अभिप्राय जो पूर्व चतुर्थ में निरूपण किया है वही सर्वशास्त्र सम्मत यहां से भी स्पष्ट निकलता है ।

† धनञ्जय=अर्जुन । पाण्डवों में युधिष्ठिर परम धार्म्मिक था, उसको छोड़कर विभूतियों में धनञ्जय को क्यों गिना । उत्तर स्पष्ट है, अर्जुन के बराबर शूरवीर कोई नहीं था, यही नहीं, किन्तु उसने राज्य को वापिस लाने के लिये बड़ी २ कठिनाइयें झेलकर अद्वितीय तप कियाथा,जिस राज्यको युधिष्ठिर हरा चुकाथा । और वह कठिन परीक्षाओं में युधिष्ठिर से बढ़कर निकला था । ब्रह्मचर्य व्रतों का सेवन करते हुए दीर्घकाल बन में रहने के दुःख को उस

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥

श–(दण्डः, दमयतां, अस्मि) दण्ड दमन करने वालों का हूं (नीतिः, अस्मि, जिगीषतां) नीति हूं जीतने की इच्छावालों की (मौनं, च, एव, अस्मि, गुह्यानां) और मौन हूं गुह्यों में (ज्ञानं, ज्ञानवतां, अहं) ज्ञान ज्ञान वालों का मैं।

अ–(दण्ड देने=दमन करने=बिगड़ों को सुधारने) वालों का

ने अनुभव भी किया हुआ था। तथापि ब्राह्मण की पुकार सुनकर उसकी गौओं को चोरों से छुड़ाने के लिये द्रौपदी के साथ बैठे युधिष्ठिर की परवाह न करके शस्त्र लेने के लिये वहां चला गया, जब गौओं को छुड़ा लाया, तो फिर पहले किये हुए नियम के अनुसार युधिष्ठिर से निवेदन किया, कि मैंने संकेत का उलंघन कियाहै,अब बनको जाताहूं,जैसाकि हमारा संकेत होचुका हुआहै, युधिष्ठिरने ममताके वश में युक्त्याभासों के द्वारा हटाना चाहा, पर उसने हाथजोड़ यही कहा 'न व्याजेनचरेद्धर्ममितिमे भवतः श्रुतम्। न सत्याद् विचलिष्यामि सत्येनायुधमालभे' धर्म में बहाना न ढूंढे, यह मैंने आपसे सुना हुआ है। मैं सचाई से नहीं फिसलूंगा सचाई से शस्त्र को स्पर्श करता हूं (महा० आदि०२१५।३४) यह अर्जुन का महत्व सुस्पष्ट है। पर सच तो यह है, कि जब अर्जुन धनुष लेकर खड़ा होता था, तो निःसन्देह प्रतीत होता था कि पाण्डवों में यह व्यक्ति परमात्मा की विभूति है 'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयोभूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम'

† वेद की रक्षा, धर्म और इतिहास का प्रचार करने से व्यास मुनियोंमें श्रेष्ठहै। और कवि अर्थात् सूक्ष्म विषयोंके समझाने वालों में शुक्राचार्य नीति में सर्व श्रेष्ठ होने से श्रेष्ठ कहा है।

दण्ड * मैं हूं, विजय चाहने वालों की नीति मैं हूं, गुह्यों में (गुप्त रखने वाली बातों में, गुप्त रखने का कारण) मौन मैं हूं, ज्ञानवालों का ज्ञान मैं हूं ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।

श–(यत्, च, अपि) और जो भी (सर्व-भूतानां, बीजं) सारे भूतों का बीज (तत्, अहं, अर्जुन) वह मैं हे अर्जुन (न, तत्, अस्ति) नहीं वह है (बिना, यत्, स्यात्, मया, भूतं, चर-अचरं) विना जो हो मेरे भूत चर अचर ।

अ–और जो कोई सब भूतों का बीज है,वह मैं हूं (क्योंकि) ऐसा कोई चर अचर भूत नहीं है जो मेरे बिना हो सके ।

संगति–प्रकृत अर्थ का उपसंहार करते हैं :—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।४०

श–(न, अन्तः, अस्ति) नहीं अन्त है (मम, दिव्यानां, विभूतीनां, परन्तप) मेरी दिव्य विभूतियों का हे शत्रुतापन (एषः, तु, उद्देशतः, प्रोक्तः) यह तो नमूने के तौर कहा है (विभूतेः, विस्तरः, मया) विभूति का विस्तार मैंने ।

अ–हे परंतप मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है, किन्तु यह विभूति का विस्तार मैंनें नमूने के तौर पर कहा है ।

---

* दण्ड के भय से पाप से, निवृत्ति होती है (देखो मनु० ७।१४—१५) दण्ड स्वयं धर्मरूप है (देखो मनु० ७।१८) दण्ड पाप का शोधक है (देखो मनु० ८।३।१८)।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ४१

श—(यत्, यत्, विभूतिमत्, सत्त्वं) जो जो ऐश्वर्य्य वाली वस्तु (श्रीमत्, ऊर्जितं, एव, वा) शोभावाली शक्तिवाली ही वा (तत्, तत्, एव, अवगच्छ, त्वं) उस उसको ही जान तू (मम, तेजः-अंश-सम्भवं) मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुई।

अ—(किन्तु) जो २ ऐश्वर्यवाली शोभावाली वा शक्तिवाली वस्तु* है, उस २ को ही मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुई जान।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

श—(अथवा, बहुना, एतेन, किं, ज्ञातेन) अथवा बहुत इससे क्या जाने हुए से (तव, अर्जुन) तुझे हे अर्जुन (विष्टभ्य, अहं, इदं, कृत्स्नं, एक-अंशेन) थामकर मैं इस सारे को एक अंश से (स्थितः, जगत्) स्थित जगत् को।

अ—अथवा इस बहुत जाने हुए से तुझे क्या हे अर्जुन ! यह जान कि मैं इस समस्त जगत् को एक अंश से व्यापकर स्थित हूं।

इति श्रीमद्भग० विभुतियोगोनाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

संगति- पूर्व अध्याय में नाना विभूतियें कहकर 'विष्टभ्य हामिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' इससे विश्वात्मक पारमेश्वर रूप जो भगवान् ने अन्त में कहा है उसको सुनकर उत्कण्ठा से

---

* सत्त्व = वस्तु, से अभिप्राय चेतन अचेतन दोनों हैं।

भरे हुए हृदयवाला, उसरूप को साक्षात् करना चाहता हुआ—*

अर्जुन उवाच—अर्जुन बोला ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम । १

श—(मत्-अनुग्रहाय) मेरे अनुग्रह के लिये (परमं, गुह्यं, अध्यात्म-संज्ञितं) परम गुह्य अध्यात्म नामवाला (यत्, त्वया, उक्तं, वचः) जो तूने कहा है वचन (तेन, मोहः, अयं, विगतः, मम) उससे मोह यह दूर होगया मेरा ।

अ—मेरे अनुग्रह के लिये जो तूने अध्यात्म * नामवाला परम गुह्य बचन कहा है, उस से मेरा मोह दूर होगया है ।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् २

श—(भव-अप्ययौ, हि, भूतानां) उत्पत्ति प्रलय निःसन्देह भूतों के (श्रुतौ, विस्तरशः, मया) सुने हैं विस्तार से मैंने (त्वत्तः, कमल-पत्र-अक्ष) तुझसे हे कमल के पत्तेके सदृश नेत्रवाले (माहात्म्यं, अपि, च, अव्ययं) और माहात्म्य भी अक्षय ।

अ—हे कमलपत्र के सदृश (खिले हुए विशाल) नेत्रों वाले !

---

*व्यष्टि में अनुभव के अनन्तर ही समष्टिमें अनुभव होसक्ता है, इसलिये विभूतियों द्वारा व्यष्टि महिमा कहकर अब समष्टि महिमा वर्णन करते हैं ।

* अध्यात्म=आत्मा और अनात्मा के विवेक सम्बन्धी, जो दूसरे अध्याय से छठे तक उपदेश किया है ।

तुझ से भूतों की उत्पत्ति और प्रलय भी सुने हैं, और अक्षर माहात्म्य (अविनाशी महत्त्व) भी । *

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम । ३ ।

श--(एवं, एतत्) ऐसे यह (यथा, आत्थ, त्वं, आत्मानं, परम-ईश्वर) जैसे कहता है तू अपने आपको हे परमेश्वर (द्रष्टुं, इच्छामि,) देखना चाहता हूं (ते, रूपं, ऐश्वरं, पुरुष-उत्तम) तेरा रूप ऐश्वर हे पुरुषों में उत्तम ।

अ--ऐसा ही है, जैसे तू अपने आपको कहता है हे परमेश्वर ! हे पुरुषोत्तम ! तेरा ईश्वरीय रूप * देखना चाहता हूं ।

---

*सातवें से दशवें तक 'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युप धारय । अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा (७ । ६) इत्यादि अनेक स्थानों में अनेक प्रकार से भूतों की उत्पत्ति प्रलय का वर्णन हुआ है । तथा भगवान् की महिमा का वर्णन भी हुआ है जैसे भगवान् सब से परे हैं (७ । ७) वह अव्यक्त रहकर सब को व्यक्त करते हैं, स्वयं निराधार होकर सब के आधार हैं, असङ्ग रहकर सब का पालन पोषण करते हैं सब में रहकर सब से न्यारे हैं सृष्टि आदि करते हुए और शुभ और अशुभ कर्मों के फल देते हुए भी कर्मों से बद्ध नहीं होते (८ । ४—१०) उनकी भक्ति का सहारा पकड़ने से पापियों के पाप छूट जाते हैं, और वह धर्मात्मा बनजाते हैं, उनकी भक्ति में कोई बाह्य आडम्बर अपेक्षित नहीं, केवल हृदय का प्रेम अपेक्षित है, उनकी भक्ति का अन्तिम फल उनकी प्राप्ति है (९ । २६—३४) उनका प्राणिमात्र पर एक सदृश अनुग्रह है, किसी में पक्षपात नहीं, (९ । २९) उनकी विभूतियां सारे फैली हुई हैं, और सारा ही जगत् उनके एक देश में स्थित है । (१०) इत्यादि ।

* सारे जगत् को व्यापकर स्थित जो तेरा रूप है ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।४

श–(मन्यसे, यदि, तत्, शक्यं) समझता है यदि वह शक्य (मया, द्रष्टुं, इति, प्रभो) मुझसे देखना यह हे प्रभो (योग-ईश्वर, ततः, मे, त्वं) हे योगेश्वर तब मुझे तू (दर्शय, आत्मानं, अव्ययं) दिखला आत्मा अविनाशी को।

अ–हे प्रभो ! यदि समझते हो, कि मैं उसको देख सक्ता हूं, तब मुझे हे योगेश्वर * अपना अविनाशी रूप दिखलाओ।

संगति–इसप्रकार प्रार्थना किये हुए, उसको असद्भुत रूप दिखलाने के लिये सावधान करते हुए :—

श्री भगवानुवाच–श्री भगवान् बोले।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।

श–(पश्य, मे, पार्थ, रूपाणि) देख मेरे हे पार्थ रूपों को (शतशः, अथ, सहस्रशः) सौ सौ और हजार २ (नाना-विधानि, दिव्यानि) अनेक प्रकार के दिव्य (नाना-वर्ण-आकृतीनि, च) और नाना रङ्गों आकृतियों वाले।

अ–हे पार्थ ! देख मेरे शत २ और सहस्र २ रूपों को,

---

* योगेश्वर=योगियों के ईश्वर=मालिक (सरताज) अथवा अद्भुतों के मालिक, जो दूसरे किसी से सम्भावित हो नहीं होसक्ते, ऐसे ज्ञान बल वीर्य्य शक्ति और तेज के निधि, (पश्यमे योगमैश्वरं) आगे कहेंगे।

जो नानाप्रकार के नाना रङ्गों और आकृतियोंवाले हैं, दिव्य हैं। *

संगति–उन्हीं रूपों को कहते हैं :—

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत। ६

श–(पश्य, आदित्यान्, वसून्, रुद्रान्) देख आदित्यों को वसुओं को रुद्रों को (अश्विनौ, मरुतः, तथा) अश्वियों को मरुतों को तथा (बहूनि, अदृष्ट-पूर्वाणि) बहुत से न देखे हुए पहले (पश्य, आश्चर्याणि, भारत) देख आश्चर्यों को हे भारत।

अ–देख आदित्यों को, वसुओं को, रुद्रों को, दोनों अश्वियों को, तथा मरुतों को पहले न देखे हुए बहुत से आश्चर्य रूपों को देख हे भारत !

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि। ७

---

* श्री भगवान् यहां अर्जुन को विराट्रूप का दर्शन करायेंगे, विराट्रूप का दर्शन यह है, कि यह सारा विश्व उस विश्वपति का शरीर है, इसी से सारे भूत निकलते रहते हैं और इसी में लीन होते रहते हैं, सारी घटनायें इसी शरीर में होरही हैं। और जो कुछ भी जड़ चेतन है, इसी शरीर में है और शरीर रूप है। जिस तरह हमारा शरीर जीवात्मा से जीवन्त जाग्रत है, इसी तरह यह विश्वरूपी शरीर उस परम आत्मा से जीवन्त जाग्रत है। इसीलिये विराट् को पुरुष कहा है। विराट् पुरुष का वर्णन ऋग्वेद (१०। ९०) और यजुर्वेद ३१ में है। तदनुसार ही यहां गीता में है।

* आदित्य १२ वसु ८ रुद्र ११ मरुत ४९।

श-(इह, एक-स्थं, जगत्, कृत्स्नं) यहां एक में स्थित जगत् सारा (पश्य, अद्य, स-चर-अचरं), देख आज सहित चर अचर के (मम, देहे, गुडाका-ईश) मेरे देह में हे निद्रा के मालिक (यत्, च, अन्यत्, द्रष्टुं, इच्छसि) और जो और देखना चाहता है।

अ–चराचर सहित यहां आज इस सारे जगत् को मेरे देह में एक जगह स्थित देख। और जो और * भी देखना चाहता है।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥८

श–(न, तु, मां, शक्यसे, द्रष्टुं) नहीं पर मुझे सकता है देख (अनेन, एव, स्व-चक्षुषा) इसी अपने नेत्र से (दिव्यं, ददामि, ते, चक्षुः) दिव्य देता हूं तुझे नेत्र (पश्य, मे, योगं, ऐश्वरं) देख मेरे योग ईश्वरीय को।

अ–पर तू मुझे इसी अपने नेत्र से देख नहीं सक्ता है, इसीलिये तुझे दिव्य नेत्र † देता हूं, देख मेरे ईश्वरीय योग (अद्भुत सामर्थ्य) को।

---

* और = जगत् का आश्रय जगत् की अवस्था विशेष आदिक, और जय पराजय आदिक।

† नेत्र ही सभी इस विश्व और उसकी घटनाओं को देखते हैं, पर इस विश्व में विश्वपति को और घटनाओं में उसके हाथ को वह देखते हैं, जिनको उस विश्वपति के अनुग्रह से दिव्य नेत्र मिला है। यह दिव्य नेत्र विश्वपति की भक्ति से भरा हुआ ज्ञान से चमकता हुआ शुद्ध मन है "मनोऽस्य दैवं चक्षुः। स वाएष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते। य एते ब्रह्मलोके" मन इसका दैवीनेत्र है, वह इस दैवी नेत्र मन से उन कामनाओं

संगति—यह कहकर भगवान् ने अर्जुनको विश्वरूप दिखलाया, उसरूप को देखकर अर्जुन ने अपना दृष्टरूप श्रीकृष्ण को बतलाया, यह बात " एव मुक्त्वा " इत्यादि छः श्लोकों से धृतराष्ट्र को बतलाने के लिये :—

सञ्जय उवाच=सञ्जय बोले—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् । ९

श—(एवं, उक्त्वा, ततः, राजन्) ऐसा कहकर तब हे राजन् (महा-योग-ईश्वरः, हरिः) महायोगेश्वर हरि (दर्शयामास, पार्थाय) दिखलाता भया अर्जुन को (परमं, रूपं, ऐश्वरं) परम रूप ईश्वरीय ।

अ—हे राजन् ! इतना कहकर तब महायोगेश्वर हरि अर्जुन को परम (सर्वोत्तम) ईश्वरीयरूप दिखलाते भए ।

संगति—कैसा वह रूप दिखलाया, यह बतलाते हैं :—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणंदिव्यानेकोद्यतायुधम् १०

श—(अनेक-वक्त्र-नयनं) अनेक मुख नेत्रोंवाला (अनेक-अद्भुत-दर्शनं) अनेक अद्भुत दर्शनों वाला (अनेक-दिव्य-आभ-

---

को देखता हुआ आनन्द मनाता है, जो यह ब्रह्मलोक में हैं (छा० ८ । १२ । ५—६) यह दिव्यनेत्र अर्जुन की तरह उसी को मिलता है, जिसको भगवान् देते हैं । (सविस्तर देखो उपनिषदों की शिक्षा चौथा भाग, विषय-ब्रह्म के शबल स्वरूप और उसके शुद्ध स्वरूप का दर्शन) ।

रणं) अनेक दिव्य भूषणों वाला (दिव्य-अनेक-उद्यत-आयुधं) दिव्य अनेक उठाए हुए शस्त्रों वाला ।

अ–(सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्, इस प्रकार से) अनेक मुख और नेत्र जिसमें हैं, अनेक अद्भुतों के दर्शन जिसमें हैं, अनेक दिव्य भूषण जिममें है, अनेक दिव्य शस्त्र जिसमें हैं ।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् । ११

श–(दिव्य-माल्य-अम्बर-धरं)दिव्य माला वस्त्र धारण किये हुए (दिव्य-गन्ध-अनुलेपनं) दिव्य गन्ध लगाए हुए (सर्व-आश्चर्यमयं, देवं) सारा आश्चर्यमय देव (अनन्तं, विश्वतः-मुखं) अन्त से रहित सब ओर मुख वाला ।

अ–दिव्य माला वस्त्र धारण कियेहुए,दिव्य गन्ध लगाए हुए, सारा आश्चर्यस्वरूप, अन्त से रहित, सब ओर मुख वाला ।

संगति–उस विश्वरूप की दीप्ति की कोई उपमा नहीं होसक्ती यह कहते हैं :–

दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि-
भाःसदृशीसास्याद्भासस्तस्यमहात्मनः ।१२।

श–(दिवि, सूर्य-सहस्रस्य) आकाश में सूर्य हजार की, (भवेत्, युगपत्, उत्थिता) हो एकदम उठी (यदि, भाः) यदि दीप्ति (सदृशी, सा, स्यात्, भासः, तस्य, महा-आत्मनः) सदृश वह हो दीप्ति के उस महात्मा की ।

अ–आकाश में यदि हजार सूर्य की एकदम दीप्ति उठी

हुई हो, तो वह उस महात्मा की दीप्ति के कथंचित् सदृश हो। *

संगति—तब क्या हुआ इस आकांक्षा में सञ्जय कहते हैं :—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा । १३

श—(तत्र, एक-स्थं, जगत्, कृत्स्नं) वहां एक जगह स्थित सारे जगत् को (प्रविभक्तं, अनेकधा) विभक्त हुए अनेक प्रकार से (अपश्यत्, देव-देवस्य, शरीरे) देखता भया देवों के देव के शरीर में (पाण्डवः, तदा) पाण्डव तब ।

अ—तब वहां अर्जुन अनेक प्रकार से विभक्त सारे जगत् को देवों के देव के शरीर में † एक जगह स्थित देखा भया।

संगति—इसप्रकार देखकर अर्जुन ने क्या किया? यह कहते हैं :—

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत। १४

श—(ततः, सः, विस्मय-आविष्टः) तब वह हैरानी से भरा हुआ (हृष्ट-रोमा, धनञ्जयः) खिले हुए रोमों वाला अर्जुन (प्रणम्य,

---

* इस अभूतोपमा (ऐसी उपमा जो कहीं भी है नहीं) से उसकी दीप्ति का अनुपम होना ही जितलाया है । यहां स्यात् सम्भावना में है । यदि ऐसा हो, तो सम्भव है कथञ्चित् सदृश हो, और कोई उपमा बनती ही नहीं ।

† दिव्य नेत्र = मन द्वारा आकाश में देखता भया, जैसा कि श्री भागवत में है "तत्र लब्ध पदं चित्तमाकृष्य कत्रभावयेत् । नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखं ॥ तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् । तच्च त्यक्त्वा मदारोहोनकिञ्चिदपि चिन्तयेत्" (श्री नीलकण्ठ)।

शिरसा, देवं) प्रणाम करके सिर से देव को (कृत-अञ्जलिः, अभाषत) हाथ जोड़े बोलता भया।

अ—तब विस्मय से भरा हुआ अर्जुन, जिसके रोम खिल गये हैं, हाथ जोड़ सिर नवाकर देव को प्रणाम करके बोलता भया।

अर्जुन उवाच—अर्जुन बोला।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्। ब्रह्माणमीशं कमलास-नस्थ मृषींश्चसर्वानुरगांश्च दिव्यान्।१५।

श—(पश्यामि, देवान्, तव, देव, देहे) देखता हूं देवताओं को तेरे हे देव देह में (सर्वान्, तथा, भूत-विशेष-संघान्) सारे तथा भूत विशेषों के समूहों को (ब्रह्माणं, ईशं,कमल-आसन-स्थं) ब्रह्मा स्वामी को कमल के आसन पर स्थित (ऋषीन्, च, सर्वान्) और ऋषि सारे (उरगान्, च, दिव्यान्) और सर्प दिव्य।

अ—देखता हूं हे देव ! तेरे देह में सारे देवताओं को, तथा भूत विशेषों (भिन्न २ जाति के प्राणधारियों) के समूहों को, कमल के आसन पर स्थित (देवताओं के) स्वामी ब्रह्मा को, सारे ऋषियों को, और दिव्य सर्पों* को।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्व-

---

* द्यौ में होने वाले सर्प तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।१।१५। ६) में कहे हैं। यजुर्वेद १३।६—८ में भी कहे हैं। पर इन सर्पों से अभिप्राय क्या है, यह समझ में अभी नहीं आया।

तोऽनन्तरूपम्। नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप। १६

श–(अनेक-बाहु-उदर-वक्त्र-नेत्रं) अनेक भुजा पेट मुख नेत्र वाला (पश्यामि, त्वां, सर्वतः, अनन्त-रूपं) देखता हूं तुझे सब ओर से अनन्त रूपोंवाला (न, अन्तं, न, मध्यं, न, पुनः, तव, आदिं) – न अन्त न मध्य न फिर तेरा आदि (पश्यामि, विश्व-ईश्वर, विश्व-रूप) देखता हूं, हे विश्वपति हे विश्वरूप ।

अ–देखता हूं तुझे अनेक भुजा अनेक पेट अनेक मुख और अनेक नेत्रोंवाला, निदान सब ओर से अनन्त रूपों वाला देखता हूं । हे विश्वपति विश्वरूप न तेरा अन्त देखता हूं न मध्य देखता हूं और न आदि (देखता हूं) ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्। पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं-समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्। १७

श–(किरीटिनं, गदिनं, चक्रिणं, च) मुकुट वाला गदावाला और चक्रवाला (तेजः-राशिं, सर्वतः, दीप्ति-मन्तं) तेज का पुञ्ज सब ओर से चमक वाला (पश्यामि, त्वां, दुर्-निरीक्ष्यं, समन्तात्) देखता हूं तुझे अशक्य देखने को सब ओर (दीप्त-अनल-अर्क-द्युतिं, अप्रमेयं) जलती हुई अग्नि सूर्य की चमक वाले अप्रमेय को ।

अ–तुझे हरएक जगह से चमकता हुआ तेज का पुञ्ज, मुकुट गदा और चक्रवाला, जलती हुई अग्नि और सूर्य की तरह सब

तरफों से चमकता हुआ देखता हूं, जिस रूपकी तर्फ़ आंख नहीं ठहर सक्ती, * और यह रूप ऐसा है यह निश्चय नहीं होसक्ता† ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् । त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे । १८

श–(त्वं, अक्षरं, परमं, वेदितव्यं) तू अविनाशी परम जानने योग्य (त्वं, अस्य, विश्वस्य, परं, निधानं) तू इस विश्व का बड़ा भण्डार (त्वं, अव्ययः, शाश्वत-धर्म-गोप्ता) तू न बदलने वाला नित्य धर्म का रक्षक (सनातनः, त्वं, पुरुषः, मतः, मे) सनातन तू पुरुष माना गया है मुझ से ।

अ–तू परम अक्षर (अविनाशी परमात्मा) जानने योग्य है, तू इस विश्व का परम भण्डार है, तू नित्य धर्म ‡ का सदा एक रूप रहने वाला रक्षक है, मैं तुझे सनातन पुरुष मानता हूं ।

अनादि मध्यान्तमनन्तवीर्यं मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् । पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् । १९

श–(अनादि-मध्य-अन्तं, अनन्त-वीर्यं) नहीं है आदि मध्य

---

* आश्चर्य देखने को अशक्य † आश्चर्य, अप्रमेय=प्रमाण करने को अशक्य ।

‡ नित्य धर्म=वैदिक धर्म (श्रीरामानुज, श्री नीलकण्ठ) ।

अन्त जिसका, अनन्त शक्तिवाले (अनन्त-बाहुं, शशी-सूर्य-नेत्रं) अनन्त भुजाओं वाले चन्द्र सूर्य. नेत्र वाले (पश्यामि, त्वां, दीप्त, हुताश-वक्त्रं) देखता हूं तुझे जलती हुई अग्नि के मुखवाला (स्व-तेजसा, विश्वं, इदं, तपन्तं) अपने तेज से विश्व इसको तपाते हुए।

अ--मैं तुझे ऐसा देखरहा हूं, जिसका आदि अन्त और मध्य नहीं है. जिसकी शक्ति का पारावार नहीं, जिसकी भुजाएं असंख्यात है, जलती हुई अग्नि जिसका मुख*है, जो अपने तेज से इस सारे विश्वको तपा रहा है।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरंहि व्याप्तंत्वयैकेन दिशश्च सर्वाः । दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २०

श--(द्यावा पृथिव्योः, इदं, अन्तरं, हि) द्यौ पृथिवी का यह अवकाश निःसन्देह (व्याप्तं, त्वया,एकेन) घेरा हुआ है तुझ अकेले (दिशः, च, सर्वाः) और दिशाएं सारी (दृष्ट्वा, अद्भुतं, रूपं, उग्रं, तव, इदं) देख कर अद्भुत रूप घोर तेरा यह (लोकत्रयं, प्रव्यथितं, महात्मन्) लोक तीन कांप रहा है हे महात्मन्।

अ--द्यौ और पृथिवी का यह अन्तराल (मध्यभाग) तू ने अकेले घेरा हुआ है और सारी दिशाएं घेरी हुई हैं,तेरा यह अद्भुत घोर रूप देख कर हे महात्मन् त्रिलोकी कांप रही है।

अमीहि त्वांसुरसंघाविशन्ति केचिद्भीताः

*अग्निंय१चक्र अस्यं = अग्निको जिसने मुख बनायाहै (अथर्व०)

प्राञ्जलयोगृणन्ति। स्वस्तीत्युक्त्वामहर्षिसिद्ध संघाः स्तुवंति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥

श–(अमी, हि, त्वां, सुर-संघाः, विशन्ति) यह तुझे देवताओं के समूह प्रवेश कर रहे हैं (केचित्, भीताः,प्राञ्जलयः, गृणन्ति)कई डरे हुए हाथ जोड़े स्तुति कर रहे हैं (स्वस्ति, इति, उक्त्वा, महर्षि सिद्ध-संघाः) स्वस्ति यह कह कर महर्षि सिद्धों के समूह (स्तुवन्ति, त्वां, स्तुतिभिः, पुष्कलाभिः) स्तुति करते हैं तुझे स्तुतियों पुष्कलों से ।

अ–यह देवताओं के समूह तुझ में प्रवेश कर रहे हैं, कई भयभीत हुए हाथ जोड़े स्तुति कर रहे हैं, महर्षि और सिद्धों के समूह पुष्कल (बड़ी बड़ी) स्तुतियों से तेरी स्तुति कर रहे हैं ।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च। गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

श—(रुद्र-आदित्याः, वसवः, ये, च, साध्याः) रुद्र आदित्य वसु और जो साध्य (विश्वे,अश्विनौ, मरुतः, च, ऊष्मपाः, च) विश्वे अश्वि मरुत और पितर (गन्धर्व-यक्ष-असुर-सिद्ध-संघाः) गन्धर्वों यक्षों असुरों सिद्धों के समूह (वीक्षन्ते, त्वां, विस्मिताः, च, एव, सर्वे) देख रहे हैं तुझे हैरान हुए ही सारे ।

अ—रुद्र आदित्य वसु साध्य विश्वदेव अश्वि मरुत और पितर गन्धर्वों यक्षों असुरों और सिद्धों के समूह सारे ही विस्मित

हुए तुझे निहार रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्। बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम्। २३

श–(रूपं, महत्, ते) रूप बड़ा तेरा (बहु-वक्त्र-नेत्रं) बहुत मुख नेत्रोंवाला (महा-बाहो, बहु-बाहु-ऊरु-पादं) हे महाबाहो बहुत रानों पाओं वाला (बहु-उदरं, बहु-दंष्ट्रा-करालं) बहुत पेटोंवाला बहुत दाढ़ों से विकराल (दृष्ट्वा, लोकाः, प्रव्यथिताः, तथा, अहं) देखकर लोक कांप रहे हैं तथा मैं।

अ–हे महाबाहो! तेरा यह महत्‌रूप जो बहुत मुखों और नेत्रोंवाला बहुत उरुओं (रानों) और पादों वाला, बहुत उदरों वाला और बहुत दाढ़ों (जबड़ों)से विकराल है। ऐसे तेरे रूपको देखकर सारे लोक कांप रहे हैं तथा मैं कांप रहा हूं।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्। दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो २४

श–(नभः-स्पृशं, दीप्तं, अनेक-वर्णं) आकाश को छुए हुए चमकते हुए अनेक रंगोंवाले (व्यात्त-आननं, दीप्त-विशाल-नेत्रं) खुले मुखों वाले चमकते हुए विशाल नेत्रों वाले को (दृष्ट्वा, हि, त्वां, प्रव्यथित-अन्तरात्मा) देखकर तुझको दहल गया है अन्तरात्मा जिसका (धृतिं, न, विन्दामि, शमं, च, विष्णो) धैर्य को नहीं पाता हूं और शान्ति को हे विष्णो।

अ-हे विष्णो ! तुझे चमकता हुआ आकाश को छुआ हुआ भान्ति २ के रंगोंवाला, खुले हुए मुखों वाला, चमकते हुए विशाल नेत्रोंवाला, देखकरके मेरा अन्तरात्मा (मन) दहलगया है, मुझे धीरज और शान्ति नहीं आती है।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि। दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास। २५

श-(दंष्ट्रा-करालानि, च, ते, मुखानि) और जबड़ों से विकराल तेरे मुखों को (दृष्ट्वा, एव, काल-अनल-सन्निभानि) देख कर ही काल अग्नि के तुल्य (दिशो, न, जाने, न, लभे, च, शर्म) दिशाओं को नहीं जानता हूं और न पाता हूं शर्म=पनाह (प्रसीद, देव-ईश, जगत्-निवास) प्रसन्न हो हे देवताओं के मालिक हे जगत् के निवास=रहने के घर।

अ-(प्रलय) काल के अग्नि के तुल्य,जबड़ों (दाढ़ों) से विकराल तेरे मुखों को देखकर न दिशाओं को जानता हूं, न (कहीं) शरण पाता हूं, प्रसन्न (मेहरबान)! हो हे देवताओं के मालिक हे जगत् के निवास (रहने के घर)।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः। भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः। २६

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरा-

लानि भयानकानि। केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः। २७

श–(अमी, हि, त्वां, धृत-राष्ट्रस्य, पुत्राः) यह तुझे धृतराष्ट्र के पुत्र (सर्वे, सह, एव, अवनि-पाल-संघैः) सारे साथ ही राजाओं के समूहों के (भीष्मः, द्रोणः, सूत-पुत्रः, तथा, असौ) भीष्म द्रोण सूत का पुत्र तथा वह (सह, अस्मदीयैः, अपि, योध-मुख्यैः) सहित हमारे भी योधों के मुख्यों के । २६ । (वक्त्राणि, ते, त्वरमाणाः, विशन्ति) मुखों में तेरे जल्दी करते हुए प्रवेश कर रहे हैं (केचित्, विलग्नाः, दशन-अन्तरेषु) कई लटकते हुए दान्तों के अन्तरालों में (संदृश्यन्ते, चूर्णितैः, उत्तम-अङ्गैः) दीखते हैं चूर्ण हुए सिरों से । २७ ।

अ–यह धृतराष्ट्र के पुत्र सभी (अपने साथी) राजों के समूहों के साथ ही, तथा भीष्म द्रोण और वह (प्रसिद्ध) सूत का पुत्र (कर्ण), हमारे भी मुख्य योधों के साथ ही जल्दी करते हुए तेरे मुखों में प्रवेश कर रहे हैं, कई दान्तों के अन्तरालों (बीच के छेदों) में चूरा चूरा हुए सिरों के साथ लटकते हुए दीख रहे हैं। *

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति। तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति। २८

---

* जब विश्वास से भरा हुआ अन्तरात्मा विराट आत्मा में लीन होकर भविष्यत् बातको सामने लाता है, तो वह प्रत्यक्ष होती सा दीखती है, यह हमारा अपना अनुभव है और यह आश्चर्य है, कि वह ठीक होजाती है ।

श०—(यथा, नदीनां, बहवः, अम्बु-वेगाः) जैसे नदियों के बहुत से जल के प्रवाह (समुद्रं, एव, अभिमुखाः, द्रवन्ति) समुद्र के ही अभिमुख दौड़ते हैं (तथा, तव, अमी, नरलोक-वीराः,) वैसे तेरे यह मनुष्य लोक के वीर (विशन्ति, वक्त्राणि, अभिविज्वलन्ति) प्रवेश करते हैं मुखों धधकते हुओं में।

अ—जैसे नदियों के बहुत से जल के प्रवाह समुद्र की तर्फ ही मुख किये हुए दौड़ते हैं, वैसे यह नरलोक के वीर तेरे ही धधकते हुए मुखों में प्रवेश करते हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः। तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।२९

श—(यथा, प्रदीप्तं, ज्वलनं, पतङ्गाः) जैसे जलती हुई अग्नि में पतङ्गे (विशन्ति, नाशाय, समृद्ध-वेगाः) प्रवेश करते हैं नाश के लिये पूरे वेग वाले (तथा, एव, नाशाय, विशन्ति, लोकाः) वैसे ही नाश के लिये प्रवेश करते हैं लोक (तव, अपि, वक्त्राणि, समृद्ध-वेगाः) तेरे भी मुखों में पूरे वेग वाले।

अ—जैसे पतंगे अपने नाश के लिये पूरे वेग के साथ जलती हुई अग्नि में प्रवेश करते हैं, वैसे ही यह लोक भी अपने नाश के लिये पूरे वेग के साथ तेरे मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। *

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः। तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं

* बिन जाने प्रवेश में नदी का दृष्टान्त है और जानबूझकर प्रवेश में पतंगों का दृष्टान्त है।

भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

श–(लेलिह्यसे, ग्रसमानः, समन्ताद्) चाट रहा है निगलता हुआ चारों ओर से (लोकान्, समग्रान्, वदनैः, ज्वलद्भिः) लोक सारों को मुख जलते हुओं से (तेजोभिः, आपूर्य, जगत्, समग्रं) तेज से भरकर जगत् सारे को (भासः,तव,उग्राः, प्रतपन्ति, विष्णो) चमकें तेरी उग्र तपाती हैं हे विष्णो !

अ–चारों तर्फ से जलते हुए मुखों से सारे लोगों को निगलता हुआ (अग्नि की जिव्हा से तू उनको) चाट रहा है, तेरी उग्रकिरणें हे विष्णो ! सारे जगत् को तेजसे भरकर तपा रही हैं ।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद । विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

श–(आख्याहि, मे, कः, भवान्, उग्ररूपः) कहो मुझे कौन आप उग्ररूप (नमः, अस्तु, ते, देववर, प्रसीद) नमस्कार हो तुझे हे देववर प्रसन्न हो (विज्ञातुं, इच्छामि, भवन्तं, आद्यं) जानना चाहता हूं आप आद्यको (न, हि, प्रजानामि, तव प्रवृत्ति) नहीं जानता हूं तेरी प्रवृत्ति को ।

अ–कहो (प्रकट करो) आप यह उग्ररूप कौन हैं ? तुझे नमस्कार हो हे देववर ! कृपा कर, मैं तुझ आद्य पुरुष को जानना चाहता हूं, तेरी प्रवृत्ति को नहीं जानता हूं* ।

---

* यह उग्ररूप किस निमित्त को लेकर धारण किया है, तुम्हारी इस प्रवृत्ति को मैं नहीं जनता हूं ॥

संगति–अर्जुन से पूछा हुआ अपना स्वरूप और अपनी प्रवृत्ति बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच=श्री भगवान् बोले।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्तिसर्वेयेऽवस्थिताःप्रत्यनीकेषुयोधाः।३२

श–(कालः, अस्मि, लोक-क्षय-कृत,प्रवृद्धः) काल हूं लोगों का यक्ष करने वाला बढ़ाहुआ (लोकान्, समाहर्तुं, इह, प्रवृत्तः) लोगों को समेटने के लिये यहां प्रवृत्त हुआ (ऋते, अपि, त्वां, न, भविष्यति, सर्वे) बिना भी तेरे न होगें सारे (ये,अवस्थिताः, प्रत्यनीकेषु, योधाः) जो खड़े हैं मुक़ाबिल सेनाओं में योधे।

अ–मैं बढा हुआ काल हूं लोगों का क्षय करने वाला, लोगों को समेटने के लिये यहां प्रवृत्त हुआ हूं, बिना भी तेरे यह योधे जो मुक़ाबिलमें खड़े हैं, नहीं रहेंगे (तू नहीं भी मारेगा, तौ भी यह मुझ कालात्मा से निगलेजाएंगे)

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्। मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥३३॥

श–(तस्मात, त्वं, उत्तिष्ठ) इस लिये तू उठ (यशः,लभस्व) यश लाभकर (जित्वा, शत्रून्, भुङ्क्ष्व, राज्यं, समृद्धं) जीतकर शत्रुओं को भोग राज्य धनका भरा हुआ (मया, एव, एते, निहताः, पूर्वं, एव) मुझ से ही यह मारे गए हैं पहले ही (निमित्तमात्रं,

भव, सव्य- साचिन्) निमित्त मात्र हो हे वाएं से जोड़ने वाले ।

अ—इस लिये तू, उठ यश को लाभकर, शत्रुओं को जीत-कर धन से भरे हुए राज्य को भोग, मैंने ही यह पहले ही मारडाले हुए हैं, हे वाएं से चलाने वाले* तू निमित्त मात्र हो† ।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथा-न्यानपि योधवीरान् । मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठायुद्ध्यस्वजेतासिरणेसपत्नान् ३४॥

श—(द्रोणं, च, भीष्मं, च, जयद्रथं, च, कर्णं) द्रोण भीष्म जयद्रथ और कर्ण (तथा, अन्यान्, अपि, योध-वीरान्) वैसे और भी योधा वीरोंको (मया, हतान्, त्वं, जहि) मुझ से मारे हुओं को तू मार (मा, व्यथिष्ठाः) मत डर (जेतासि, रणे, सपत्नान्) जीतेगा रण में शत्रुओं को ।

अ—द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, और कर्ण तथा और भी जो वीर योधे यहां है, सब मुझ से मारे हुए हैं‡ इन को तू मार, मत डर§ निःसंदेह रण में तू शत्रुओं को जीतेगा ।

संगति—भगवान् के ऐसा कहने पर पीछे क्या हुआ, इस अपेक्षा में—

---

*बाएं हाथ से भी बाणों को ठीक २ चलाने से अर्जुन को सव्यसाची कहते हैं। †" पापियों के मारने को पाप महाबली है" सो जब उनके दिन मरने के आते हैं तो भगवान् ने जिसको यश दिलाना होता है वह उनके मारने का निमित्त बन जाता है, अन्यथा मरना उनका उसके विना भी अटल है ।

§ अधर्मी भगवान् से ही मारे हुए हैं। ‡अथवा मत डोल कि हमारा जय होगा, वा उनका, निः सन्देह तुम्हारा ही जय होगा यह तो मारे ही पड़े हैं ॥

संजय उवाच=संजय बोला।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी। नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

श–(एतत्, श्रुत्वा, वचनं, केशवस्य) यह सुन कर वचन कृष्ण का (कृत-अञ्जलिः, वेपमानः, किरीटी) हाथ जोड़ कांपता हुआ मुकुटधारी (नमस्, कृत्वा, भूयः, एव, आह) झुक करके फिर ही कहने लगा (स-गद्गदं, भीत-भीतः, प्रणम्य) गद्गवाणी से डरता २ प्रणाम करके।

अ–कृष्ण के इस वचन को सुनकर मुकुटधारी (अर्जुन) कांपता हुआ हाथ जोड़ झुककर प्रणाम करके डरता २ गद्गद* वाणी से फिर कृष्ण को कहने लगा।

अर्जुन उवाच=अर्जुन बोला।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च। रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

श–(स्थाने हृषीक-ईश, तव, प्रकीर्त्या) युक्त हे इन्द्रियों के मालिक तेरे कीर्तन से (जगत्, प्रहृष्यति, अनुरज्यते, च) जगत् हर्ष को प्राप्त होता है और अनुराग को प्राप्त होता है (रक्षांसि, भीतानि, दिशः, द्रवन्ति) राक्षस डरे हुए दिशाओं को भागते हैं

---

* हर्ष और भय के मेल से कांपते हुए कण्ठ की वाणी गद्गद वाणी।

(सर्वे, नमस्यन्ति, च, सिद्ध-संघाः) और सारे नमस्कार से करते हैं सद्धों के समूह ।

अ—हे हृषीकेश तेरे (नाम वा माहात्म्य के) कीर्तन से (न केवल मैं ही किन्तु यह सारी ही) जगत् जो हर्ष को प्राप्त होता है, और (तुझ में) अनुराग को प्राप्त होता है, और राक्षस डरते हुए चारों तर्फ भागे जाते हैं, और सिद्ध समूह नमस्कार करते हैं, यह सब युक्त है (आश्चर्य नहीं)।

संगति—ऊपर कही युक्तता ही उपपादन करते हैं—

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे । अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३ ॥

श—(कस्मात्, च, ते, न, नमेरन्, महा-आत्मन्) क्योंकर वह न नमस्कार करें हे महात्मन् (गरीयसे, ब्रह्मणः, अपि, आदि-कर्त्रे) आदि गुरु ब्रह्मा के भी आदि कर्ता के लिये (अनन्त, देव-ईश, जगत्-निवास) हे अनन्त हे देवों के मालिक हे जगत् के निवास (त्वं, अक्षरं, सत्, असत्, तत्, परं, यत्) तू अविनाशि व्यक्त अव्यक्त वह पर जो।

अ—क्योंकर तुझे वह नमस्कार न करें हे महात्मन् ! तू जो आदि गुरु और ब्रह्म का भी आदि कर्ता है, हे अनन्त ! हे देवेश हे जगत् के निवास ! तू अविनाशि है, तू व्यक्त अव्यक्त है, और वह जो पर (सब से परे, सब से ऊंचा) है, वह तू है* ।

---

* प्रायः टीकाकारों ने "तत्परं" एक पद मान कर उससे परे अर्थात् व्यक्त अव्यक्त से परे अर्थ किया है ।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्। वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

श–(त्वं, आदि-देवः, पुरुषः, पुराणः,) तू आदिदेव पुरुष पुराना (त्वं, अस्य, विश्वस्य, परं, निधानं,) तू इस विश्वका ऊंचा भंडार (वेत्ता, असि, वेद्यं,च,परं, च, धाम) जानने वाला है जानने योग्य और परम धाम (त्वया, ततं, विश्वं, अनन्त-रूप) तुझ से व्याप्त विश्व हे अनन्त रूपों वाले।

अ–तू आदि देव है, तू पुराण पुरुष है, तू इस विश्व का ऊंचा भण्डार है, तू जानने वाला है और जानने योग्य है, तू परम धाम (सब से ऊंचा रहने का स्थान) है, हे अनन्त रूपों वाले! सारा विश्व तुझ से व्याप्त है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च। नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते। ३९

श–(वायुः, यमः, अग्निः वरुणः, शश-अङ्कः) वायु यम अग्नि वरुण चन्द्रमा (प्रजा-पतिः, त्वं, प्र-पितामहः, च) प्रजापति तू और प्रपितामह (नमः, नमः, ते, अस्तु, सहस्र-कृत्वः) नमो नमो तुझे हो हजार वार करके (पुनः, च, भूयः, अपि, नमः, नमः, ते) और फिर २ भी नमो नमो तुझे।

अ–तू वायु है, यम है, अग्नि,है, वरुण है, चन्द्रमा है, प्रजापति

है, और तू (सब का) प्रपितामह* है, नमस्कार नमस्कार तुझे हजार बार नमस्कार हो, और फिर २ † तुझे नमस्कार हो।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व। अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः। ४०

श--(नमः, पुरस्तात्, अथ, पृष्ठतः, ते) नमस्कार सामने से और पीठ से तुझे (नमः, अस्तु, ते, सर्वतः, एव, सर्व) नमस्कार हो तुझे सब ओर से ही हे सबकुछ (अनन्त-वीर्य-अमित-विक्रमः,-त्वं) अनन्त समर्थवाला और अपरिमित पराक्रमवाला तू (सर्वं, समाप्नोषि, ततः, असि, सर्वः) सब को थामता है इसलिये है सब।

अ--सामने से तुझे नमस्कार है पीछे से तुझे नमस्कार है! हे सर्वरूप सब तर्फ से तुझे नमस्कार है, हे अनन्त सामर्थ्य वाले। हे अपरिमित (न मापे हुए) पराक्रम वाले * तू सब की टेक है, इसलिये सब कुछ तुही है।

संगति--अब भगवान् से अपनी भूलें क्षमा करवाते हैं:-

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति। अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि। ४१

---

* प्रजापति=ब्रह्मा अथवा पिता। प्रपितामह=परदादा। अर्थात् पितामह=ब्रह्मा, उसका भी पिता। † श्रद्धा और भक्ति के अतिशय से नमस्कार में अपनी अतृप्ति दिखलाता है।

* सामर्थ्य वाला होकर भी कोई शत्रु आदि के विषयमें पराक्रम नहीं दिखला सका, वा थोड़े पराक्रम वाला होता है, तू तो अनन्त सामर्थ्य वाला और अपरिमित पराक्रम वाला है।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु । एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

श—(सखा, इति, मत्वा) सखा यह जानकर (प्रसभं, यत्, उक्तं) दवाव से जो कहा है (हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे, इति) हे कृष्ण हे यादव हे सखे यह (अजानता, महिमानं, तव, इदं) न जानते हुए ने महिमा तेरी यह (मया, प्रमादात् प्रणयेन, वा, अपि) मैंने प्रमाद से वा प्रेम से भी । ४१ । (यत्, च, अवहास-अर्थं) और जो हंसी के लिये (असत्कृतः, असि) अनादर किया गया है (विहार-शय्या-आसन-भोजनेषु) खेलने लेटने बैठने खाने में (एकः, अथवा, अपि, अच्युत, तत्-समक्षं) अकेला अथवा भी हे अच्युत उनके सामने (तत्, क्षामये, त्वां, अहं, अप्रमेयं) वह क्षमा करवाता हूं तुझ मैं अप्रमेय को ।

अ--तू मेरा सखा है, ऐसा जानकर जो तुझे मैंने दवाव (अविनय,गुस्ताखी) से हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे कहा है, यह तेरी महिमा न जानते हुए मैंने प्रमाद (बेपरवाही) से वा प्रेम से भी (ऐसा किया है) । ४१ । और जो खेलने बैठने (उठने) लेटने वा खाने (पीने) में उपहास के अर्थ (दिल्लगी की खातिर) तेरा अकेले वा उनके (अपने मित्रों के) सामने अनादर किया है, वह तुझ अप्रमेय (अचिन्त्य प्रभाव वाले) से क्षमा करवाता हूं ।

संगति--अचिन्त्य प्रभाव ही कहता है—

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् । न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः

कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

श-(पिता, असि, लोकस्य, चर-अचरस्य) पिता है लोक चर अचर का (त्वं, अस्य, पूज्यः, च, गुरुः, गरीयान्) और तू इस का पूज्य गुरु गुरुतर (न, त्वत्-समः, अस्ति, अभ्यधिकः, कुतः, अन्यः) नहीं तेरे बराबर है बढ़कर कहां दूसरा (लोक-त्रये, अपि, अप्रतिम-प्रभाव) त्रिलोकी में भी हे अतुलप्रतापवाले ।

अ-हे अतुल प्रताप वाले ! तू इस चर अचर लोक का पिता है, तू इस का पूज्य गुरु आदिगुरु है, तीनों लोकों में तेरे बराबर दूसरा नहीं, बढ़कर कहां ।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ! पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥४४॥

श-(तस्मात्, प्रणम्य, प्रणिधाय, कायं) इस लिये प्रणाम करके झुकाकर शरीर को (प्रसादये, त्वां, अहं, ईशं, ईड्यं) प्रसन्न करता हूं तुझ को मैं मालिक स्तुति के योग्य को (पिता इव, पुत्रस्य, सखा, इव, सख्युः) पिता जैसे पुत्रकी सखा जैसे सखा की (प्रियः, प्रियाय, अर्हसि, देव, सोढुं) प्यारा प्यारे के लिये योग्य है देव सहारने ।

अ-इस लिये शरीर को झुकाकर प्रणाम करके तुझ स्तुति के योग्य मालिक को प्रसन्न करता हूं । हे देव ! जैसे पिता पुत्र की जैसे सखा सखा की (भूल चूक सहारता है) वैसे तू जो मेरा

प्यारा है अपने प्यारे के लिये* सहारने योग्य है।

संगति—इस प्रकार क्षमा कराके प्रार्थना करता है—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे। तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

श—(अदृष्ट-पूर्वं, हृषितः, अस्मि, दृष्ट्वा) पूर्व न देखे हुए को हर्षित हुआ हूं देख कर (भयेन, च, प्रव्यथितं, मनः, मे) और भय से डर रहा है मन मेरा (तत्, एव, मे, दर्शय, देव, रूपं) वही, मुझे दिखला हे देव रूप (प्रसीद, देव-ईश, जगत्-निवास) प्रसन्न हो हे देवों के मालिक हे जगत् के निवास।

अ—पहले न देखे हुए तेरे (रूप) को देखकर हर्षित हुआ हूं, पर (तेरी रुद्र मूर्ति को देखकर) मेरा मन भय से कांप रहा है, हे देव वही पहले का सा (सौम्य) रूप मुझे दिखला, प्रसन्न हो हे देवेश! हे जगन्निवास।

संगति—उसी रूप को विशेषित करके कहते हैं—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि

*कई एक व्याख्याकारों ने यह तीसरा भी दृष्टान्त ही लिया है कि जैसे प्यारा प्यारी के अपराधों को सहारता है। पर "प्रियायार्हसि" इस पाठ से यह बात नहीं निकलती, यह तब ठीक होता यदि "प्रियाया इवार्हसि" होता। सो उन्होंने यहां आर्ष सन्धि मान और इव का लोप मान यथाकथञ्चित् इस को लगाया है पर यहां बिना बनावट के अर्थ में गौरव है, और यूं तो इसी में ही सच्चा गौरव है।

त्वां द्रष्टुमहं तथैव । तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श–(किरीटिनं, गदिनं, चक्र-हस्तं) मुकुटवाला गदा वाला चक्र हाथ में वाला (इच्छामि, त्वां, द्रष्टुं, अहं, तथा, एव) चाहता हूं तुझे देखना मैं वैसा ही (तेन, एव, रूपेण चतुर्-भुजेन) उसी रूप चार भुजावाले से (सहस्र-बाहो, भव, विश्वमूर्ते) हजार भुजा वाले हो विश्व मूर्ति वाले।

अ–वैसे ही तुझे मुकुट वाला गदावाला और हाथ में चक्र वाला देखना चाहता हूं, उसी चतुर्भुजरूप से हो हे सहस्रबाहो हे विश्वमूर्ते !*

संगति–इसप्रकार प्रार्थना कियेहुए उसको तसल्ली देते हैं:—

मयाप्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परंदर्शित-

---

*विश्वरूप दर्शन में अर्जुन ने विराट् के दोनों रूपों को देखा है सौम्य और रुद्र। सौम्य रूप का वर्णन 'ब्रह्माणमीशं' (१५) और 'किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च' (१७) इत्यादि से किया है। पर युद्ध में मरने मारने को सामने आए हुए योधों के मध्य में समयोचित भावना के अनुसार अर्जुन के दर्शन में रुद्र रूप की ही विशेषता रही है, इस रूप को देखकर उसका मन घबराया है, और फिर सौम्यरूप दर्शन के लिये प्रार्थना करता है, वह सौम्यरूप 'किरीटिनं गदिनं' इत्यादि अलंकार से वर्णनकिया है, अर्थात् रक्षा में प्रवृत्त राजा के रूप में मुकुट धारण किये, गदा चक्र हाथ में लिये, चारों भुजाओं के बीच चारों दिशाओं को शरण (पनाह) देते हुए प्रकट होवो। सहस्र बाहु की तरह चतुर्भुज शब्द भी आलंकारिक है, चतुर्भुज से चारों दिशाओं की रक्षा करता हुआ अभिप्रेत है, वेद (ऋग० १० । ८१ । ३) में 'विश्वतोबाहुः' = सब ओर भुजाओं वाला, शब्द से यही आशय अभिप्रेत है।

मात्मयोगात् । तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् । ४७

श–(मया, प्रसन्नेन, तव, अर्जुन) मैंने प्रसन्न हुए तुझे हे अर्जुन (इदं, रूपं, परं, दर्शितं, आत्म-योगात्) यह रूप उत्तम दिखलाया है अपने योग से (तेजोमयं, विश्वं, अनन्तं, आद्यं) तेजोमय विश्व अनन्त आद्य (यत्, मे, त्वत्-अन्येन, न, दृष्ट-पूर्वं) जो मेरा तुझ से भिन्न ने नहीं देखा हुआ पहले ।

अ–हे अर्जुन ! तेरे ऊपर प्रसन्न हुए (मेहरबान हुए) मैंने यह रूप अपने योग (योग के सामर्थ्य) से तुझे दिखलाया है जो तेजोमय सर्वरूप अनन्त और आद्य (सब का कारण) है, जो मेरा रूप तेरे विना * किसी ने पहले नहीं देखा है ।

संगति–यह दर्शन जो अतिदुर्लभ है, इसको पाकर तू कृतार्थ होगया है, यह कहते हैं :—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः । एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर । ४८

श–(न, वेद, यज्ञ-अध्ययनैः, न, दानैः) न वेद यज्ञों के अध्ययन से, न दानों से (न, च, क्रियाभिः, न, तपोभिः, उग्रैः) और न क्रियाओं से न तप उग्रों से (एवं-रूपः, शक्यः, अहं, नृ-लोके) इस रूप वाला शक्य मैं मनुष्यलोक में (द्रष्टुं, त्वत्-अन्येन, कुरु-प्रवीर) देखना तुझ से भिन्न से हे कुरुओं में श्रेष्ठ ।

---

* यहां 'तेरे विना' यह नियम लिये नहीं कहा, किन्तु लाखों में एक की योग्यता दिखलाने के लिये है, तेरे जैसे किसी बिरले ने ही देखा है, अन्य किसी ने नहीं ।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्। व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

श–(मा, ते, व्यथा, मा, च, विमूढभावः) मत तुझे भय और मत घबराहट (दृष्ट्वा, रूपं, घोरं, ईदृक्, मम, इदं) देखकर रूप भयङ्कर ऐसा मेरा (व्यपेत-भीः, प्रीत-मनाः, पुनः, त्वं) दूर हुए भय वाला प्रसन्न मन वाला फिर तू (तव, एव, मे, रूपं, इदं, प्रपश्य) वही मेरा रूप यह देख।

अ–मेरे ऐसे भयङ्कर रूप को देखकर मत तुझे भय हो और मत घबराहट हो। भय को परे फैंककर प्रसन्न मन हो फिर मेरे उसी इस रूप को देख।

सञ्जय उवाच—सञ्जय बोले।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः। आश्वासयामास च भीत-

---

*भगवान् की कृपा से उस के दर्शन होते हैं "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" यह आत्मा न वेद पढ़ने से, न मेधा (दानाई) से, न बहुत सुनेन से पाया जासक्ता है, जिसको वह आप चुन लेता है, वही उसे पाता है (मुण्ड० ६। २। ३) अभिप्राय यह है, कि उसके दर्शन उसी की कृपा से होते हैं, और भक्ति ही कृपा का पात्र बनाती है। भक्ति से हीन पुरुष को वेद यज्ञादि वहां नहीं पहुंचाते। किसी भी तप व्रत का उन तक पहुंचाने में समर्थ नहीं, उसी के हो रहने से वह आपही खींच लेते हैं। (यह टिप्पनी पिछले ४८ वें श्लोक की है)

मेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

श--(इति, अर्जुनं, वासुदेवः; तथा, उक्त्वा) यह अर्जुन को कृष्ण वैसे कहकर (स्वकं, रूपं, दर्शयामास, भूयः) अपना रूप दिखलाता भया फिर (आश्वासयामास, च, भीतं, एनं) और धीरज देता भया डरे हुए इसको (भूत्वा, पुनः, सौम्य-वपुः, महात्मा) होकर फिर सौम्य शरीर वाला महात्मा ।

अ--इसप्रकार अर्जुन को श्रीकृष्ण वैसे कहकर फिर अपना रूप दिखलाते भये, और फिर सौम्य शरीर होकर वह महात्मा डरे हुए अर्जुन को धीरज देते भये ।

संगति--तब निर्भय हुआ :—

अर्जुन उवाच—अर्जुन बोला ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः । ५१

श--(दृष्ट्वा, इदं, मानुषं, रूपं, तव, सौम्यं, जनार्दन) देखकर इस मानुष रूप तेरे सौम्य को हे जनार्दन ! (इदानीं, अस्मि, संवृत्तः अब हूं हुआ (स-चेताः, प्रकृतिं, गतः) होशवाला प्रकृति को प्राप्त हुआ ।

अ--हे जनार्दन ! तेरे इस सौम्य (शान्त) मानुषरूप को देखकर अब प्रसन्न चित्त हुआ हूं और अपनी प्रकृति को प्राप्त हुआ हूं ।

संगति--भगवान् का ऐसा अनुग्रह, जैसा अर्जुन पर हुआ है, बड़ा दुर्लभ है, यह दिखलाते हुए :—

श्री भगवानुवाच=श्री भगवान् बोले।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम। देवा-अप्यस्य रूपस्य नित्यंदर्शनकाङ्क्षिणः ५२

श--(सु-दुर्दर्श, इदं, रूपं, दृष्टवान्, असि, यत्, मम) बड़ा कठिन देखना यह रूप देखा है जो मेरा (देवाः, अपि, अस्य रूपस्य, नित्यं, दर्शन-काङ्क्षिणः) देवता भी इस रूप के नित्य दर्शनाभिलाषी।

अ--यह मेरा रूप जो तूने देखा है, इसका देखना बड़ा कठिन है।सचमुच देवता भी इसरूप के नित्य दर्शनाभिलाषी*हैं।

संगति--४८ में कहे हुए अर्थ को ही फिर कहते हैं–विश्वरूप दर्शन की बड़ी दुर्लभता दिखलाने के लिये :—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥५३

श--(न, अहं, वेदैः, न, तपसा, न, दानेन, न, च, इज्यया) न मैं वेदों से न तप से न दान से और न यज्ञ से (शक्यः, एवं-विधः, द्रष्टुं) शक्य इसप्रकार का देखना (दृष्टवान्, असि, मां, यथा) देखा है मुझे जैसे।

अ--न वेदों से न तप से न दान से न यज्ञ से इसप्रकार का मैं देखा जासक्ता हूं † जैसा तूने मुझे देखा है।

---

* देवता इसरूप को नित्य २ देखना चाहते हैं, कभी तृप्त नहीं होते।

† भक्ति हीन थोथे वेदादि से भगवान् नहीं मिलते हैं :—

संगति--तब किस उपाय से देखे जासक्ते हो, इस पर कहते हैं :—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ५४

श--(भक्त्या, तु, अनन्या, शक्यः) भक्ति किन्तु अनन्य से शक्य (अहं, एवं-विधः, अर्जुन) मैं इसप्रकार का हे अर्जुन (ज्ञातुं, द्रष्टुं, च, तत्त्वेन, प्रवेष्टुं, च, परंतप) जाना और देखा तत्त्व से और प्रवेश किया हे शत्रुतापन ।

अ--किन्तु हे परन्तप अर्जुन ! केवल अनन्य भक्ति से मैं इसप्रकार का तत्त्व से जाना देखा और प्रवेश किया जासक्ता हूं* ।

संगति—भक्ति का स्वरूप दिखलाते हैं :—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।५५

श--(मत्-कर्म-कृत्, मत्-परमः) मेरे लिये कर्म करनेवाला मैं जिसका परम (मद्-भक्तः, सङ्ग-वर्जितः) मेरा भक्त लगाव से अलग (निर्-वैरः, सर्व-भूतेषु) निर्वैर सब भूतों में (यः, सः, मां एति, पाण्डव) जो वह मुझे प्राप्त होता है हे पाण्डव ॥

अ--वह जो मेरे लिये कर्म करता है, जिसका उद्देश्य मैं हूं, †

---

* शास्त्र से यथार्थ जानना, प्रत्यक्ष देखना और फिर उसमें प्रवेश करना=मुक्त होना ।

† इस से स्पष्ट है "नाहं वेदैर्न दानैः" का यह अभिप्राय नहीं, कि वेद दानादि को त्याग दे, किन्तु अन्य फलों की कामना

जो मेरा भक्त है, (पुत्रादियों में) सङ्ग से रहित है, सब भूतों में निर्वैर है वह मुझे प्राप्त होता है हे पाण्डव !

इति श्रीमद्भगवद्गीता० विश्वरूपं दर्शनयोगोनामैकादशोऽध्यायः ।

संगति--इस अध्याय में अव्यक्त की उपासना से विराट् की उपासना को उत्तम दिखलाकर, उसका उपाय दिखलायेंगे :—

ब्रह्मके दो रूप हैं, अव्यक्त और व्यक्त वा शुद्ध और शबल। शबल का वर्णन व्यष्टिरूप से दसवें में और समष्टिरूप से ग्यारहवें में हुआ है। ग्यारहवें में विश्वरूप भगवान् का अर्जुन को साक्षात् दर्शन कराकर, फिर उसकी अनन्य भक्ति की तर्फ प्रेरणा की है। पर अर्जुन जानता है, कि इस व्यक्तरूप से अव्यक्तरूप परे है, वही परमगति, पूर्व (८। २०, २१ में) कही है, यहां उसकी उपासना के लिये प्रेरणा क्यों नहीं की, यह भाव हृदय में रखकर बड़े विनीत भाव से—

अर्जुन उवाच = अर्जुन बोला

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः । १

श--(एवं, सतत-युक्ताः, ये, भक्ताः) इसप्रकार सदा युक्त हुए जो भक्त (त्वां, परि उपासते) तुझे पूरा उपासते है (ये, च, अपि

त्यागकर केवल परमात्मा के लिये करे, तभी परमात्मा के दर्शन मिलते हैं। इस श्लोक को श्री शंकराचार्य्य जी गीता शास्त्र का सार बतलाते हैं, और अर्थ यही कहते हैं, कि मेरे लये कर्म करनेवाला हो। इस से स्पष्ट प्रतीत है, कि कर्म का त्याग भगवान् कृष्ण को अभिप्रेत नहीं॥

अक्षरं, अव्यक्तं) और जो भी अक्षर अव्यक्त को (तेषां, के, योग-वित्तमाः) उनमें से कौन बढ़कर योग के जानने वाले ।

अ--इसप्रकार सदा युक्त हो जो भक्त तुझे (विश्वरूप को) उपासते हैं, और जो अविनाशी अव्यक्त को उपासते हैं, उनमें से कौन बढ़कर योग के जानने वाले हैं ।

संगति--अव्यक्त की अपेक्षा (व्यक्तरूप) की उपासना आसान होने से और फल में त्रुटि न होने से व्यक्तोपासना की) श्रेष्ठता दिखलाते हुए :—

श्री भगवानुवाच—श्री भगवान् बोले ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्तेमे युक्ततमा मताः । २

श--(मयि, आवेश्य, मनः, ये) मुझ में लगाकर मन को जो मां, नित्य-युक्ताः, उपासते) मुझे नित्य युक्त हुए उपासते हैं श्रद्धया, परया, उपेताः) श्रद्धा परम से युक्त (ते, मे, युक्ततमाः, मताः) वह मेरे युक्ततम माने गये हैं ।

अ--जो मुझ में मन लगाकर सदा युक्त हुए बड़ी श्रद्धा के साथ मुझे उपासते हैं, वह मुझ से युक्ततम* माने गये हैं ।

---

* यह व्यक्त के उपासकों के विषय में कहा है । अर्जुन का अभिप्राय यह था, कि अव्यक्त अक्षर ही परमगति है, इसलिये दोनों में से अव्यक्त के उपासक को श्रेष्ठ कहकर उसकी उपासना बतलायेंगे, भगवान् उनको यह बतलाते हैं, कि जब दोनों ही भगवान् के स्वरूप हैं, तो श्रद्धा भक्ति से जो व्यक्त के उपासक हैं, वह भी पूरे ही योगी हैं । त्रुटि उनमें भी कोई नहीं । युक्ततम का यह

संगति--तो क्या फिर अक्षर के उपासक युक्ततम नहीं, इस आकांक्षा का यह उत्तर देते हैं, कि यह बात नहीं, किन्तु उनके विषय में जो कुछ कहना है, वह सुन :—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् । ३
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः । ४

श--(ये, तु, अक्षरं, अनिर्देश्यं, अव्यक्तं, पर्युपासते) जो और अविनाशि अकथनीय अव्यक्त को उपासते हैं (सर्वत्र-गं, अचिन्त्यं, च) सर्वत्र पहुंचा हुआ और अचिन्तनीय (कूटस्थं, अचलं, ध्रुवं) अपरिणामि अचल अटल । ४ । (संनियम्य, इन्द्रिय-ग्रामं) रोककर इन्द्रियों के समूह को (सर्वत्र, सम-बुद्धयः) सर्वत्र सम बुद्धिवाल (ते, प्राप्नुवन्ति, मां, एव) वह प्राप्त होते हैं मुझे ही (सर्व-भूत-हिते, रताः) सब भूतों के हित में रत ।

अ--और जो इन्द्रियों के समूह को रोककर अविनाशी अकथनीय (बयान से बाहर) सर्वव्यापक अचिन्तनीय (सोच फिकर से बाहर) अपरिणामि अचल अटल अव्यक्त को उपासते हैं सर्वत्र सम बुद्धिवाले हैं सब भूतों की भलाई में रत हैं, वह मुझे ही प्राप्त होते हैं ।

आशय नहीं, कि अक्षर के उपासकों से वह श्रेष्ठ हैं । क्योंकि अक्षर के उपासक न्यून कैसे हो सकते हैं, जो अगली मनजल पर हैं, यही आगे स्पष्ट करेंगे ।

संगति-सो मुझे प्राप्त होने के अंश में तो दोनों तुल्य है, किन्तु :—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते। ५

श--(क्लेशः, अधिकतरः, तेषां, अव्यक्त-आसक्त-चेतसां) क्लेश अधिकतर उन अव्यक्त में लगे हुए चित्त वालों को (अव्यक्ता, हि, गतिः) अव्यक्त क्योंकि गति (दुःखं, देहवद्भिः, अवाप्यते) कठिन देह वालों से पाई जाती है।

अ--अव्यक्त में लगे हुए चित्त वालों को क्लेश (दिक्कत) अधिकतर (बहुत ज्यादह) होता है, क्योंकि देहवालों की पहुंच अव्यक्तगति (मनज़ल) पर कठिन होती है।

भाष्य--जो अकथनीय है अचिन्त्य है उस अव्यक्तरूप का ध्यान धरना, मन को उसमें ठहरा देना बड़ा कठिन है । अव्यक्त बनकर ही अव्यक्त को पाना आसान है । जब आत्मा देहाभिमान छोड़ स्वयं अव्यक्त होजाता है, तो अव्यक्त हुआ उस अव्यक्त को साक्षात् कर लेता है। देहाभिमान की विद्यमानता में उस पर मन का टिकाना बड़ा कठिन है।

संगति--मेरे भक्तों (व्यक्तके उपासकों) को मेरी कृपा से अनायास से ही सिद्धि प्राप्त होती है यह कहते हैं :—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते। ६
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थमय्यावेशितचेतसाम्।७

श--(ये, तु, सर्व्वाणि, कर्माणि) जो पर सारे कर्म्मों को (मयि, संन्यस्य, मत्-पराः) मेरे अर्पण करके मेरे परायण हुए (अनन्येन, एव, योगेन) अनन्य ही योग से (मां, ध्यायन्तः, उपासते) मुझे ध्यान करते हुए उपासते हैं। ६। (तेषां, अहं, समुद्धर्ता) उनका मैं उद्धार करनेवाला (मृत्यु-संसार-सागरात्) मृत्यु के संसार सागर से (भवामि, न, चिरात्, पार्थ) होता हूं न चिर से हे पृथा के पुत्र (मयि, आवेशित-चेतसां) मुझ में लगाए हुए चित्त वालों का।

अ--पर जो सारे कर्म्मों को मेरे अर्पण करके मेरे परायण हुए अनन्य योग * से ही मेरा ध्यान करते हुए मुझे उपासते हैं, हे पार्थ ! इस मृत्युवाले संसार सागर से मैं उनका जल्दी उद्धार करने वाला होता हूं, जिनका चित्त मुझ में लगा हुआ है।

भाष्य--अकथनीय अचिन्त्य अव्यक्तरूप में मन निरालम्बन (विना सहारे के) होने से ठहरता नहीं, व्यक्तरूप में सालम्बन हुआ मन आसानी से ठहर जाता है। फल उसमें भी, जब उस निरालम्बन मार्ग में मन चल सके, तब, ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति है, और इसमें भी वही है, इसमें भगवान् स्वयं अपने भक्तका उद्धार कर लेते हैं, अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षात् कराते हैं।

संगति--जिसलिये ऐसे है, इसलिये :—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।८

---

* अनन्ययोग=अनन्य भक्ति योग=और सब त्याग केवल मेरी भक्ति करते हुए अथवा अभेद भावना से।

श--(मयि, एव, मनः, आधत्स्व) मुझ में ही मन स्थापन कर (मयि,बुद्धिं निवेशय) मुझ में बुद्धि को लगा (निवसिष्यसि,मयि,एव) निवास करेगा मुझ में ही (अतः, ऊर्ध्वं, न, संशयः) इसके पीछे नहीं संशय ।

अ--मुझ (विश्वरूप) में ही मन स्थापनकर, मुझ में बुद्धिको लगा, इसके पीछे * तू मुझ में निवास करेगा इसमें संशय नहीं ।

संगति--इसमें असमर्थ के प्रति सुगम उपाय कहते हैं :--

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ।९

श--(अथ, चित्तं, समाधातुं) यदि चित्त को ठहरा (न शक्नोषि, मयि, स्थिरं) नहीं सक्ता है मुझ में अचल (अभ्यास-योगेन ततः) अभ्यास योग से तब (मां, इच्छ, आप्तुं, धनञ्जय) मुझे इच्छा कर प्राप्त होना हे धनञ्जय ।

अ--और यदि तू मुझ में चित्त को निश्चल ठहरा नहीं सक्ता, तब अभ्यास योग से मुझे प्राप्त होने को इच्छा कर ।

भाष्य--यदि सहज स्वभाव से तेरा चित्त निश्चल होकर मुझ में नहीं ठहरता, तो कोई चिन्ता नहीं, जब २ विचल हो, रोक २ कर फिर ठहरा, इस अभ्यास से पक्की तरह स्थिर होजायगा ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।१०

---

* बुद्धि पूर्वक मन लगाने के पीछे (श्रीरामानुज) मरने के पीछे (श्री शंकराचार्य) ।

श–(अभ्यासे, अपि, असमर्थः, असि) अभ्यास में भी असमर्थ है (मत्-कर्म-परमः,भव) मेरे कर्मों में लवलीन हो (मत्-अर्थं, अपि, कर्माणि, कुर्वन्) मेरे लिये भी कर्म करताहुआ (सिद्धिं, अवाप्स्यसि) सिद्धि को प्राप्त होगा।

अ--यदि अभ्यास (वार २ चित्त लगाने में) भी असमर्थ हैं तो मेरे कर्मों*में लवलीन हो, मेरे लिये भी कर्म करता हुआ तू सिद्धि को प्राप्त होगा।

संगति--इन सब में अशक्त के लिये स्वतः साध्य अन्य पक्ष बतलाते हैं :—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्। ११

श--(अथ, एतत्, अपि, अशक्तः, असि, कर्तुं) यदि यह भी अशक्त है करने को (मत्-योगं, आश्रितः, सर्व-कर्म-फल-त्यागं) मेरे योग का आश्रय लिये सारे कर्मों के फल का त्याग (ततः, कुरु, यत-आत्मवान्) तब कर बस में किये आत्मावाला।

अ--और यदि यह भी करने को अशक्त, है तो मेरे योग का आश्रय लिये (केवल मेरी शरण लिये) हुए और अपने आपको बस में किये हुए सारे कर्मों के फल का त्याग कर।

भाष्य--लौकिक वा वैदिक जो कुछ भी तू करता है कर, उनमें भावना केवल यह रख, कि मैंने ईश्वर की आज्ञा से कर्म्म करने हैं, फल दृष्ट वा अदृष्ट जो कुछ है वह परमेश्वर के अधीन है, इसप्रकार मेरे ऊपर भार डालकर स्वयं फल की आसक्ति छोड़कर वर्तता हुआ तू मेरी कृपा से कृतार्थ होजाएगा।

---

* मेरे कर्म्म = भगवान् का श्रवण कीर्तन।

संगति--इस फल त्याग की स्तुति करते हैं :—

श्रेयोहिज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानंविशिष्यते ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिर-नन्तरम्॥ १२ ॥

श--(श्रेयः, हि, ज्ञानं, अभ्यासात्) अच्छा निःसन्देह ज्ञान अभ्यास से (ज्ञानात्, ध्यानं, विशिष्यते) ज्ञान से ध्यान बढ़कर है (ध्यानात्-कर्म-फल-त्यागः) ध्यान से कर्मों के फल का त्याग (त्यागात्, शान्तिः, अनन्तरं) त्याग से शान्ति पीछे ॥

अ--अभ्यास से ज्ञान अच्छा है, ज्ञान से ध्यान बढ़कर है, ध्यान से कर्मों के फल का त्याग बढ़कर है * त्याग के पीछे शान्ति होती है ॥

संगति--ऐसे भक्त के लिये बहुत ही जल्दी परमेश्वर की कृपा का पात्र बनानें वाले धर्म्मों का वर्णन करते हैं—

---

*यह आशय है, कि यद्यपि कर्म फल त्याग आसान होनेके हेतु सब से पीछे कहा है, पर यह पहले उपायों से निकृष्ट नहीं, बड़ा भारी उपाय है। बिना सोचे समझे खाली अभ्यासकी अपेक्षा शास्त्र द्वारा जानना अच्छा है। पर खाली शास्त्र द्वारा जानलेनें की अपेक्षा उसके प्रत्यक्ष करने के लिये ध्यान बढ़कर है, पर कर्म फल का त्याग ध्यान से भी बढ़कर है । क्योंकि त्याग के अर्थ हैं कामना का न होना, कामना ही चित्त में हल चल हैं, जब यह बन्द हुई, अपने आप शान्ति आजाती है, और सहज ही ब्रह्मानुभव होने लगता है—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः। अथमर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते'=जब सारी कामनायें जो इसके हृदय में रहती हैं, छूट जाती हैं, तब मर्त्य अमृत होजाता है, यहां ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥१३
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः।१४

श—(अद्वेष्टा, सर्व-भूतानां, मैत्रः, करुणः, एव, च) न द्वेष करनेवाला सब भूतों का मित्रता से वर्तने वाला और करुणावाला (निर्-ममः, निर्-अहंकारः) ममता से रहित अहंकार से रहित (सम-दुःख-सुखः, क्षमी) बराबर है दुःख सुख जिसको क्षमावाला १३। (सन्तुष्टः, सततं, योगी) सन्तुष्ट सदा योगी (यत-आत्मा, दृढ-निश्चयः) वस में आत्मावाला दृढ़ निश्चयवाला (मयि, अर्पित-मनो-बुद्धिः) मुझमें अर्पण की हुई मन बुद्धिवाला (यः, मत्-भक्तः, सः, मे, प्रियः) जो मेरा भक्त वह मेरा प्यारा ।

अ—वह जो किसी भी (=अपने दुःख देने वाले भी) भूत के साथ द्वेष नहीं रखता, (सब भूतों का) हितैषी है, (सब भूतों पर) दया परायण है। विना ममता और अहंकार के है। (मेरा और मैं को त्यागे हुए है) जिसने दुःख सुख सम कर माना हुआ है और क्षमावाला है (अपने विषय में किसी से किये हुए अपराध को भुला देता है) ॥ १३ ॥ (जो कुछ मिलगया, उसी में) सदा सन्तुष्ट है, योगी है (परमात्मा से मिला हुआ है) अपने आपको वस में किये हुए है, जिसका निश्चय कभी डोलता नहीं है, जिसने मन और बुद्धि मुझ में अर्पण करदी है, ऐसा जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्यारा है ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः । १५

श-(यस्मात्, न, उद्विजते, लोकः) जिस से नहीं उद्वेग करता है लोक (लोकात्, न, उद्विजते, च, यः) और लोक से नहीं, उद्वेग करता है जो (हर्ष-अमर्ष-भय-उद्वेगैः, मुक्तः) हर्ष क्रोध भय उद्वेग से छूटा हुआ (यः, सः, च, मे, प्रियः) जो वह मेरा प्यारा ॥

अ—जिससे लोक उद्वेग नहीं करता है (दुनिया कोई अन्देशा नहीं करती) और जो लोक से उद्वेग नहीं करता है। हर्ष क्रोध भय उद्वेग से छूटा हुआ है वह मेरा प्यारा है ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः १६

श--(अनपेक्षः, शुचिः, दक्षः) बे परवाह पवित्र दक्ष (उदासीनः, गत-व्यथः) उदासीन दूर हुई व्यथावाला (सर्व-आरम्भ-परित्यागी) सारी प्रवृत्तियों का त्यागी (यः, मत्-भक्तः, सः, मे, प्रियः) जो मेरा भक्त वह मेरा प्यारा ॥

अ--बे परवाह पवित्र दक्ष (होश्यार) उदासीन (पक्षपात रहित) (मन की) व्यथा से शून्य, सारी प्रवृत्तियों* का त्यागी, जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्यारा है ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥

श--(यः, न, हृष्यति, न, द्वेष्टि) जो न हर्ष करता है न द्वेष

---

* प्रवृत्ति = राग द्वेष के अधीन कार्य्य करना । ऐसे कार्यों का त्यागी हो; यहां वहां फल भोग के लिये जो कर्म हैं उन का परित्यागी (श्रीशंकराचार्य्य) ।

करता है (न, शोचति, न, काङ्क्षति) न शोक करता है न इच्छा करता है (शुभ-अशुभ-परित्यागी) शुभ अशुभ का परित्यागी (भक्तिमान्, यः, सः, मे प्रियः) भक्तिवाला जो वह मेरा प्यारा ।

अ—जो न हर्ष करता है न द्वेष करता है न शोक करता है न इच्छा करता है शुभ अशुभ दोनों का परित्यागी* ऐसा होकर जो मेरी भक्तिवाला है वह मेरा प्यारा है ।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥१८
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनीसन्तुष्टोयेनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।

श—(समः, शत्रौ, च, मित्रे, च) सम शत्रु में मित्र में (तथा, मान-अपमानयोः) तथा मान अपमान में (शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु, समः) सरदी गरमी सुख दुःख में सम (संग-विवर्जितः) संग से रहित । १८ (तुल्य-निन्दा-स्तुतिः, मौनी) तुल्य है निन्दा स्तुति जिसको मौनी (सन्तुष्टः, येन, केन-चित्) सन्तुष्ट जिस किसी से (अनिकेतः, स्थिर-मतिः) घर से रहित स्थिर बुद्धिवाला (भक्तिमान्, मे, प्रियः, नरः) भक्तिवाला मेरा प्यारा मनुष्य ।

अ—जो शत्रु और मित्र में सम (एक रूप) है, तथा मान अपमान में सम (हर्ष विषाद से शून्य) है । सरदी गरमी सुख दुःख में सम है, सङ्ग (आसक्ति) से रहित है ॥ १८ ॥ जिसको निन्दा

* प्रिय को पाकर हर्ष अप्रिय को पाकर द्वेष नहीं करता है अभीष्ट वस्तु के नाश में शोक नहीं करता, अप्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं करता जिस के कर्म पुण्यपाप दोनों की हद से परे हैं ।

स्तुति बराबर है, मौनी (चुप, मस्त) है, नियत घर के विना है, स्थिर बुद्धिवाला है, ऐसा मनुष्य जो मेरी भक्तिवाला है, वह मेरा प्यारा है।

संगति—कहे हुए धर्म्म समूह का फल सहित उपसंहार करते हैं :—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ १९

श—(ये, तु, धर्म्यामृतं, इदं) जो हां धर्मयुक्त अमृत इसको (यथा-उक्तं, पर्युपासते) यथोक्त अनुष्ठान करते हैं (श्रद्दधानाः, मत्-परमाः) श्रद्धा से भरे हुए मैं जिनका परम उद्देश्य हूं (भक्ताः, ते, अतीव, मे, प्रियाः) भक्त वह अतीव मेरे प्यारे।

अ—हां जो भक्त श्रद्धा से पूर्ण हुए मुझे ही अपना परम उद्देश्य बनाए हुए धर्म युक्त अमृत (जीवन के देने वाले ज्ञान) का यथोक्त (रीति से) अनुष्ठान करते हैं वह मेरे अतीव प्यारे हैं।

इति श्री सद्भगवद्गीता० भक्तियोगोनाम द्वादशोऽध्यायः।

संगति—प्रथम षट्क कर्मप्रधान, और दूसरा उपासना प्रधान कहा, अब तीसरे षट्क ज्ञानप्रधान का आरम्भ करते हैं।

भक्तियोग में भगवान् ने यह प्रतिज्ञा की है, कि अपने भक्तों का मैं स्वयं संसार सागर से उद्धारकर लेता हूं (१२।७) यह संसार से उद्धार विना तत्त्वज्ञान से नहीं होसक्ता, सो जो तत्त्वज्ञान भगवान् अपने भक्तों को दिया करते हैं, वह बिना मांगे * अपने भक्त अर्जुन को देते हुए—

---

* अर्जुन की जिज्ञासा के बिना ही भगवान् अपने आप अर्जुन को तत्वज्ञान का उपदेश करने लगे हैं, इसका मर्म्म ऊपर

श्री भगवानुवाच-श्री भगवान् बोले।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः। २

श-(इदं, शरीरं, कौन्तेय) यह शरीर हे कुन्ती के पुत्र (क्षेत्र, इति, अभिधीयते) क्षेत्र यह कहा जाता है (एतत्, यः) वेत्ति) इसको जो जानता है (तं, प्राहुः, क्षेत्र-ज्ञः, इति, तद्-विदः, उसको कहते हैं क्षेत्रज्ञ यह उसके जाननेवाले।

अ-यह शरीर हे कौन्तेय ! क्षेत्र कहलाता है, इसको जो जानता है, उसको उसके जाननेवाले क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

भाष्य-शरीर कर्मरूपी बीजों के फल की उत्पत्ति का स्थान है, संसार के अंकुर की भूमि है, इसलिये इसको क्षेत्र कहा है। और यह क्षेत्र की तरह ही जड़ है। इसमें जो चेतन आत्मा है, उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं, क्योंकि वह इस क्षेत्र का जानने वाला है। जीवात्मा जिस तरह बाहर के पदार्थों को जानता है, उस तरह

कह दिया है। इस मर्म्म को न जानकर किसी विद्वान् ने यह सोचा है, कि बिना जिज्ञासा के उपदेश करना यह यहां त्रुटि पाई जाती है, इस त्रुटि को पूर्ण करने के लिये उसने आदि में यह पाठ बढ़ा दिया है। "अर्जुन उवाच—प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ मेवच। एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव" = अर्जुन बोला। हे केशव ! मैं प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, और ज्ञान और ज्ञेय को जानना चाहता हूं"॥ पर इसका प्रक्षिप्त होना बड़ा स्फुट है, जब शंकराचार्य्य, रामानुज, श्रीधर, नीलकण्ठ आदि की व्याख्या में इसका नाम तक नहीं। और उनके अध्याय के आदि में कही संगति का सम्बन्ध सीधा "श्री भगवानुवाच" के साथ जालगता है॥

अपने शरीर को संघातरूप से और अलग २ अवयव रूप से जानता है।

संगति–अलग २ शरीरों में अलग क्षेत्रज्ञ जीवात्मा के सिवाय सब शरीरों में एक क्षेत्रज्ञ परमात्मा बतलाते हैं :–

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ ३

श–(क्षेत्र-ज्ञं, च, अपि, मां, विद्धि) और क्षेत्रज्ञ भी मुझे जान (सर्व-क्षेत्रेषु, भारत) सारे क्षेत्रों में हे भारत (क्षेत्र-क्षेत्र-ज्ञयोः, ज्ञानं, यत्) क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ज्ञान जो (तत्-ज्ञानं,मतं,मम) वह ज्ञान माना हुआ है मेरा।

अ–और हे भारत! क्षेत्रज्ञ भी सारे क्षेत्रों में मुझे जान, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वह मेरी मति में ज्ञान है। *

भाष्य–परमात्मा जैसे सारे क्षेत्रों में एक नियामक है वैसे सारे क्षेत्रों में एक क्षेत्रज्ञ भी है। सो जब वह भी क्षेत्रज्ञ है, तब मेरी सम्मति में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जानना ही पूरा ज्ञान है। उससे परे-कोई ज्ञेय और नहीं है। पहले क्षेत्र का ज्ञान होता है, फिर क्षेत्रज्ञ जीवात्मा का, तदनन्तर सर्व क्षेत्रों के क्षेत्रज्ञ परमात्मा का। यह ज्ञान का क्रम है।

---

* इस श्लोक का अर्थ और तात्पर्य्य स्वामी शंकराचार्य्य अद्वैतवाद में लगाते हैं। सारे क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मैं हूं अर्थात् क्षेत्रज्ञ मेरे सिवाय उनमें और नहीं, किन्तु मैं ही हूं। अतएव जानने योग्य-क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दो ही हैं, इन दोनों का ज्ञान पूरा ज्ञान है। पर हमारा तात्पर्य्य जो जीव ईश्वर के भेद में है, उसमें प्रमाण गीता के ही अन्य स्थल हैं। देखो पूर्व ७। ४—७ में

संगति—"इदं शरीरं" इत्यादि से कहे अर्थ को खोलकर कहने की प्रतिज्ञा करते हैं :—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।४

श—(तत्-क्षेत्रं, यत्, च, यादृक्, च) वह क्षेत्र जो और जैसा (यद्-विकारि, यतः, च, यत्) जिस विकारवाला और जिससे जो (सः, च, यः, यत्-प्रभावः, च) और वह जो और जिस प्रभाव वाला (तत्, समासेन, मे, शृणु) वह संक्षेप से मुझ से सुन।

अ—वह क्षेत्र क्या (वस्तु) है, * कैसा (किस स्वभाव का) है, किस विकारवाला है, और किस से यह होता है? और वह

प्रकृति और जीव को अपनी पर अपर प्रकृति कहकर परमेश्वर को इन दोनों से परे दिखलाया है। और ९।७—८ में अपनी पर अपर प्रकृति में सब का लय और उसी से उत्पत्ति कहकर अपने को प्रकृति का अध्यक्ष बतलाया है। और यहां भी आगे १३।१९—२० में प्रकृति पुरुष को अनादि कहकर उनका अलग अलग कार्य्य कहकर १३।२२ में आगे ईश्वर का कार्य्य अलग कहा है और १५।१६—१८ तीनों में स्पष्ट भेद किया है। जीवात्मा से अलग परमात्मा "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" से कहा है। यामुनाचार्य्य और रामानुज ने विशिष्टाद्वैत के अभिप्राय से 'मां विद्धि' का अभिप्राय मदात्मक जान लिया है। अर्थात् मैं उसका आत्मा हूं। यह बात भी स्मरण रखने योग्य है। कि गीता में एकात्मवाद की झलक होते हुए भी जगत् के मिथ्यात्व की कोई झलक नहीं। यहां भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों को अलग २ जानने योग्य कहा है।

* अक्षरार्थ जो है=जो वस्तु है। इत्यादि।

(क्षेत्रज्ञ) क्या है, और उसका प्रभाव (क्या) है ? यह सब मुझ से अब संक्षेप से सुन।

संगति—किन्होंने विस्तार से कहा है, जिसका यह संक्षेप कहते हो, इस अपेक्षा में कहते हैं :—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः। ५

श—(ऋषिभिः, बहुधा, गीतं) ऋषियों ने अनेक प्रकार से गाया है (छन्दोभिः, विविधैः, पृथक्) छन्दों से भिन्न २ अलग २ (ब्रह्मसूत्र-पदैः, च, एव) और ब्रह्मसूत्र वाक्यों से (हेतुमद्भिः विनिश्चितैः) युक्तिवाले निर्णय किये हुए।

अ—ऋषियों ने भिन्न २ छन्दों से और निर्णय किये हुए युक्तिवाले ब्रह्मसूत्र रूप वाक्यों से अनेक प्रकार से गाया है।

संगति—उनमें से पहले क्षेत्र का स्वरूपादि कहते हैं :—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः। ६
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ७

श—(महाभूतानि, अहङ्कारः बुद्धिः, अव्यक्तं, एव, च) महाभूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त (इन्द्रियाणि दश, एकं, च) इन्द्रिय दस और एक (पञ्च, च, इन्द्रिय-गोचराः) और पांच इन्द्रियों के विषय। ५। (इच्छा, द्वेषः, सुखं, दुःखं) इच्छा द्वेष सुख दुःख (संघातः, चेतना, धृतिः) संघात चेतना धैर्य (एतत्,

क्षेत्रं, समासेन, सविकारं, उदाहृतं) यह क्षेत्र संक्षेप से विकार सहित बतलाया गया है।

अ—महाभूत अहङ्कार बुद्धि और अव्यक्त। और इन्द्रिय दस और एक और पांच इंन्द्रियों के विषय*। ५। इच्छा, द्वेष, सुख दुःख, संघात (शरीर) चेतना (चित्त की वृत्ति) और धैर्य यह सारा संक्षेप से विकार समेत क्षेत्र बतलाया गया है।

संगति—अब उक्तलक्षण क्षेत्र से अलग करके ज्ञेय जो क्षेत्रज्ञ है, उसको विस्तार से वर्णन करना चाहते हुए उसके ज्ञान के साधन पहले कहते हैं :—

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचंस्थैर्यमात्मविनिग्रहः। ८

श—(अमानित्वं, अदम्भित्वं, अहिंसा, क्षान्तिः, आर्जवं) मानी न होना, दम्भी न होना, अहिंसा, क्षमा, सरलता (आचार्य-उपासनं, शौचं, स्थैर्यं, आत्म-विनिग्रहः) आचार्य की सेवा पवित्रता स्थिरता अपने आपको वश में रखना।

अ—(अपने आप में) मान से रहित होना, क्षमा करना, सरल होना, आचार्य की सेवा करना, (अन्दर बाहर से) पवित्र होना, (रुकावटों की परवाह न करके सन्मार्ग पर) स्थिर रहना,

---

* महाभूत=पांच-पृथिवी जल तेज वायु आकाश। इन्द्रिय दस-पांच ज्ञानेन्द्रिय—नेत्र, कान, नाक, जीभ, त्वचा। और पांच कर्मेन्द्रिय—हाथ, पाद, गुदा, लिङ्ग और जीभ। और एक मन। पांच विषय=शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। यह चौबीस जड़ तत्व क्षेत्र हैं, इनमें शरीर विकार है, पर वह क्षेत्र ही गिनाजाता है। इच्छादि उसके विकार हैं।

अपने आपको बस में रखना।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥ ९

श—(इन्द्रिय, अर्थेषु, वैराग्यं) इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य (अनहङ्कारः एव, च) और अहङ्कार से रहित होना (जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोष-अनुदर्शनं) जन्म मृत्यु बुढ़ापा रोग और दुःखों के दोषों का वार २ देखना।

अ—इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहङ्कार का न होना, जन्म मरण बुढ़ापा रोग और दुःख इनमें दोषोंका वार २ देखना।*

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ १०

श—(असक्तिः, अनभिष्वंगः, पुत्र-दार-गृह-आदिषु) न फंसना न लगाव पुत्र स्त्री घर आदि में (नित्यं, च, सम-चित्तत्वं, इष्ट-अनिष्ट-उपपत्तिषु) और सदा सम चित्त होना इष्ट अनिष्ट की प्राप्तियों में।

अ—(विषयों में) न फंसना, पुत्र स्त्री और घर आदि में लगाव न होना, और इष्ट अनिष्ट की प्राप्तियों में सदा चित्त का एक रस रहना।

---

* जन्म में, गर्भ में रहना और योनि द्वारा निकलना यह दोष है, इसका विचारना। तथा मरने में दोष देखना, तथा बुढ़ापे में, प्रज्ञाशक्ति तेज का घटना, और अनादर होना इत्यादि दोष का देखना, रोग सिर पीड़ा आदि में दोष का देखना। तथा दुःख, आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख में दोष का देखना। अथवा जन्मादि में जो दुःख हैं वही दोष हैं उनका देखना (श्री शंकराचार्य)।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।११

श—(मयि, च, अनन्य-योगेन) और मुझ में अनन्य योग से (भक्तिः, अव्यभिचारिणी) भक्ति न बदलने वाली (विविक्त-देश-सेवित्वं) एकान्त देश का सेवन (अरतिः, जन-संसादि) अप्रीति लोगों के जमघटे में ।

अ—मुझमें अनन्य भावना से न बदलने वाली भक्ति, एकान्त देश का सेवन, और लोगो * के जमघटे में अप्रीति ।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमितिप्रोक्तमज्ञानंयदतोऽन्यथा १२

श—(अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्वं) आत्मा के ज्ञान में नित्यता (तत्त्व-ज्ञान-अर्थ-दर्शनं) तत्त्वज्ञान के फल का देखना (एतत्, ज्ञानं इति, प्रोक्तं) यह ज्ञान ऐसे कहा है। (अज्ञानं, यत्,अतः, अन्यथा) अज्ञान जो इससे उलट ।

अ—आत्मा के ज्ञान में लगे रहना, तत्त्वज्ञान के फल (मोक्ष) का चिन्तन, यह ज्ञान † कहागया है, इससें उलट ‡ अज्ञान है ।

संगति—इन साधनों से जो जानने योग्य है, उसको कहते हैं—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।

---

* साधारण लोगों के । ज्ञानियों के समुदाय में रहना तो ज्ञानका साधक ही है ।

†अमानित्व आदि बीस धर्म्म ज्ञान कहलाते हैं क्योंकि यह ज्ञान के साधन हैं । और यह सब मिले हुए होने चाहियें,इनमें से किसी की भी त्रुटि मनुष्य में नहीं चाहिये । ‡ उलट अर्थात् मानी होना दम्भी होना इत्यादि ।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १३

श–(ज्ञेयं, यत्, तत्, प्रवक्ष्यामि) ज्ञेय जो वह कहूंगा (यत्, ज्ञात्वा, अमृतं, अश्नुते) जिसको जानकर अमृत को भोगता है। (अनादिमत्, परं, ब्रह्म) आदि रहित परब्रह्म (न, सत्, तत्, न असत्, उच्यते) न सत् वह न असत् कहाजाता है।

अ–जो ज्ञेय है वह कहूंगा, जिसको जानकर (मनुष्य) अमृत (मोक्ष) को भोगता है। वह आदि रहित परब्रह्म है, वह न सत् कहाजाता है न असत् कहाजाता है* ।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति । १४

श–(सर्वतः, पाणि-पादं, तत्) सब ओर हाथ पांव वाला वह (सर्वतः-अक्षि-शिरः-मुखं) सब ओर नेत्र सिर मुखवाला, (सर्वतः-श्रुतिमत्, लोके) सब ओर कानवाला लोक में (सर्वं, आवृत्य तिष्ठति) सब को घेरकर स्थित है।

---

* वस्तुतः ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप कहने में वाणी गुङ्ग है सत् असत् कुछ नहीं कह सकती। जो मन की भी पहुंच से परे है, उसको वाणी क्या कहे। पूर्व कहे साधनों के द्वारा जानने योग्य मुख्यतया परमात्मा है, सो मुख्य ज्ञेय होने से परमात्मा का वर्णन पहले किया है, ज्ञेय जीवात्मा भी है, उसका वर्णन भी आयेगा। श्रीरामानुजाचार्य ने इस श्लोक को भी जीवात्मा परक लगाया है, ब्रह्म शब्द यहां जीवात्मा के लिये कहा है, जैसा कि अन्यत्र भी है इस से अगले श्लोक भी श्री रामानुज के अनुसार जीवपरक हैं। श्री शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म परक है। ब्रह्म ही चेतन है, इसीलिये उसी का वर्णन है।

अ—हरएक जगह उसके हाथ पांओं हैं, हरएक जगह नेत्र सिर और मुख हैं, हरएक जगह उसका कान है, लोक में वह सब को घेरकर स्थित है।*(श्वेता० ३।१६)।

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।१५

श—((सर्व-इन्द्रिय-गुण-आभासं) सारे इन्द्रियों के गुणों से चमकनेवाला (सर्व-इन्द्रिय-विवर्जितं) सारे इन्द्रियों से रहित (असक्तं, सर्वभृत्, च, एव) संग रहित और सब का धारनेवाला (निर्गुणं, गुण-भोक्तृ,-च) निर्गुण और गुणों का भोगनेवाला।

अ—सारे इन्द्रियों के गुणों से चमकने वाला और सारे इन्द्रियों से रहित (श्वेता० ३।१७) सङ्ग रहित और सबका धारनेवाला गुण रहित और गुणों का भोगनेवाला।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् १६

श—(बहिः, अन्तः, च, भूतानां) बाहर और अन्दर भूतों के (अचरं, चरं,एव, च) अचर और चर (सूक्ष्मत्वात्, तत्, अविज्ञेयं) सूक्ष्म होने से वह अविज्ञेय (दूरस्थं, च, आन्तिके, च, तत्) दूर स्थित और निकट वह।

---

*यहां हाथ पाओं आदि अलंकार से कहे हैं-उसकी रचा का हाथ हरएक जगह है, उसको गति सब जगह है, वह हरएक पर दृष्टि रखता है और हरएक की बात सुनता है, उसका सुन्दर मुख सुन्दर स्वरूप हरएक जगह देखा जासक्ता है।

अ—वह सब भूतों (जीवों) के बाहर और अन्दर है, वह अचर और चर है, सूक्ष्म होने से वह अविज्ञेय (बे मालूम) है, वह दूर है, और निकट है। *

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च १७

श—(अविभक्तं, च, भूतेषु) न बटा हुआ भूतों में (विभक्तं, इव, च, स्थितं) और बटे हुए की तरह स्थित (भूत-भर्तृ, च, तत्, ज्ञेयं) भूतों का पालनेवाला वह जानना चाहिये (ग्रसिष्णु, प्रभविष्णु, च) ग्रसनेवाला और उत्पन्न करनेवाला।

अ—भूतों में न बटा हुआ बटे हुए की तरह स्थित है (हरएक के हृदय का अलग २ अन्तर्यामी होने से), उसको सब भूतों का पालनेवाला जानना चाहिये, वह सब का संहार करनेवाला और उत्पन्न करनेवाला है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्। १८

श—(ज्योतिषां, अपि, तत्, ज्योतिः) ज्योतियों का भी वह ज्योति (तमसः, परं, उच्यते) अन्धकार से परे कहा जाता है (ज्ञानं, ज्ञेयं, ज्ञान-गम्यं) ज्ञान ज्ञेय ज्ञान से पाने योग्य (हृदि, सर्वस्य, विष्ठितं) हृदय में सब के बैठा हुआ।

अ—वह ज्योतियों का भी ज्योति है, अन्धकार से परे कहा जाता है, वह ज्ञान है, ज्ञेय है, ज्ञान (अमानित्व आदि साधनों) से पाने योग्य है, सब के हृदय में बैठा है।

---

* मिलाओ ईश० ५।

संगति—उक्त ज्ञान का अधिकारी और फल सहित उपसंहार करते हैं :—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्तः एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते। १९

श—(इति, क्षेत्रं, तथा, ज्ञानं, ज्ञेयं, च, उक्तं, समासतः) यह क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय कहा है संक्षेप से (मद्-भक्तः, एतद्, विज्ञाय) मेरा भक्त इसको जानकर (मद्-भावाय, उपपद्यते) ब्रह्मभाव के योग्य होता है।

अ—इसप्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय संक्षेप से कहा है, मेरा भक्त इसको जानकर ब्रह्मभाव (मोक्ष) के योग्य होता है।

संगति—सो इसप्रकार " तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च " इसका वर्णन किया, अब " यद्विकारियतश्चयत्। सचयो यत्प्रभावश्च " यह जो पूर्व प्रतिज्ञा की है, उसका विस्तार यहां प्रकृति पुरुष और परमात्मा के वर्णन से करते हैं :—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् २०

श—(प्रकृतिं, पुरुषं, च, एव) प्रकृति और पुरुष को (विद्धि, अनादी, उभौ, अपि) जान अनादि दोनों ही (विकारान्, च, गुणान्, च, एव) विकारों को और गुणों को (विद्धि, प्रकृति-संभवान्) जान प्रकृति से उत्पन्न हुआ।

अ—प्रकृति और पुरुष इन दोनों को अनादि जान, और विकारों (देह इन्द्रियादिकों) को और गुणों (सुख दुःख मोहादिकों) को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान।

भाष्य—सातवें में ईश्वर की दो प्रकृति कहीं अपर और पर प्रकृति और पुरुष। उन्हीं दो का पहले विस्तार कहते हैं।

संगति—प्रकृति और पुरुष के कार्य का भेद करते हैं :—

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते। २१

श—(कार्य-कारण-कर्तृत्वे) कार्य और कारण की उत्पत्ति में (हेतुः, प्रकृतिः, उच्यते) हेतु प्रकृति कहलाती है (पुरुषः, सुख-दुःखानां, भोक्तृत्वे, हेतुः, उच्यते) पुरुष सुख दुःखों के भोगने में हेतु कहलाता है।

अ—कार्य और कारण की उत्पत्ति में हेतु प्रकृति कही जाती है, और सुख दुःख के भोगने में हेतु पुरुष कहलाता है।

भाष्य—कार्य=शरीर और कारण इन्द्रिय। शरीर और इन्द्रिय रूप से परिणत प्रकृति होती है, जीवात्मा उस शरीर में सुख दुःख भोगता है।

पुरुषःप्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु। २२

श—(पुरुषः, प्रकृति-स्थः, हि) पुरुष प्रकृति में स्थित हुआ निःसन्देह (भुङ्क्ते, प्रकृति-जान्, गुणान्) भोगता है प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को (कारणं, गुण-संगः, अस्य) कारण गुणों में लगाव इसकी (सत्-असत्-योनि-जन्मसु) अच्छी बुरी योनियों के जन्मों में।

अ—पुरुष प्रकृति में स्थित हुआ प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों (सुखदुःखादि) को भोगता है, गुणों में आसक्ति इसकी

अच्छी बुरी योनियों में जन्म का कारण है।

संगति—पुरुष की विवेचना करके अब परम पुरुष परमात्मा की विवेचना करते हैं :—

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषःपरः२३

श—(उपद्रष्टा, अनुमन्ता, च) दृष्टि रखनेवाला अनुमति देने वाला (भर्ता, भोक्ता, महा-ईश्वरः) पालनेवाला भोगनेवाला महेश्वर (परम-आत्मा, इति, च, अपि, उक्तः) और परमात्मा भी कहागया है (देहे, अस्मिन्, पुरुषः, परः) देह इसमें पुरुष परम।

अ—इस देह में जो परम पुरुष दृष्टि रखनेवाला (निरीक्षक निग्रहवान) पालनेवाला भोगनेवाला है वह महेश्वर और परमात्मा, भी कहागया है।

भाष्य—यहां पर परम पुरुष परमात्मा का वर्णन है, जीव पुरुष है, परमात्मा परमपुरुष है। भोगनेवाला से तात्पर्य भक्ति से अर्पण कीहुई वस्तु स्वीकार करने वाला है।

संगति—इस प्रकार प्रकृति पुरुष के यथार्थज्ञानका फल बतलाते हैं:—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते२४

श—(यः, एवं, वेत्ति, पुरुषं, प्रकृतिं, च, गुणैः, सह) जो इस प्रकार जानता है पुरुष को और प्रकृति को गुणों सहित (सर्वथा, वर्तमानः, अपि) सब प्रकार से वर्तता हुआ भी (न, सः, भूयः अभिजायते) नहीं वह फिर उत्पन्न होता है।

अ—जो इसप्रकार पुरुष * को और गुणों (सुख दुःखादि) सहित प्रकृति को जानता है, वह फिर जन्म नहीं लेता है।

संगति—इसप्रकार विविक्त आत्मा के जानने में साधनों के भेद कहते हैं :—

ध्यानेनात्मनिपश्यंतिकेचिदात्मानमात्मना
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २५

श—(ध्यानेन, आत्मनि, पश्यन्ति) ध्यान से अपने अन्दर देखते हैं (केचित्, आत्मानं, आत्मना) कई आत्मा को आत्मा से (अन्ये, सांख्येन, योगेन) दूसरे सांख्य योग से (कर्म-योगेन, च, अपरे) और कर्म योग से दूसरे।

अ—कई ध्यान (उपासना) से अपने अन्दर आत्मा से आत्मा (परमात्मा) को देखते हैं, दूसरे सांख्ययोग (ज्ञानयोग) से और दूसरे कर्मयोग से।

संगति—अब अतिमन्द अधिकारियों के निस्तार का उपाय कहते हैं :—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपिचातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः २६

श—(अन्ये, तु, एवं, अजानन्तः) दूसरे तो ऐसे न जानते हुए (श्रुत्वा, अन्येभ्यः, उपासते) सुनकर दूसरों से उपासते हैं

---

* पुरुष से पुरुषमात्र अर्थात् जीवात्मा और परम पुरुष परमात्मा दोनों अभिप्रेत हैं।

(ते, अपि, च, अतितरन्ति, एव, मृत्युं) वह भी तरजाते हैं ही मृत्यु को (श्रुति-पर-अयनाः) सुने हुए में तत्पर हुए।

अ—और दूसरे इसको न जानते हुए दूसरों से सुनकर उपासते हैं, वह भी सुने हुए में तत्पर हुए मृत्यु को तर ही जाते हैं।

संगति—सांख्ययोग का ही सविस्तर वर्णन करते हैं :—

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २७

श—(यावत्, संजायते, किञ्चित्) जितना उत्पन्न होता है कुछ (सत्त्वं, स्थावर-जंगमं) जीव स्थावर जंगम (क्षेत्र-क्षेत्र-ज्ञ संयोगात्) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से (तत्, विद्धि, भरत-ऋषभ) उसको जान हे भरतों में श्रेष्ठ।

अ—जहां कहीं जो कोई स्थावर जंगम जीव उत्पन्न होता है हे भरतों में श्रेष्ठ ! यह जान, कि वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से हुआ है।

संगति—प्रकृति पुरुष के संयोग से जीवों की उत्पत्ति दिखलाकर अब शरीर में पुरुष का शुद्धस्वरूप बतलाते हैं :—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।

श—(समं, सर्वेषु, भूतेषु, तिष्ठन्तं, परम-ईश्वरं) एक जैसा सब भूतों में स्थित परम मालिक को (विनश्यत्सु, अविनश्यन्तं) नाश होते हुओं में न नाश होते हुए को (यः, पश्यति, सः, पश्यति) जो देखता है वह देखता है (वह ज्ञानी है)।

अ–परम-ईश्वर * सब भूतों में एक जैसा स्थित है, नाश होते हुओं में नाश नहीं होता है, जो ऐसा देखता है, वह देखता है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानंततोयातिपरांगतिम् ।

श–(समं, पश्यन्, हि, सर्वत्र, समवस्थितं, ईश्वरं) सम देखता हुआ क्योंकि सब में स्थित ईश्वर को (न, हिनस्ति, आत्मना आत्मानं) नहीं हनन करता है अपना आप (ततः, याति, परां, गतिं) तब जाता है परमगति को।

अ–क्योंकि सब (जीवों) में स्थित मालिक को सम देखता हुआ अपना आप हनन नहीं करता है * तब परमगति को प्राप्त होता है।

संगति–जब शुभ अशुभ कर्मों का कर्त्ता होने से आत्माओं में विषमता देखी जाती है, तो फिर समता कैसे, इस आशंका का उत्तर देते हैं :–

---

* २७, २८, २९ श्लोक जीवात्माके पक्ष में ही ठीक लगते हैं। इसलिये यहां इन्द्रियों का मालिक होने से जीवात्माको ही परमेश्वर कहा जानना चाहिये। जीवात्मा सब भूतों में एक जैसा है, उस में कोई भेद नहीं, देवता मनुष्य और पशु सब में एक बराबर है, जो भेद है, वह सब प्रकृति के अंश में है। शरीर के बढ़ने घटने और नाश होने पर वह बढ़ता घटता और नाश नहीं होता।

* जो ऐसा नहीं देखता है, वह देहात्मदर्शी देह के साथ आत्मा का हनन करता है (मिलाओ ईश० ३)।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यतितथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ३०

श-(प्रकृत्या, एव, च, कर्माणि, क्रियमाणानि, सर्वशः) और प्रकृति से ही कर्म किये जाते हुए सब प्रकार से (यः, पश्यति) जो देखता है (तथा, आत्मानं, अकर्त्तारं) तथा आत्मा को अकर्त्ता (सः, पश्यति) वह देखता है—वह ज्ञानी है।

अ-जो कर्मों को सब प्रकार प्रकृति से ही किये जाते हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्त्ता * देखता है, वह देखता है।

संगति-अब सब भूतों के एक आधार परमपुरुष परमात्मा का स्वरूप दिखलाते हैं † :—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थ मनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा । ३१

श-(यदा, भूत-पृथग्भावं) जब भूतों का भेद (एक-स्थं, अनुपश्यति) एक में स्थित देखता है (ततः, एव, च, विस्तारं) और उससे ही विस्तार (ब्रह्म सम्पद्यते, तदा) ब्रह्मको प्राप्त होता है तब।

अ-जब (स्थावर जंगम) भूतों के भेद को एक में स्थित देखता है, और उसी से सारा विस्तार देखता है, तब वह ब्रह्म को प्राप्त होता है। ‡

---

* देहाभिमान से ही आत्मा का कर्तृत्व है। स्वतः नहीं देखो पूर्व ४। २० और ५। ८।

† रामानुज के अनुसार यह भी जीवात्म का स्वरूप वर्णन है।

‡ इस सारी सृष्टि का अधार एक परम पुरुष है, स्थावर जंगम का सारा भेद उसका किया हुआ है। शंकराचार्य के अनुसार

संगति—इस एक की विलक्षणता दिखलाते हैं :—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ३२ ।

श—(अनादित्वात्, निर्गुणत्वात्) अनादि होने से निर्गुण होने से (परमात्मा, अयं, अव्ययः) परमात्मा यह अविनाशी (शरीर-स्थः, अपि, कौन्तेय) शरीर में रहता हुआ भी हे कौन्तेय ! (न, करोति, न लिप्यते) न करता है न लिप्त होता है ।

अ—यह परमात्मा हे कौन्तेय ! अनादि होने से और निर्गुण होने से अविनाशी है और शरीर में रहता हुआ भी न करता है न लिप्त होता है ।

संगति—इसमें दृष्टान्त कहते हैं :—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते । ३३

श—(यथा, सर्व-गतं, सौक्ष्म्यात्, आकाशं, न उपलिप्यते) जैसे सर्वगत सूक्ष्म होने से आकाश नहीं लिप्त होता है (सर्वत्र, अवस्थितः, देहे) हरएक में स्थित देह में (तथा, आत्मा, न, उप-लिप्यते) वैसे आत्मा नहीं लिप्त होता है ।

अ—जैसे सर्वगत आकाश सूक्ष्म होने से लिप्त नहीं होता* है वैसे हरएक देह में स्थित परमात्मा लिप्त नहीं होता है ।

एक परमात्मा जो सब भूतों में भिन्नरूप से स्थित है, रामानुज के अनुसार आत्मा सारे सम है भेद सारा एक प्रकृति में स्थित है ।

* कीचड़ आदि में स्थित भी आकाश असंग होने से कीचड़ आदि से लिप्त नहीं होता ।

संगति—सूर्य के दृष्टान्त से सर्वत्र उसका प्रकाश दिखलाते हैं:—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।३४।

श—(यथा, प्रकाशयति) जैसे प्रकाशता है (एकः, कृत्स्नं, लोकं, इमं, रविः) अकेला सारे लोक इसको सूर्य (क्षेत्रं, क्षेत्री, तथा, कृत्स्नं) क्षेत्र को क्षेत्र का मालिक वैसे सारे को (प्रकाशयाति, भारत) प्रकाशता है हे भारत !

अ—जैसे सूर्य अकेला इस सारे लोक को प्रकाशित करता है, वैसे क्षेत्र का मालिक इस सारे क्षेत्र (प्रकृति और उसके कार्य) को प्रकाशित करता है।

संगति—अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं :—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ३५

श—(क्षेत्र-क्षेत्र-ज्ञयोः, एवं, अन्तरं) क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के इसप्रकार भेद को,(ज्ञान-चक्षुषा) ज्ञान के नेत्र से (भूत-प्रकृति-मोक्षं,च) और भूतों की प्रकृति से छूटना (ये, विदुः, यान्ति, ते, परं) जो जानते हैं, प्राप्त होते हैं वह परमात्मा को।

अ—इसप्रकार जो ज्ञानके नेत्र से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को देखते हैं और (यह जो स्थावर जंगम) भूतों की प्रकृति (कही है उस) से छूटने के उपाय (ध्यानादिक) को देखते हैं, वह परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः

संगति-पूर्व अध्याय में गुणों में आसक्ति मनुष्य के अच्छे बुरे जन्मों का कारण कहा है, (१३ । २१) सो गुण क्या हैं, गुणों में आसक्ति कैसे होती है, किस २ गुण में आसक्ति से क्या २ फल होता है। गुणयुक्त पुरुष का क्या लक्षण होता है और गुणों से छुटकारा कैसे होता है, यह सब कहना चाहते हुए :-

श्री भगवानुवाच=श्री भगवान् बोले

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितोगताः १

श-(परं, भूयः प्रवक्ष्यामि) उत्कृष्ट फिर कहूंगा (ज्ञानानां, ज्ञानं, उत्तम) ज्ञानों में से ज्ञान उत्तम (यत्-ज्ञात्वा, मुनयः, सर्वे) जिसको जानकर मुनि सारे (परां, सिद्धिं, इतः, गताः) परम सिद्धि को यहां से प्राप्त हुए हैं।

अ-वह उत्कृष्ट ज्ञान जो सारे ज्ञानों में से उत्तम है, तुझे फिर बतलाऊंगा, जिसको जानकर सारे मुनि यहां से परमसिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।२

श-(इदं, ज्ञानं, उपाश्रित्य) इस ज्ञान का आश्रय लेकर (मम साधर्म्यं, आगताः) मेरे समान स्वभाव को प्राप्त हुए (सर्गे, अपि न, उपजायन्ते) सृष्टि काल में भी नहीं उत्पन्न होते हैं (प्रलये, न व्यथन्ति, च) और प्रलय में दुःखी नहीं होते हैं।

संगति-इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे समान स्वभाव को प्राप्त हुए सृष्टिकाल में भी उत्पन्न नहीं होते हैं, और प्रलय में दुःखी नहीं होते हैं।

संगति–इसप्रकार ज्ञान की प्रशंसा से श्रोता को सन्मुख करके अब " परमेश्वर के आधीन प्रकृति और पुरुष भूतों की उत्पत्ति में हेतु हैं न कि स्वतन्त्र " इस अभिप्रेत विषय को बतलाते हैं :—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत। ३

श–(मम, योनिः, महद्, ब्रह्म) मेरी योनि प्रकृति (तस्मिन्, गर्भं, दधामि, अहं) उसमें गर्भ धारण करता हूं मैं (संभवः, सर्व-भूतानां) उत्पत्ति सारे भूतों की (ततः, भवति, भारत) उस से होती है हे भारत।

अ–मेरी योनि प्रकृति * है, उसमें मैं गर्भ धारता हूं, उस (गर्भ धारण) से सारे भूतों की उत्पत्ति होती है हे भारत !

संगति–न केवल सृष्टि के आरम्भ में ही मेरे अधीन प्रकृति पुरुष से इसप्रकार भूतों की उत्पत्ति होती है, अपितु सर्वदा ही इसी तरह होती है, यह कहते हैं :—

सर्वयोनिषु कौन्तेय! मूर्तयःसंभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४

श–(सर्व-योनिषु, कौन्तेय) सारी योनियों में हे कौन्तेय ! (मूर्तयः, संभवन्ति, याः) मूर्त्तियें उत्पन्न होती हैं, जो (तासां, ब्रह्म महत्, योनिः) उनकी प्रकृति योनि (अहं, बीज-प्रदः, पिता) मैं बीज का देनेवाला पिता।

---

* यहां प्रकृति को महद्ब्रह्म कहा है, प्रकृति योनि है, उसमें गर्भ अर्थात् जीव पुञ्ज को परमात्मा डालते हैं, उस से सारे जीवों की उत्पत्ति होती है।

अ–हे कौन्तेय ! सारी योनियों में जो मूर्त्तियां उत्पन्न होती हैं, उन सब की योनि प्रकृति है और मैं बीज देनेवाला पिता हूं ।

संगति–सो इसप्रकार परमेश्वर के अधीन प्रकृति पुरुष से सब भूतों की उत्पत्ति निरूपण करके गुणों के सङ्ग से पुरुष का संसार (आवा गवन) निरूपण करते हैं :—

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नंति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् । ५

श–(सत्त्वं, रजः तमः इति) सत्त्व रज तम यह (गुणाः, प्रकृति-सम्भवाः) गुण प्रकृति से प्रकट होने वाले (निबध्नान्ति, महबाहो, देहे, देहिनं, अव्ययं) बांधते हैं हे महाबाहो देह में आत्मा अविनाशी को ।

अ–हे महाबाहो प्रकृति से प्रकट होने वाले* सत्त्व, रज, तम यह तीन गुण देह में अविनाशी आत्मा को बांधते हैं ।

संगति–क्रमशः तीनों गुणों का लक्षण और बांधने का प्रकार कहते हैं :–

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६

श–(तत्र, सत्त्वं, निर्मलत्वात्, प्रकाशकं, अनामयम्) उनमें से सत्त्व स्वच्छ होने से प्रकाश करनेवाला और आरोग्यदायक (सुख-

---

* गुणों की समता की अवस्था का नाम प्रकृति है, उससे सत्व, रज, तम प्रकट होते हैं ।

सङ्गेन, बध्नाति, ज्ञान-सङ्गेन, च, अनघ) सुख के सङ्ग से बांधता है और ज्ञान के सङ्ग से हे निष्पाप !

अ—उनमें से सत्त्व स्वच्छ होने के हेतु प्रकाश करनेवाला और आरोग्यदायक है हे निष्पाप ! (आरोग्यदायक होने से) वह सुख के सङ्ग से और (प्रकाशक होने से) ज्ञान के सङ्ग से बांधता है (उसको सुख और ज्ञान से लगाव होजाता है इसलिये वह इससे बंध जाता है)

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ।७

श—(रजः, राग-आत्मकं, विद्धि) रज को राग के स्वभाववाला जान (तृष्णा, सङ्ग-समुद्भवम्) तृष्णा सङ्ग की उत्पत्ति का स्थान (तत्, निबध्नाति, कौन्तेय) वह बांधता है हे कौन्तेय ! (कर्म, सङ्गेन देहिनं) कर्म के सङ्ग से आत्मा को ।

अ—रजो गुण को तू राग (ख्वाहिश) रूप जान, और इससे तृष्णा और सङ्ग की उत्पत्ति होती है*, हे कौन्तेय! वह कर्म के सङ्ग से आत्मा को बांधता है (कर्म में लगाव पैदा कर देता है)

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।८

श—(तमः, तु, अज्ञान-जं, विद्धि) तम को तो अज्ञान से उत्पन्न हुआ जान (मोहनं, सर्व-देहिनां) मोहनेवाला सारे देह धारियों का (प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः) प्रमाद आलस्य निद्रा से (तत्

* जीवन के लिये राग और प्रीति । अथवा अप्राप्त वस्तु में इच्छा तृष्णा । है और प्राप्तकी प्रीति संग है ।

निबध्नाति, भारत) वह बांधता है हे भारत !

अ—पर तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न होनेवाला और सारे देह धारियों का मोहनेवाला (धोखे में डालने वाला) जान, वह हे भारत ! प्रमाद आलस्य और निद्रा से बांधता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत। ९

श—(सत्त्वं, सुखे, संजयति) सत्त्व सुख में लगाता है (रजः, कर्मणि, भारत) रजोगुण कर्म में हे भारत (ज्ञानं, आवृत्य, तु) ज्ञान को ढांपकर और (तमः, प्रमादे, सञ्जयति, उत) तम प्रमाद में लगाता है।

अ—हे भारत ! सत्त्व गुण सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में, और तमोगुण ज्ञान को ढांपकर प्रमाद में लगाता है।

संगति—कौन गुण किस समय अपना कार्य दिखलाता है यह कहते हैं :—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा। १०

श—(रजः, तमः, च, अभि-भूय) रज और तम को दबाकर (सत्वं, भवति, भारत) सत्त्व होता है हे भारत (रजः, सत्त्वं, तमः च, एव) और रज सत्त्व तमको (तमः, सत्त्वं, रजः, तथा) तम सत्त्व रजको वैसे।

अ—हे भारत! सत्त्वगुण रज और तमको दबाकर प्रकट होता है, इसीतरह तमोगुण सत्त्व और रज को, और रजो गुण तम और सत्त्व को(दबाकर प्रकट होता है)

संगति—हरएक गुण के प्रकाश होने के अलग २ चिन्ह कहते हैं:—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत । ११

श—(सर्व-द्वारेषु, देहे, अस्मिन्) सारे द्वारों में देह इसमें (प्रकाश, उपजायते, ज्ञानं, यदा) प्रकाश बढ़ता है ज्ञान जब (तदा विद्याद, विवृद्धं, सत्त्वं, इति, उत) तब जाने बढ़ा हुआ सत्त्व यह ।

अ—जब इस देह के सारे द्वारों (इन्द्रियों) में ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है, तब जाने, कि सत्त्व बढ़ा हुआ है ।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ । १२

श—(लोभः, प्रवृत्तिः, आरम्भः, कर्मणां) लालच, प्रवृत्ति आरम्भ कर्मों का (अशमः, स्पृहा) अशान्ति इच्छा (रजसि, एतानि जायन्ते, विवृद्धे, भरत-ऋषभ) रज के यह उत्पन्न होते हैं बढ़ने पर हे भरतों में श्रेष्ठ !

अ—हे भरतों में श्रेष्ठ ! जब रज बढ़ता है, तब लोभ, प्रवृत्ति (लगे रहना), (नये नये) कर्मों का आरम्भ, अशान्ति (भटकना) और स्पृहा (इधर उधर से ग्रहण की इच्छा) उत्पन्न होते हैं ।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन । १३

श—(अप्रकाशः, अप्रवृत्तिः, च) प्रकाश न होना और प्रवृत्ति न होनी (प्रमादः, मोहः, एव, च) प्रमाद और मोह (तमसि

एतानि, जायन्ते, विवृद्धे, कुरु-नन्दन) तम के यह उत्पन्न होते हैं बढ़ने पर हे कुरुनन्दन !

अ–हे कुरुनन्दन जब तम बढ़ता है, तब प्रकाश और प्रवृत्ति का अभाव होता है और प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं।

संगति–मरण समय में बढ़े हुए सत्त्वादि गुणों के अलग २ फल कहते हैं :–

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते। १४

श–(यदा, सत्त्वे, प्रवृद्धे, तु) जब सत्त्व के बढ़ने पर निःसन्देह (प्रलयं, याति, देहभृत्) मरण को प्राप्त होता है देहधारी (तदा उत्तम-विदां, लोकान्, अमलान्, प्रतिपद्यते) तब उत्तम के जानने वालों के लोक निर्मलों को प्राप्त होता है।

अ–जब सत्त्व गुण की वृद्धि में देहधारी की मृत्यु होती है-तब उत्तम तत्त्व (सूक्ष्मतत्त्व) जाननेवालों के प्रकाशमय लोकों को प्राप्त होता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते। १५

श–(रजसि, प्रलयं, गत्वा,) रज में लय को प्राप्त होकर (कर्म-सङ्गिषु, जायते) कर्म सङ्गियों में उत्पन्न होता है (तथा, प्रलीनः, तमसि, मूढ-योनिषु, जायते) वैसे लीन हुआ तम में मूढ योनियों में उत्पन्न होता है।

अ–रजोगुण में लीन होकर कर्म संगियों (काम्य कर्म करने

वालों में उत्पन्न होता है, वैसे तमोगुण में लीन हुआ मूढ (पशु) पक्षी आदि) योनियों में उत्पन्न होता है (इसलिये रज तम को घटाने और सत्त्वगुण के बढ़ाने का सदा यत्न करना चाहिये)।

संगति–गुणों से किये कर्मों का फल कहते हैं :—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्। १६

श–(कर्मणः, सुकृतस्य, आहुः) कर्म पुण्य का कहते हैं (सात्त्विकं, निर्मलं, फलं) सत्त्वगुणी निर्मल फल (रजसः, तु, फलं, दुःखं) रज का और फल दुःख (अज्ञानं, तमसः, फलं) अज्ञान तम का फल।

अ–सात्विक कर्म का सत्त्वगुणी निर्मल (शुद्ध, प्रकाश प्रधान सुख) फल कहते हैं, राजसकर्म का फल दुःख और तामसकर्म का फल अज्ञान कहते हैं। *

संगति–इसप्रकार फल की विचित्रता में पूर्वोक्त ही हेतु कहते हैं :—

सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च। १७

श–(सत्त्वात्, सञ्जायते, ज्ञानं) सत्त्व से उत्पन्न होता है ज्ञान (रजसः, लोभः, एव, च) और रज से लोभ ही (प्रमाद-मोहौ, तमसः, भवतः, अज्ञानं, एव, च) प्रमाद मोह तम से होते हैं और अज्ञान ही॥

---

* सात्विक राजस और तामस कर्मों का लक्षण देखो १८। २३—२५।

अ—सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है (इसलिये उसका प्रकाश प्रधान सुख फल होता है) रज से लोभ उत्पन्न होता है (लोभ में कभी तृप्ति न होने से उसका फल दुःख कहा है) तम से प्रमाद मोह अज्ञान होते हैं॥

संगति—सत्त्वादि स्वभाववालों के फल भेद कहते हैं :—

ऊर्ध्वंगच्छन्तिसत्त्वस्थामध्येतिष्ठन्तिराजसाः
जघन्यगुणवृत्तस्थाअधोगच्छन्ति तामसाः

श—(ऊर्ध्व, गच्छन्ति, सत्त्व-स्थाः) ऊपर जाते हैं सत्त्व में स्थित (मध्ये, तिष्ठन्ति, राजसाः) मध्य में रहते हैं राजस (जघन्य-गुण-वृत्त-स्थाः, अधः, गच्छन्ति, तामसाः) निचले गुण के स्वभाव में बर्तते हुए नीचे जाते हैं तामस॥

अ—सत्त्वगुणी लोग ऊपर जाते हैं, रजोगुणी मध्य में रहते हैं और निचले गुणों के स्वभाव में रहते हुए तमोगुणी लोग नीचे जाते हैं। *

संगति—किसप्रकार प्रकृति पुरुष को बांधती है, इसका उत्तर कहा, अब कैसे उससे मुक्ति होती है, इसका उत्तर कहते हैं :—

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति १९

श—(न, अन्यं, गुणेभ्यः, कर्त्तारं) नहीं भिन्न को गुणों से कर्त्ता (यदा, द्रष्टा, अनुपश्यति) जब द्रष्टा देखता है (गुणेभ्यः, च,

* मनुष्य से ऊपर मनुष्य गन्धर्वादि हैं, (देखो तैत्ति॰ ब्रह्मवल्ली अनुवाक ८) और मनुष्य से नीचे पशु पक्षी आदि॥

परं, वेत्ति) और गुणों से पर को जानता है (मद्भावं, सः, अधि गच्छति) मेरे भाव को वह प्राप्त होता है।

अ—जब गुणों से भिन्न कर्ता को नहीं देखता है (गुण ही अपने २ स्वरूप के अनुसार देही को कर्म में लगाते हैं, देही अपने आप अकर्त्ता है, यह साक्षात् अनुभव कर्त्ता है) और गुणों से परले तत्व (आत्मतत्व जीवात्मा और परमात्मा) को जानता है, वह मेरेभाव (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

संगति—वह मेरा भाव (भगवद्-भाव) क्या है, यह वतलाते हैं:—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते २०

श—(गुणान्, एतान्, अतीत्य, त्रीन्) गुण इन को उलांघकर तीन को (देही, देह-समुद्भवान्) देही शरीरों के उत्पन्न करने वाले (जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः) जन्म मरण बुढापे दुःखों से (विमुक्तः, अमृतं, अश्नुते) मुक्त हुआ अमृत भोगता है।

अ—जब देही इन तीनों गुणों को जिनसे सारे देह उत्पन्न होते हैं—उलांघ जाता है, तब जन्म मरण बुढ़ापे और दुःखों से छूटकर अमृत को भोगता है।

संगति—इन गुणों को उलांघकर अमृत को भोगता है, यह सुन कर गुणों को उलांघे हुए पुरुष का लक्षण, आचार और गुणों के उलांघने का उपाय जानना चाहता हुआ—

अर्जुन उवाच-अर्जुन बोला

कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते २१

श-(कैः, लिङ्गैः) किन चिह्नों से (त्रीन्, गुणान्, एतान्, अतीतः, भवति, प्रभो) तीन गुण इन को उलांघा हुआ होता है प्रभो (किम्-आचारः) किस आचारवाला (कथं, च, एतान्, त्रीन्, गुणान्, अतिवर्तते) और कैसे इन तीन गुणों को उलांघता है

अ-किन चिन्हों से हे प्रभो ! इन तीन गुणों को उलांघा हुआ (पुरुष) होता है ? (यह लक्षण का प्रश्न है) उस का आचार क्या होता है, और किस उपाय से इन तीन गुणों को उलांघता है ।

संगति-लक्षण प्रश्न का उत्तर देते हुए-

श्री भगवानुवाच-श्री भगवान् बोले

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति २२

श-(प्रकाशं, च, प्रवृत्तिं, च मोहं, एव, च, पाण्डव) प्रकाश प्रवृत्ति और मोह को हे पाण्डु के पुत्र (न, द्वेष्टि, सम्प्रवृत्तानि) नहीं द्वेष करता है प्रवृत्त हुओं को (न, निवृत्तानि, काङ्क्षति) नहीं निवृत्त हुओं को चाहता है ।

अ-हे पाण्डव ! प्रवृत्त हुए प्रकाश प्रवृत्ति और मोह से जो द्वेष नहीं करता, और निवृत्त हुओं की इच्छा नहीं करता है ।

भाष्य–शरीर के होते हुए गुणों के कार्य भी होते ही रहते हैं, पर जिस के राग द्वेष निवृत्त होगए हैं, उस का चित्त इतना गम्भीर बनजाता है, कि किसी गुण का कार्य अपने आप हो, वा निवृत्त होजाए, उसको किसी की चाह नहीं रहती है, और न ही किसी से द्वेष रहता है, जो कुछ स्वभावतः होता रहे, होता रहे, ऐसा पुरुष गुणातीत कहलाता है।

संगति–ऊपर जो गुणातीत का लक्षण कहा है, इसको तो पुरुष आप ही जान सक्ता है, अब जिस लक्षण को दूसरे भी जान सकें, उस लक्षण के कहने के लिये 'किमाचारः' इस दूसरे प्रश्न का उत्तर तीन श्लोकों से कहते हैं:—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते २४
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियोधीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते२५

श–(उदासीन–वत्, आसीनः) उदासीन की तरह स्थित (गुणैः, यः, न, विचाल्यते) गुणों से जो नहीं हिलाया जाता (गुणाः, वर्तन्ते, इति, एव) गुण वर्तते हैं ऐसे ही (यः, अवतिष्ठति, न, इङ्गते) जो स्थिर रहता है डोलता नहीं है ॥ २३ ॥ (सम-दुःख-सुखः, स्व-स्थः) बराबर हैं सुख दुःख जिसको अपने आप में स्थित (सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः) तुल्य है ढेला पत्थर सोना

जिसको (तुल्य-प्रिय-अप्रियः,धीरः) तुल्य हैं प्रिय अप्रिय जिसको धीर (तुल्य-निन्दा-आत्म-संस्तुतिः) तुल्य हैं निन्दा और अपनी स्तुति जिसको ॥ २४ ॥ (मान-अपमानयोः, तुल्यः) मान अपमान में तुल्य (तुल्यः, मित्र-अरि-पक्षयोः) तुल्य मित्र और शत्रु के पक्ष में (सर्व-आरम्भ-परित्यागी) सारे धन्धों का त्यागी (गुण-अतीतः, सः, उच्यते) गुणों को उलांघा हुआ वह कहलाता है।

अ—उदासीन की तरह स्थित हुआ जो गुणों (के कार्यों) से नहीं हिलाया जाता है, किन्तु गुण (अपने कार्यों में) बर्तते हैं, ऐसा जानकर अपने स्वरूप में स्थिर रहता है, डोलता नहीं है ॥ २३ ॥ जिसको सुख और दुःख तुल्य हैं, क्योंकि वह अपने स्वरूप में ही स्थित है, जिसको ढेला पत्थर और सोना तुल्य हैं, जिस को प्रिय और अप्रिय तुल्य हैं, जो धैर्यवाला है, जिस को अपनी निन्दा और स्तुति तुल्य है ॥ २४ ॥ जो मान अपमान में तुल्य है, जो मित्र पक्ष और शत्रु पक्ष में तुल्य है, जो सारे धन्धे त्याग चुका है, वह गुणातीत कहलाता है ॥ २५ ॥

संगति—और कैसे इन तीन गुणों को उलांघता है, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं:—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
सगुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते २६

श—(मां, च, यः, अव्यभिचारेण, भक्तियोगेन, सेवते) और मुझे जो अव्यभिचारि भक्तियोग से सेवन करता है (सः, गुणान्, समतीत्य, एतान्) वह गुणों को उलांघकर इन (ब्रह्म-भूयाय, कल्पते) ब्रह्मभाव के योग्य होता है।

अ–जो अव्यभिचारि (न बदलने वाले) भक्तियोग से मेरी सेवा करता है, वह इन गुणों को उलांघ कर ब्रह्मभाव (मोक्ष) के योग्य होता है।

संगति–इसमें हेतु कहते हैं :–

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।

श–(ब्रह्मणः, हि, प्रतिष्ठा, अहं) ब्रह्माण्ड का क्योंकि आश्रय मैं, (अमृतस्य, अव्ययस्य, च) और मोक्ष अविनाशी का (शाश्वतस्य, च, धर्मस्य) और सदा रहनेवाले धर्म का (सुखस्य, एक-अन्तिकस्य, च) और सुख अखण्ड का।

अ–क्योंकि मैं इस ब्रह्माण्ड का, अविनाशी मोक्ष का, सदा-रहनेवाले धर्म का, और अखण्ड सुख का आश्रय हूं।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।

संगति–पूर्व अध्याय के अन्त में कहा है, मैं अखण्ड सुख का आश्रय हूं, सो उस सुख का लक्षण क्या है, किस से वह ढपा हुआ है, किसतरह उसका ढकना खुलता है, और कौन अधिकारी उस को पासकता है, इत्यादि वर्णन करने के लिये पन्द्रहवां अध्याय आरम्भ करते हैं। सो पहले संसार को वृक्षरूप से वर्णन करते हैं।

श्री भगवानुवाच––श्री भगवान् बोले।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्। १

श–(ऊर्ध्व-मूलं, अवाक्-शाखं) ऊपर जड़वाले नीचे शाखाओं

वाले (अश्वत्थं, प्राहुः, अव्ययं) अश्वत्थ को कहते हैं अविनाशी (छन्दांसि, यस्य, पर्णानि) छन्द जिसके पत्ते (यः, तं, वेद, सः, वेद-वित्) जो उसको जानता है, वह वेद का जानने वाला है।

अ–ऊपर जड़वाले और नीचे शाखों वाले इस अश्वत्थ (संसार वृक्ष) को अविनाशी कहते हैं, छन्द इसके पत्ते हैं जो इस को जानता है, वह वेदवेत्ता है।

भाष्य–अश्वत्थ पीपल को कहते हैं । यहां संसार को इस घनी छाया वाले वृक्ष के रूप में वर्णन किया है । यह सारा संसार प्रपञ्च एक वृक्ष है, इसका मूल ईश्वर है, जो ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ते २ सब के अन्त में है, अतएव सब से ऊंचा है, सब लोक लोकान्तर और उनके वासी इसकी शाखें हैं, यह संसार वृक्ष प्रवाह रूप से अविनाशी है, छन्द अर्थात् वेद इसके पत्ते हैं, जिनकी छाया में विश्राम मिलता है, इतना ही वेद का तत्त्व अर्थ है, अतएव जो इसको जानता है, वह वेद का जानने वाला है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः। अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २

श–(अधः, च, ऊर्ध्वं, प्रसृताः, तस्य, शाखाः) नीचे और ऊपर फैली हुई उसकी शाखें (गुण-प्रवृद्धाः, विषय-प्रवालाः) गुणों से पुष्ट की हुई विषयरूपी कोंपलों वाली (अधः, च, मूलानि, अनुसन्ततानि) और नीचे उसकी जड़ें फैली हुई हैं (कर्म-अनु-बन्धीनि, मनुष्य-लोके) कर्म के बन्धन वाली मनुष्यलोक में।

अ—नीचे ऊपर उसकी शाखें फैली हुई हैं, जो (सत्त्वादि) गुणों से पुष्ट की जाती हैं, और (शब्द स्पर्शादि) विषय जिनकी कोपलें हैं। नीचे (मुख्य जड़ के सिवाय दूसरी छोटी) जड़ें फैली हुई हैं, जो इस मनुष्यलोक * में कर्म से बन्धी हुई हैं।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा। अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा॥ ३
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

श—(न, रूपं, अस्य) न रूप इसका (इह, तथा, उपलभ्यते) यहां वैसा जाना जाता है (न, अन्तः, न, च, आदिः) न अन्त और न आदि (न, च, सम्प्रतिष्ठा) और न स्थिति (अश्वत्थं, एनं, सुविरूढ-मूलं) अश्वत्थ इस जमी हुई जड़वाले को (असंग-शस्त्रेण, दृढेन, छित्वा) असंग शस्त्र दृढ़ से काटकर। ३। (ततः, पदं, तत्, परिमार्गितव्यं) तब पद वह ढूंढना चाहिये (यस्मिन्, गताः, न, निवर्तन्ति, भूयः) जहां पहुंचे हुए नहीं लौटते हैं फिर (तं, एव, च, आद्यं, पुरुषं अपद्ये) उसी आद्य पुरुष की शरण लेता हूं (यतः, प्रवृत्तिः, प्रसृता, पुराणी) जिस से प्रवृत्ति फैली है पुराणी।

---

* मनुष्य ही कर्म का अधिकारी है, इसलिये मनुष्यलोक में कहा है॥

अ-यहां (संसार में स्थित प्राणियों में) इस (संसार वृक्ष) का वैसा (वर्णन किया हुआ) रूप नहीं पाया जाता है, न अन्त न आदि पाया जाता है, और न स्थिति (कैसे स्थित है) जानी जाती है, इस जमी हुई जड़ों वाले अश्वत्थ को असंग (बे लगाव) रूपी दृढ़ शस्त्र से काटकर । ३ । तब उस (मूल भूत वैष्णव) पद को ढूंढना चाहिये, जहां पहुंचे हुए फिर नहीं लौटते हैं (ढूंढने का प्रकार कहते हैं) जिस से यह पुरानी (संसार की) प्रवृत्ति फैली है, उसी आद्य पुरुष की शरण लेता हूं (इसप्रकार दृढ़ भक्ति से ढूंढे) ।

संगति-उसकी प्राप्ति में और साधन दिखलाते हुए कहते हैं :-

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्म नित्या विनिवृत्तकामाः । द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुख दुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५

श-(निर्-मान-मोहाः, जित-संग-दोषाः) दूर होगया है मान मोह जिनसे, जीता है संग दोषों को जिन्होंने (अध्यात्म-नित्याः, विनिवृत्त-कामाः) अध्यात्म में लगे हुए दूर हुई कामनाओं वाले (द्वन्द्वैः, विमुक्ताः, सुख-दुःख-संज्ञैः) द्वन्द्वों से छूटे हुए सुख दुःख नामवाले (गच्छन्ति, अमूढाः, पदं, अव्ययं, तत्) प्राप्त होते हैं मोह से रहित हुए पद अविनाशी उसको ।

अ-(इसप्रकार मेरी शरण में आये हुए वह) मान मोह (अहङ्कार और मिथ्याभिनिवेश) को दूर कर, (और) पुत्रादि में संग के दोषों को छोड़कर, अध्यात्म ज्ञान में लगे हुए, कामनाओं को त्यागे हुए, सुख दुःख नामवाले द्वन्द्वों (शीत उष्ण आदि) से छूटकर, मोह से रहित हुए उस अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं ।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः । यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं परं ॥ ६

श-(न, तत्, भासयते, सूर्यः) नहीं उसको प्रकाशित करता है सूर्य (न, शश-अङ्कः, न, पावकः) न चन्द्र न अग्नि (यत्, गत्वा न, निवर्तन्ते) जिसको प्राप्त होकर नहीं लौटते हैं (तत्-धाम, परमं, मम) वह धाम परम मेरा है।

अ-उस (पद) को न सूर्य प्रकाशित करता है न चन्द्र, न अग्नि, जिसको प्राप्त होकर (योगीजन) नहीं लौटते हैं, वह मेरा परमधाम* है।

संगति-यह जीव कौन है, जिसको संसार के बन्धन से मुक्ति होती है और किससे इसका संसार से सम्बन्ध होता है यह कहते हैं-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।

श-(मम, एव, अंशः) मेराही अंश (जीव-लोके, जीवभूतः, सनातनः) जीवलोक में जीवस्वरूप सनातन (मनः षष्ठानि, इन्द्रियाणि) मन जिन में छटा है उन इन्द्रियों को (प्रकृति-स्थानि, कर्षति) प्रकृति में स्थित खींचता है।

अ-† मेरा ही अंश जीवलोक में जीवस्वरूप सनातन है, जो प्रकृति में स्थित पांचों इन्द्रियों और छटवें मन को (भोग भोगने के लिये) खींचता है।

संगति-उनको खींचकर क्या करता यह कहते हैं—

---

* परमधाम = सब से उत्तम स्थान ब्रह्मलोक। न लौटने से अभिप्राय महाप्रलय पर्य्यन्त है (देखो पूर्व ८। १६)।

† सनातन कहने से जीव का अनादि होना सिद्ध किया है, चेतन होने से उसे परमात्मा का अंश कहा है, अर्थात् अंश की तरह है। यह एक चेतन अणु है, इसलिए परिपूर्ण चेतन के एक अंश की तरह है इसी अभिप्राय से मुण्डक २। १। १ और बृहदारण्यक ४। १। २० में अग्नि और चिंगारी से तुलना की है। यह जीवात्मा पांच

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ८

श-(शरीरं, यत्, अवाप्नोति) शरीर को जब प्राप्त होता है (यत्, च, अपि, उत्क्रामति, ईश्वरः) और जब भी निकलता है मालिक (गृहीत्वा, एतानि, संयाति) ग्रहण करके इनको जाता है (वायुः, गन्धान्, इव, आशयात्) वायु गन्धों को जैसे स्थान से ।

अ-(शरीर का) मालिक (जीवात्मा) जब शरीर को प्राप्त होता है । और जब निकलता है, तब इन (इन्द्रियों) को ग्रहण करके जाता है जैसे वायु (गन्ध के) स्थान (कस्तूरी केसर पुष्पादि से) गन्धों को (ग्रहण करके जाता है) ।

संगति-उन्हीं इन्द्रियों को दिखलाते हुए जिस प्रयोजन के लिये वह ग्रहण करके जाता है वह कहते हैं :—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते । ९

श-(श्रोत्रं, चक्षुः, स्पर्शनं, च, रसनं, घ्राणं, एव, च) कान नेत्र त्वचा रसना और घ्राण का (अधिष्ठाय, मनः, च) अधिष्ठाता होकर और मनका (विषयान्, उपसेवते) विषयों को भोगता है ।

अ-कान, नेत्र, त्वचा, रसना, घ्राण और मन का अधिष्ठाता होकर यह जीव विषयों को भोगता है ।

ज्ञानेन्द्रियों को और छटे मन को प्रकृति में से ग्रहण करके प्रकृति के भोगों को भोगता है ।

संगति—उस जीव को ज्ञानी ही देखते हैं, मूढ़ नहीं:—

उत्क्रामन्तंस्थितंवापिभुञ्जानंवा गुणान्वितम्
विमूढा नानुपश्यन्तिपश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।

श—(उत्क्रामन्तं, स्थितं, वा, अपि) निकलते हुए को स्थित हुए को वा भी (भुञ्जानं, वा, गुण-अन्वितं) भोगते हुए को वा गुणों से युक्त को (विमूढाः, न, अनुपश्यन्ति) मूढ नहीं देखते हैं (पश्यन्ति, ज्ञान-चक्षुषः) देखते हैं ज्ञान नेत्र वाले।

अ—(देह से) निकलते हुए वा (देह में) स्थित हुए वा गुणों से युक्त होकर (विषयों को) भोगते हुए को मूढ नहीं देखते हैं, ज्ञान के नेत्रवाले देखते हैं।

संगति—विना प्रयत्न और मन की पवित्रता के उसको नहीं देख सक्ते हैं, यह कहते हैं :—

यतन्तोयोगिनश्चैनंपश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनंपश्यन्त्यचेतसः।

श—(यतन्तः, योगिनः, च, एनं) यत्न करते हुए योगी इसको (पश्यन्ति, आत्मनि, अवस्थितं) देखते हैं आत्मा में स्थित (यतन्तः, अपि, अकृत-आत्मानः) यत्न करते हुए भी न शोधे हुए चित्तवाले, (न, एनं, पश्यन्ति, अचेतसः) नहीं इसको देखते हैं मन्दमति।

अ—यत्न करते हुए योगीजन इसको अपने आत्मा में स्थित देखते हैं, और यत्न करते हुए भी अशुद्ध चित्तवाले मन्दमति लोग नहीं देखते हैं।

संगति—शरीर में जीव की ज्योति दिखलाकर सारे विश्व में परमात्मा की ज्योति दिखलाते हैं :—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

श–(यत्, आदित्य-गतं, तेजः) जो सूर्यगत तेज (जगत्, भासयते, अखिलं) जगत् को प्रकाश करता है सारे को (यत्, चन्द्रमसि, यत्, च, अग्नौ) जो चन्द्रमा में और जो अग्नि में (तत्, तेजः, विद्धि, मामकं) वह तेज जान मेरा ।

अ–सूर्य में स्थित तेज जो सारे जगत् को प्रकाशित करता है जो चन्द्रमा में है और जो अग्नि में है, उस तेज को तू मेरा जान ।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामिचौषधीःसर्वाःसोमोभूत्वारसात्मकः ।

श–(गां, आविश्य, च) और पृथिवी में प्रवेश करके (भूतानि, धारयामि, अहं, ओजसा) भूतों को धारण करता हूं मैं बल से (पुष्णामि, च, ओषधीः, सर्वाः) और पुष्ट करता हूं ओषधि सारी को (सोमः, भूत्वा, रस-आत्मकः) सोम होकर रसरूप ।

अ–पृथिवी में प्रवेश करके सारे भूतों को अपने बल से धारण करता हूं, और रसमय सोम होकर सारी ओषधियों को पुष्ट करता हूं ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

श–(अहं, वैश्वानरः, भूत्वा) मैं वैश्वानर होकर (प्राणिनां, देहं, आश्रितः) प्राणियों के देह में रहता हुआ (प्राण-अपान-समा-

युक्तः) प्राण अपान से युक्त हुआ (पचामि, अन्नं, चतुर्-विधं) पकाता हूं अन्न चार प्रकार का।

अ—मैं वैश्वानर (जाठराग्नि) होकर प्राणियों के देह में रहता हुआ प्राण अपान से युक्त होकर चार प्रकार के * अन्न को पकाता हूं।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५

श—(सर्वस्य, च, अहं, हृदि, सन्निविष्टः) सब के मैं हृदय में स्थित हूं (मत्तः, स्मृतिः, ज्ञानं, अपोहनं, च) मुझ से स्मृति ज्ञान और उनका अभाव (वेदैः, च, सर्वैः, अहं, एव, वेद्यः) वेद सारों से मैं ही जानने योग्य हूं (वेदान्त-कृत्, वेद-वित्, एव, च, अहं) वेद के सिद्धान्त का प्रवर्तक और वेद का जानने वाला मैं हूं।

अ—मैं सब के हृदय में स्थित हूं, मुझ से स्मृति ज्ञान और उनका अभाव होता है, सारे वेदों से मैं ही जानने योग्य हूं, वेद के सिद्धान्त का प्रवर्तक (आदि गुरु) और वेदार्थ का जानने वाला मैं ही हूं।

सं०—'वेदान्त कृद्वेदविदेव चाहं' कहकर वेद के रहस्य अर्थ का संग्रह करते हैं :—

---

* चार प्रकार का अन्न। भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य। भक्ष्य जो चबाकर खाया जाता है जैसे रोटी आदि। भोज्य जो निगला जाता है जैसे दूध आदि। लेह्य जो चाटा जाता है जैसे चटनी आदि। चोष्य जो चूसा जाता है जैसे गन्ना आदि।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।

श–(द्वौ, इमौ, पुरुषौ, लोके) दो यह पुरुष लोक में (क्षरः च, अक्षरः, एव, च) क्षर और अक्षर (क्षरः, सर्वाणि, भूतानि) क्षर सारे भूत (कूट-स्थः, अक्षरः, उच्यते) अहिरन की तरह स्थित अक्षर कहलाता है।

अ–लोक में यह दो पुरुष हैं, क्षर (विनाश वाला) और अक्षर (अविनाशी), उनमें से क्षर सारे भूत * हैं, और अहिरन की तरह (अपरिणामि होकर) स्थित (आत्मा) अक्षर कहा जाता है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः । १७

श–(उत्तमः, पुरुषः, तु, अन्यः) उत्तम पुरुष और भिन्न (परमात्मा, इति, उदाहृतः) परमात्मा ऐसे कहा गया है (यः लोक-त्रयं, आविश्य) जो लोक तीन में प्रवेश करके (बिभर्ति, अव्ययः, ईश्वरः) धारण पोषण करता है अविनाशी ईश्वर ॥

अ–उत्तम पुरुष इन दोनों से भिन्न है, जो परमात्मा कहा

---

* यहां भूत से तात्पर्य्य जीवों के शरीरमात्र से है, जैसाकि साधारण पुरुष शरीर को ही पुरुष कहते हैं, और ऐतरेयारण्यक में इसी दृष्टि से शरीर को पुरुष कहा है, सो इस श्लोक में इस देह में एक विनाशी देह और दूसरा अविनाशी आत्माका स्वरूपकहाहै, इससे आगे इस देह में स्थित आत्मा के भी आत्मा परमात्मा का स्वरूप कहते हैं :–

जाता है। जो अविनाशी ईश्वर *तीनों लोकों में प्रवेश करके उनका धारण पोषण करता है।

सं०—ईश्वर का नाम पुरुषोत्तम होने में यही हेतु कहते हैं :—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।

श—(यस्मात, क्षरं, अतीतः, अहं) जिससे क्षर को उलांघे हुए मैं (अक्षरात्, अपि. च, उत्तमः) और अक्षर से भी उत्तम (अतः, अस्मि, लोके, वेदे, च) इसलिये हूं लोक में और वेद में (प्रथितः, पुरुष-उत्तमः) प्रसिद्ध पुरुषोत्तम।

अ—जिसलिये मैं क्षर (शरीर पुरुष, जडवर्ग) से उत्तम हूं और अक्षर (चेतन पुरुष) से भी उत्तम हूं, इसलिये लोक और वेद में पुरुषोत्तम प्रसिद्ध हूं।

सं०—ऐसे परमात्मा के जानने का फल कहते हैं :—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत। १९

श—(यः, मां, एवं) जो मुझे इसप्रकार (असंमूढः, जानाति पुरुष-उत्तमं) निश्चित मति वाला जानता है पुरुषोत्तम (सः, सर्व-वित्, भजति, मां, सर्व-भावेन, भारत) वह सर्वज्ञ भजता है मुझे सम्पूर्ण भावना से हे भारत !

---

* इन दोनों श्लोकों का मूल उपनिषद् यह है "क्षरः प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः" क्षर प्रकृति है, अमृत अक्षर हर (आत्मा) है, क्षर और आत्मा इन दोनों पर एक देव ईशन करता है (श्वेता० १ । १०)

अ—हे भारत ! जो इसप्रकार निश्चितमति वाला मुझे पुरुषोत्तम जानता है, वह सब का जानने वाला सम्पूर्ण भावना से मुझे ही भजता है।

सं०—अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं :—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।

श—(इति, गुह्यतमं, शास्त्रं) यह गुह्यतम शास्त्र (इदं, उक्तं मया, अनघ) यह कहा है मैंने हे निष्पाप (एतत्, बुद्ध्वा, बुद्धिमान्, स्यात्) इसको जानकर बुद्धिमान् हो (कृत-कृत्यः, च, भारत) और कृतकृत्य हे भारत।

अ—हे निष्पाप ! यह गुह्यतम शास्त्र मैंने तुझे कहा है, इसको जानकर हे भारत ! पुरुष बुद्धिमान् और कृतकृत्य होता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० पुरुषोत्तमयोगो नामपंचदशोऽध्यायः

सं०—आसुरी सम्पदा को त्यागकर केवल दैवी सम्पदा के आश्रित पुरुष ही मुक्त होते हैं, इसका निर्णय करने के लिये सोलहवां अध्याय आरम्भ करते हैं :—

नवम अध्याय (९ । १२-१३) में राक्षसी आसुरी और दैवी तीन सम्पदा कही हैं। उनमें से राक्षसी सम्पदा को आसुरी के अन्तर्गत करके आसुरी और दैवी संपदाओं का विस्तार करते हैं। " द्वयाहैव प्राजापत्याः देवाश्चासुराश्च " (बृह० ३ । ३ । १) इत्यादि श्रुति में दो ही भेद किये गये हैं। इनमें से दैवी संपदा वाला ही तत्त्वज्ञान का अधिकारी होता है, इसलिये दैवी संपदा से आरम्भ करते हुए :—

श्रीभगवानुवाच—श्रीभगवान् बोले।

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।
अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत। ३

श—(अभयं, सत्त्व-संशुद्धिः) भय का अभाव चित्त की शुद्धि (ज्ञान-योग-व्यवस्थितिः) ज्ञान योग में दृढ़ता (दानं, दमः, च, यज्ञः, च) दान दम और यज्ञ (स्वाध्यायः, तपः, आर्जवं) स्वाध्याय तप सरलता ।१। (अहिंसा, सत्यं, अक्रोधः) अहिंसा सत्य अक्रोध (त्यागः, शान्तिः, अपैशुनं) त्याग शान्ति चुगली का अभाव (दया, भूतेषु, अलोलुप्त्वं) दया जीवों पर, लालच का अभाव (मार्दवं, ह्रीः, अचापलं) नर्मी, लज्जा, चञ्चलता का अभाव २। (तेजः, क्षमा, धृतिः, शौचं) तेज क्षमा धैर्य शौच (अद्रोहः, न-अतिमानिता)द्रोह का अभाव न बहुत मानी होता(भवन्ति,संपदं,दैवीं, अभिजातस्य, भारत) होते हैं सम्पदा दैवी के साथ उत्पन्न हुए के हे भारत !

अ—निर्भयता मन की शुद्धि (सफाई) ज्ञानयोग (आत्मज्ञान के उपाय) में दृढ़ता, दान, (इन्द्रियों का) दमन, यज्ञ और (धर्म्म ग्रन्थों का) स्वाध्याय, तप और सरलता ।१। अहिंसा (किसी को तंग न करना) सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग, शान्ति, चुगली का

अभाव, भूतों पर दया, लालच का अभाव, नर्मी, लज्जा, चञ्चलता का अभाव। २। तेज (प्रगल्भता, रुअबदाब) क्षमा धैर्य, शौच, द्रोह का अभाव, अतिमानी न होना, (अपने आपको बहुत पूज्य न मान बैठना*) यह स्वभाव दैवी सम्पदा के साथ उत्पन्न हुए के होते हैं। ३।

सं०—आसुरी सम्पदा कहते हैं :—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।

श—(दम्भः, दर्पः, अभिमानः, च) दम्भ दर्प और अभिमान (क्रोधः,पारुष्यं,एव,च,अज्ञानं, च) क्रोध और कठोरता और अज्ञान (अभिजातस्य, पार्थ, संपदं, आसुरीं) साथ उत्पन्न हुए के हे पार्थ संपदा आसुरी के।

अ—दम्भ (पाखण्ड), (धन जन विद्या आदि का-) दर्प, अभिमान (अपने आपको बड़ा समझना), क्रोध, कठोरता और अज्ञान यह हे पार्थ आसुरी संपदा के साथ उत्पन्न हुए के होते हैं।

सं०—इन सम्पदाओं का कार्य दिखलाते हैं :—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

---

* इनमें सरलता से लेकर चञ्चलता के अभाव तक यह १२ ब्राह्मण के असाधारण धर्म हैं, तेज, क्षमा, धृति यह तीन क्षत्रिय के, शौच और द्रोह का अभाव यह दो वैश्य के, और अतिमानी न होना यह एक शूद्र का असाधारण धर्म है; ऐसा जो कई कहते हैं, वह ठीक नहीं, दैवी सम्पदा सारे वर्णों में सत्वगुण का प्रवेश दिखलाती है, सत्वगुण की वृद्धि में यह सारे धर्म सबमें आजाते हैं।

श–(दैवी, संपद्, विमोक्षाय) दैवी संपद मोक्ष के लिये (निबन्धाय, आसुरी, मता) बन्धन के लिये आसुरी मानी गई है (मा, शुचः) मत शोककर (संपदं, दैवीं, अभिजातः, असि पाण्डव) संपदा दैवी के साथ उत्पन्न हुआ है हे पाण्डव।

अ–दैवी संपद मोक्ष के लिये और आसुरी बन्धन के लिये मानी गई है, तू हे पाण्डव शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी संपदा के साथ उत्पन्न हुआ है (तेरा कल्याण होने वाला है) *।

सं०–आसुरी सम्पदा सर्वथा त्याग के योग्य है, इसलिये आसुरी संपदा को खोलकर कहने की प्रतिज्ञा करते हैं :—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।

श–(द्वौ, भूत-सर्गौ, लोके, अस्मिन्) दो जीवों की सृष्टि लोक इसमें (दैवः, आसुरः, एव, च) दैवी और आसुरी (दैवः, विस्तरशः, प्रोक्तः) दैवी विस्तार से कही है, (आसुरं, पार्थ, मे, शृणु) आसुरी हे पार्थ मुझ से सुन।

अ–इस लोक में जीवों की सृष्टि दो प्रकार की है-दैवी और आसुरी†। उनमें से दैवी विस्तार से कही है, अब आसुरी को हे पार्थ! मुझ से सुन।

---

* यहां साथ उत्पन्न होने से तात्पर्य जन्म के समय से ही नहीं, किन्तु जब दैवी सम्पदा की तरफ झुकाव होजाए, तभी उस का कल्याण निकट होता है।

† "द्वया ह वै प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च" दो प्रकार की है प्रजापति की सन्तान देवता और असुर (बृह० ३।३।१) इस श्रुति में जैवी सृष्टि के दो ही भेद किये हैं, उसके अनुसार गीता

सं०—आसुरी सम्पदा का विस्तार से निरूपण करते हैं बारह श्लोकों में :—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।

श—(प्रवृत्तिं, च, निवृत्तिं, च) प्रवृत्ति और निवृत्ति को (जनाः, न, विदुः, आसुराः) जन नहीं जानते हैं आसुर (न, शौचं न, अपि, आचारः, न, सत्यं, तेषु, विद्यते) न शौच न ही आचार न सत्य उनमें होता है।

अ—आसुर (आसुरी प्रकृति वाले) जन प्रवृत्ति और निवृत्ति (क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये) को नहीं जानते हैं, और न उनमें शौच, न आचार और न सचाई होती है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्। ८

श—(असत्यं, अप्रतिष्ठं) झूठा विना किसी मूल के (ते जगत्, आहुः, अनीश्वरं) वह जगत् को कहते हैं बिना ईश्वर के (अ-परस्पर-संभूतं) एक दूसरे से उत्पन्न हुआ (किं, अन्यत्, काम-हैतुकं) क्या और काम ही इसका कारण है।

अ—वह कहते हैं, कि जगत् झूठा (पसारा) है, बिना किसी जड़ के है, और बिना ईश्वर के है एक दूसरे से (स्त्री पुरुष से) उत्पन्न हुआ है और क्या, काम (स्त्री पुरुष का संयोग) ही इसका कारण है।

में भी दो ही कहे हैं, शास्त्र मर्य्यादा में चलने वाले जन देवता, और मर्यादा के विरुद्ध चलने वाले असुर कहलाते हैं। पूर्व नवें में आसुरी के ही आसुरी और राक्षसी दो अवान्तर भेद [illegible] ए हैं।

**एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९**

श-(एतां, दृष्टिं, अवष्टभ्य) इस ख्याल का सहारा लेकर (नष्ट-आत्मानः, अल्प-बुद्धयः) मलीन चित्त वाले थोड़ी बुद्धि वाले (प्रभवन्ति,उग्र-कर्माणः) उत्पन्न होते हैं क्रूर कर्मों वाले (क्षयाय, जगतः, अहिताः) क्षय के लिये जगत् के शत्रु ।

अ-इस (पूर्वोक्त) दर्शन (ख्याल) का सहारा लेकर मलीन चित्त वाले, थोड़ी बुद्धि वाले, वह शत्रु के तौर पर जगत् के क्षय के लिये उत्पन्न होते हैं ।

**काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः १०**

श-(कामं, आश्रित्य, दुष्-पूरं) कामना का आश्रय करके न पूर्ण होने वाली (दम्भ-मान-मद-अन्विताः) दम्भ मान मद से युक्त (मोहात्, गृहीत्वा, असद्-ग्राहान्) मोह से पकड़ करके झूठे निश्चयों को (प्रवर्तन्ते, अशुचि-व्रताः) प्रवृत्त होते हैं अपवित्र व्रतों वाले ।

अ०-पूर्ण न होने वाली कामना का आश्रय करके दम्भ मान और मद से युक्त हुए मोह से झूठा निश्चय पकड़ कर वह अपवित्र व्रतों वाले हुए प्रवृत्त होते हैं* ।

---

* इस मंत्र से इस देवता का आराधन करके महानिधियों को प्राप्त करेंगे इत्यादि झूठे आग्रह मोहमात्र से पकड़कर प्रवृत्त होते हैं, और अपवित्र मद्य मांसादि उनके व्रत होते हैं (श्रीश्रीधर)

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥ १२

श-(चिन्तां, अपरिमेयां, च) और चिन्ता अपरिमेय (प्रलय-अन्तां, उपाश्रिताः) मरण जिसका अन्त उसको आश्रय किये हुए (काम-उपभोग-परमाः) विषयों का उपभोग है परम जिनका (एतावत्, इति, निश्चिताः) इतना इस निश्चय वाले ।११। (आशा-पाश-शतैः, बद्धाः) आशा की फांस सैंकड़ों से बंधे हुए (काम-क्रोध परायणाः) काम क्रोध में फंसे हुए (ईहन्ते, काम-भोग-अर्थ) चाहते हैं विषयों के भोगने के लिये (अन्यायेन, अर्थ-संचयान्) अन्याय से धन के ढेरों को ।

अ-मरना ही जिसका अन्त है, ऐसी अपरिमेय (बे अन्दाज) चिन्ता (कमाने और वश में रखने के फिक्र) में लगे हुए, विषयों के उपभोग को परम उद्देश्य जानते हुए,* बा इतना ही है (विषयों का उपभोग ही परम पुरुषार्थ है, और कुछ नहीं है) इस निश्चय वाले ।११। आशा रूपी सैंकड़ों फांसों से बन्धे हुए, काम और क्रोध में जकड़े हुए वह विषयों के भोग के लिये अन्याय (चौरी आदि) से अर्थों को ढेर को चाहते हैं ।

संगति-उनकी आशापाशों को विवृत करते हैं:-

---

*जैसा कि बृहस्पति ने कहा है 'चैतन्य विशिष्टः कामः पुरुषः' चैतन्यविशिष्ट काम ही पुरुष है और 'काम एवैकः पुरुषार्थः' काम ही अकेला पुरुषार्थ है ।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।१३

श-(इदं, अद्य, मया, लब्धं) यह आज मैंने पालिया है (इमं, प्राप्स्ये, मनोरथं) इस पाउंगा मनोरथ को (इदं, अस्ति, इदं, अपि,मे, भविष्यति, पुनः, धनं) यह है यह भी मेरे होगा फिर धन।

अ-यह मैंने पालिया है, और इस मनोरथ को पालूंगा, यह धन मेरा है और यह धन मेरा फिर होगा।

संगति-पूर्वार्ध से क्रोधपरायणता और उत्तरार्ध से काम परायणता विवृत करते हैं :-

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी १४

श-(असौ, मया, हतः, शत्रुः) वह मैंने मारडाला है शत्रु (हनिष्ये, च, अपरान्, अपि) और मारूंगा दूसरों को भी (ईश्वरः, अहं, अहं, भोगी) मालिक मैं मैं भोगों वाला (सिद्धः, अहं,बलवान्, सुखी) सम्पन्न मैं बलवान् सुखी ।

अ-वह शत्रु मैंने मार डाला है और दूसरों को मार डालूंगा, मैं मालिक हूं, मैं भोगों वाला हूं, मैं (धन पुत्रादि से) सम्पन्न हूं, मैं बलवान् हूं, मैं सुखी हूं।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया । यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञान विमोहिताः ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ १६

श—(आढ्यः, अभिजनवान्, अस्मि) अमीर कुलीन हूं (कः, अन्यः, अस्ति, सदृशः, मया) कौन और है सदृश मेरे (यक्ष्ये दास्यामि, मोदिष्ये) यज्ञ करूंगा दूंगा आनन्द भोगूंगा (इति, अज्ञान-विमोहिताः) इस प्रकार अज्ञान से मोहित हुए ।१५। (अनेक-चित्त-विभ्रान्ताः) अनेक चित्त से घबराए हुए (मोह-जाल-समावृताः) मोह के जाल से घिरे हुए (प्रसक्ताः, काम-भोगेषु) फंसे हुए विषयों के भोगों में (पतन्ति, नरके, अशुचौ) गिरते हैं नरक अपवित्र में ।

अ—मैं अमीर हूं, मैं कुलीन हूं, मेरे सदृश और कौन है, मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा*, आनन्द भोगूंगा इस प्रकार अज्ञान से मोहित हुए, अनेक (विषयों में) चित्त (रहने से) घबराए हुए, मोह जाल से घिरे हुए, विषयों के भोगों में फंसे हुए वह अपवित्र नरक में गिरते हैं ।

संगति—पूर्व जो उनका यज्ञ दानका मनोरथ कहाहै, वह दम्भ प्रधान ही होता है, न कि सात्विक, इस अभिप्राय से कहते हैं—

आत्मसँभाविताःस्तब्धा धनमानमदान्विताः
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् १७

श—(आत्म-सम्भाविताः, स्तब्धाः) अपने आपही बड़े बने हुए अकड़वाले (धन-मान-मद-अन्विताः) धन के मान और मद से भरे हुए (यजन्ते, नाम-यज्ञैः, ते) यज्ञ करते हैं नाममात्र के यज्ञों से

*दिखलावे का यज्ञ दान करने वाले । यज्ञ दान में मेरे बराबर कोई नहीं है, ऐसा गर्व रखने वाले ।

वह (दम्भेन, अविधि-पूर्वकं) दम्भ से अविधि पूर्वक।

अ–अपने आपही बड़े बने हुए, अकड़ वाले, धन के मान और मद से भरे हुए वह नाममात्र के यज्ञों से अविधिपूर्वक दम्भ से (न कि श्रद्धा से) यज्ञ करते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।१८।

श–(अहंकारं, बलं, दर्पं) अहंकार बल दर्प (कामं, क्रोधं च, संश्रिताः) काम और क्रोध का आश्रिय किये हुए (मां, आत्म पर-देहेषु) मुझे अपने और दूसरों के देहों में (प्रद्विषन्तः, अभ्य-सूयकाः) द्वेष करते हुए असूयावाले।

अ–अहंकार बल दर्प काम और क्रोध का आश्रय किये हुए, असूया वाले हुए, अपने और दूसरों के देहों में मुझे द्वेष करते हैं।

संगति–उनका फल कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९

श–(तान्, अहं, द्विषतः, क्रूरान्) उनको मैं द्वेष करते हुए क्रूरों को (संसारेषु, नर-अधमान्) संसारों में मनुष्य नीचों को (क्षिपामि, अजस्रं, अशुभान्) डालता हूं लगातार अशुभों को (आसुरीषु, एव योनिषु) आसुरी ही योनियों में।

अ–(मेरे साथ) द्वेष करने वाले उन क्रूर अशुभ अधम पुरुषों को लगातार आसुरी योनियों में ही डालता हूं।

संगति–आसुरी योनियों में प्राप्ति का भी फल कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।

श–(आसुरीं, योनिं, आपन्नाः) आसुरी योनि को प्राप्त हुए (मूढाः, जन्मनि, जन्मनि) मूढ जन्म जन्म में (मां, अप्राप्य, एव, कौन्तेय) मुझे न प्राप्त होकर ही हे कौन्तेय। (ततः, यान्ति, अधमां, गतिं) तब प्राप्त होते हैं अधम गति को।

अ–हे कौन्तेय! आसुरी योनि* को प्राप्त हुए वह मूढ़ जन्म जन्म में मुझे न प्राप्त होकर तब अधमगति को प्राप्त होते हैं।

संगति–आसुरी संपदा का संक्षेप बतलाते हैं–

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः
क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् २१

श–(त्रिविधं, नरकस्य, इदं, द्वारं) तीन प्रकार का नरक का यह द्वार (नाशनं, आत्मनः) नाश करने वाला आत्मा का (कामः, क्रोधः, तथा, लोभः) काम क्रोध और लोभ (तस्मात, एतत, त्रयं, त्यजेत) इसलिये इन तीनों को त्यागे।

अ–काम क्रोध और लोभ* यह तीन प्रकार का नरक का द्वार आत्मा का नाश करने वाला है (जिसमें प्रविष्ट होकर आत्मा नष्ट होता है) इसलिये इन तीनों को त्यागे।

---

* पशु आदि योनि वा धर्म विहीन मनुष्यों की योनि।

* सारी आसुरी संपदा इन तीनों के अन्तर्गत आजाती है, यही सारे अनर्थ का मूल हैं, इनके त्याग से सारी आसुरी संपदा का त्याग होजाता है।

संगति—इन तीनों के त्याग से क्या होगा, यह कहते हैं—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनःश्रेयस्ततो याति परां गतिम्

श—(एतैः, विमुक्तः, कौन्तेय) इन से छूटा हुआ हे कौन्तेय ! (तमः-द्वारैः, त्रिभिः, नरः) अन्धकार के द्वार तीन से मनुष्य (आचरति, आत्मनः, श्रेयः) अनुष्ठान करता है अपना कल्याण (ततः, याति, परां, गतिं) तब प्राप्त होता है परमगति को।

अ—हे कौन्तेय ! इन तीन अन्धकार के द्वारों से छूटा हुआ पुरुष अपनी भलाई में लगता है, तब परमगति को प्राप्त होता है।

संगति—आसुरी संपदा का त्याग और अपनी भलाईमें लगना इस सारी बात का कारण शास्त्र है, शास्त्र के प्रमाण से यह दोनों बातें जानी जाती हैं, अन्यथा नहीं, इसलिये—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

श—(यः, शास्त्र-विधिं, उत्सृज्य) जो शास्त्र की विधि को छोड़कर (वर्तते, काम-कारतः) वर्तता है अपनी इच्छा से (न, सः, सिद्धिं, अवाप्नोति) न वह सिद्धि को प्राप्त होता है (न, सुखं, न, परां, गतिं) न सुख को न परमगति को।

अ—जो शास्त्र की विधि को छोड़कर अपनी इच्छा से वर्तता है, वह न सिद्धि (तत्त्वज्ञान) को प्राप्त होता है, न सुख को, न परमगति (मोक्ष) को।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि२४

श–(तस्मात्, शास्त्रं, प्रमाणं, ते) इसलिये शास्त्र प्रमाण तुझे (कार्य-अकार्य-व्यवस्थितौ) कार्य अकार्य की व्यवस्था में (ज्ञात्वा, शास्त्र-विधान-उक्तं) जान कर शास्त्र के विधान से कहा हुआ (कर्म, कर्तुं, इह, अर्हसि) कर्म करने यहां योग्य है।

अ–इसलिये कार्य और अकार्य (करने योग्य और न करने योग्य) की व्यवस्था में शास्त्र तेरे लिये प्रमाण है। शास्त्र के विधान से कहा हुआ जानकर तुझे यहां कर्म करना योग्य है।

इति श्री भगवद्गीता० दैवासुर संपद् विभाग योगो नाम षोड़शोऽध्यायः

संगति–' तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते ' इससे प्रश्न का अवसर मिलजाने से–

अर्जुन उवाच=अर्जुनबोला

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः।१

श–(ये, शास्त्र-विधिं, उत्सृज्य) जो शास्त्र की विधि को छोड़कर (यजन्ते, श्रद्धया, अन्विताः) यज्ञ करते हैं श्रद्धा से युक्त हुए (तेषां, निष्ठा, तु, का, कृष्ण) उनकी स्थिति पर क्या हे कृष्ण (सत्त्वं, आहो, रजः, तमः) सत्त्व वा रज तम।

अ–पर जो शास्त्र की विधि को छोड़ कर श्रद्धा से युक्त हुए यज्ञ करते हैं* हे कृष्ण ! उनकी स्थिति कैसी है, सत्त्व रज वा तम।

---

*श्री शंकराचार्य के अनुसार यहां उन लोगों से तात्पर्य है, जो आलस्यादि से शास्त्र की विधि की पूरी जांच न करके जैसा वृद्ध व्यवहार में करते कराते चले आते हैं, उसी तरह श्रद्धा से

सं–शास्त्रीय पूजा ही सात्विकी होसक्ती है, शास्त्रविरुद्ध नहीं, यह दिखलाते हुए :–

श्रीभगवानुवाच—श्रीभगवान् बोले ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।

श–(त्रिविधा, भवति, श्रद्धा) तीन प्रकार की होती है श्रद्धा (देहिनां, सा, स्वभाव-जा) देह धारियों की वह स्वभाव से उत्पन्न होने वाली (सात्विकी, राजसी, च, एव, तामसी, च, इति) सात्विकी, राजसी और तामसी यह (तां, शृणु) उसको सुन ।

अ–देह धारियों की स्वाभाविक श्रद्धा तीन प्रकार की होती है–सात्विकी, राजसी और तामसी* उसको सुन ।

सं०–वह इस तरह तीन प्रकार की होती हैं :—

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।

करते हैं। पर अगले उत्तर से यह स्पष्ट है, कि शास्त्रोक्त पूजा को छोड़कर जो यक्षादि की पूजा करते हैं, उनके विषय में प्रश्न है। देवपूजा शास्त्र की विधि के अनुसार है, और यक्ष राक्षसादि की पूजा शास्त्रविरुद्ध है। सो ऐसी पूजा को जो श्रद्धा से करते हैं, उनकी स्थिति, कैसी है । श्रद्धा सत्वगुण का धर्म है, और शास्त्र से विरुद्ध अनुष्ठान रजोगुण और तमोगुण से होता है, इसलिए यह प्रश्न है, कि उन की स्थिति सात्विकी है वा राजसी है अथवा तामसी है।

* पूर्व जन्म के संस्कारों से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा को निरा सात्विकी समझना भूल है,वह राजसी तामसी भी होती है, जैसी वस्तु में श्रद्धा है, वैसी ही श्रद्धा कहलाती है।

श-(सत्त्व-अनुरूपा, सर्वस्य, श्रद्धा, भवति, भारत) अन्तः करण के सदृश सब की श्रद्धा होती है हे भारत (श्रद्धामयः, अयं, पुरुषः) श्रद्धामय यह पुरुष (यः, यच्छ्रद्धः, सः, एव, सः) जो जिस श्रद्धावाला वही वह।

अ-हे भारत ! श्रद्धा सब की अपने अन्तःकरण के सदृश होती है,यह पुरुष श्रद्धामय (अपनी श्रद्धा का पुतला) है, जो जिस श्रद्धावाला है वह वही है ॥ *

सं०-अतएव पूजा के भेद से भी सत्त्वादि गुणों में स्थिति जानी जाती है, यह कहते हैं :—

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।

श-(यजन्ते, सात्विकाः, देवान्) पूजते हैं सात्विक देवताओं को (यक्ष-रक्षांसि, राजसाः) यक्ष राक्षसों को राजस (प्रेतान्-भूत-गणान्, च, अन्ये, यजन्ते, तामसाः जनाः) प्रेतों और भूतगणों को दूसरे पूजते हैं तामस जन ॥

अ-सात्विकजन देवताओं को पूजते हैं, राजस यक्ष और राक्षसों को, और तामसजन प्रेतों और भूतों को पूजते हैं । *

---

* अभिप्राय यह है, कि पुरुष की श्रद्धा उसके चरित्र को प्रकट करती है, जो जिस पूज्य में श्रद्धावाला होता है, वह पूजक भी वही होता है, पूज्य के गुणों वाला ही पूजक होता है, इसलिए उसी नाम से कहने योग्य होता है (श्रीबलदेव और श्रीविश्वनाथ)

* यहां देव पूजा शास्त्र विहित है, दूसरी दोनों पूजाएं शास्त्र विधि से विरुद्ध हैं । यही प्रश्न था, कि शास्त्र की विधि को छोड़कर जो श्रद्धासे पूजतेहैं,उनकी निष्ठा क्या है,सो उसका उत्तर यह दिया,

सं०—इसप्रकार शास्त्रीय यागादि में ही फल विशेष होता है, अशास्त्रीय तप यागादि में मेरी आज्ञा के विरुद्ध होने से कोई भी सुखलव नहीं होता, अपितु अनर्थ ही होता है, इस अभिप्राय को प्रकट करते हुए कहते हैं :—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मांचैवान्तःशरीरस्थंतान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्

श—(अशास्त्र-विहितं, घोरं, तप्यन्ते, ये, तपः, जनाः) न शास्त्र से विधान किये घोर तपते हैं जो तप जन (दम्भ-अहङ्कार-संयुक्ताः) दम्भ अहङ्कार से युक्त (काम-राग-बल-अन्विताः) काम राग के बल से युक्त। ५। (कर्षयन्तः, शरीर-स्थं, भूत-ग्रामं) दुर्बल करते

कि सात्विक निष्ठा केवल शास्त्र विधि से देव पूजा करने वालों की है, और शास्त्र की विधि को छोड़कर पूजा करने वालों की निष्ठा राजसी और तामसी ही होती है, सात्त्विकी कभी नहीं। यह यक्ष राक्षसादि की पूजा लोक प्रचलित प्रकट की है, नकि इसके करने की प्रेरणा है, प्रत्युत राजसी तामसी कहने से उसका निषेध अभिप्रेत है। यहां देवता वैदिक इन्द्र वरुणादि हैं। और यक्षादि वैदिक नहीं, किन्तु लोक में माने हुए का अनुवादमात्र है। यक्ष कुवेर के भृत्य। कुवेर धन का अधिपति है, यक्ष धातुओं के अधिष्ठाता हैं। राक्षस बड़ा ऐश्वर्य्य और शक्ति रखते हैं, और दृष्टि से छिप जाना प्रकट होजाना उनके इखतियार में होता है। प्रेत अपने धर्म्म से गिरे हुए, मरकर वायवी शरीर धारण किए हुए, और भूतगण सप्त मातृकादि। यह इनके मानने वालों का विश्वास है।

हुए शरीर में स्थित भूत समूह को (अचेतसः) मूर्ख (मां, च, एव, अन्तः-शरीर-स्थं) और मुझ शरीर के अन्दर स्थित को (तान्, विद्धि, आसुर-निश्चयान्) उनको जान असुरों के निश्चयवाला।

अ—दम्भ (अपने आपको धार्मिक प्रकट करना) और अहङ्कार (मैं ही श्रेष्ठ हूं ऐसा दुरभिमान) से युक्त हुए, विषयों में राग के बल * से भरे हुए जो जन शरीर में स्थित (पृथिवी आदि) भूतों के समूह को और शरीर के अन्दर स्थित मुझको † दुर्बल करते हुए घोर तप तपते हैं; उनको आसुर निश्चय वाला जान।

सं०—श्रद्धा की नाईं गुणभेद से आहारादि का भी भेद होता है, यह दिखलाते हैं :—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।

श—(आहारः, तु, अपि) आहार और भी (सर्वस्य, त्रि-विधः, भवति, प्रियः) सब को तीन प्रकार का होता है प्यारा (यज्ञः, तपः, तथा, दानं) यज्ञ तप तथा दान (तेषां, भेदं, इमं, शृणु) उनके भेद इसको सुन।

अ—और सब का प्यारा आहार भी तीन प्रकार का होता

---

*कामना और आसक्ति के बल से (श्री श्रीधर) †वृथा उपवासादि से शरीर को दुर्बल करते हुए, और अन्तर्यामी की आज्ञा के विरुद्ध चलने से मानों उसको दुर्बल करते हुए, धूनी जलाकर उलटा ऊपर लटकना आदि भयंकर तप जिनका शास्त्र ने विधान नहीं किया है। ऐसा करने वाले व्यर्थ शरीर और आत्मा को दुर्बल करते हैं, फल कुछ नहीं होता है।

हैं, तथा यज्ञ, दान और तप (भी तीन प्रकार का होता है) उनके इस (वक्ष्यमाण) भेद को सुन।

सं०—उनमें से पहले आहार के तीन भेद कहते हैं :—

आयुः सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याःस्निग्धाःस्थिराहृद्याआहाराःसात्विकप्रियाः

श—(आयुः-सत्त्व-बल-आरोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः) आयु उत्साह बल आरोग्य सुख प्रीति के बढ़ाने वाले (रस्याः, स्निग्धाः) स्थिराः, हृद्याः) रसवाले, स्नेह वाले स्थिर हृदय के अभिमत, (आहाराः, सात्त्विक-प्रियाः) आहार सात्त्विकों के प्यारे।

अ—आयु, उत्साह (दिलेरी) बल, आरोग्य, सुख और प्रीति के बढ़ाने वाले, रसवाले, स्नेह वाले, स्थिर (सारवाले-लम्बे फल वाले) और हृदय के अभिमत (दिल पसन्द) आहार सात्त्विक पुरुषों को प्यारे होते है।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः। ९

श—(कटु-अम्ल-लवण-अति-उष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः कड़वे खट्टे नमकीन अति गर्म तीखे रूखे दाह करने वाले (आहाराः राजसस्य, इष्टाः) आहार रजोगुणी के प्यारे (दुःख-शोक-आमय-प्रदाः) दुःख शोक रोग के देने वाले।

अ—कड़वे, खट्टे, नमकीन, अतिगर्म, तीखे, (तेज) रूखे (खुश्क) और दाह करने वाले (राई आदि) आहार रजोगुणी पुरुष के प्यारे होते हैं जो (परिणाम में) दुःख शोक और रोग के

देने वाले हैं। *

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥१०॥

श-(यात-यामं, गत-रसं) देर का बना हुआ दूर हुए रस वाला (पूति, पर्युषितं, च, यत्) दुर्गन्धि और बासी जो (उच्छिष्टं अपि, च, अमेध्यं, च) झूठा भी अपवित्र (भोजनं, तामस-प्रियं) भोजन तमोगुणियों का प्यारा।

अ-देर का बना हुआ, दूर हुए रसवाला, दुर्गंधि, बासी और अपवित्र भोजन तमोगुणियों का प्यारा होता है।

संगति-यज्ञ भी तीन प्रकार का है, उन में से :—

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः॥११॥

श-(अफल-आकाङ्क्षिभिः) न फल की अभिलाषा वालों से (यज्ञः, विधि-दृष्टः, यः, इज्यते) यज्ञ विधि से देखा हुआ जो किया जाता है(यष्टव्यं, एव इति, मनः, समाधाय) यज्ञ करना ही चाहिये ऐसा मन को ठहरा कर (सः, सात्विकः) वह सात्विक।

अ-जो यज्ञ, यज्ञ करना अवश्य कर्तव्य है, ऐसे मनके निश्चय से फल की अभिलाषा से रहित पुरुषों से पूरी विधि के साथ किया जाता है, वह सात्विक होता है।

---

* रजोगुणी आहार शरीर और अन्तःकरण में रजोगुण बढ़ाते हैं जिसका फल दुःख शोक और रोग होता है।

* "यात-यामं" का अक्षरार्थ बीत गया है पहर जिसको, अर्थात् देर का बना हुआ जो बहुत ठण्डा होगया है। और दूर हुए रसवाला, जिसमेंसे सार निकाल लिया है।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् १२

श–(अभिसन्धाय, तु, फलं) उद्देश करके और फलका (दम्भ-अर्थं, अपि, च, एव, यत्) और दिखलावे के अर्थ भी जो (इज्यते, भरत–श्रेष्ठ!) किया जाता है हे भरतों में श्रेष्ठ (तं, यज्ञं, विद्धि, राजसं) उस यज्ञ को जान राजस ।

अ–और जो फल का उद्देश करके वा दिखलावे के अर्थ किया जाता है,हे भरतों में श्रेष्ठ! उसको तू राजसयज्ञ जान ।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३

श–(विधि–हीनं, अ-सृष्ट–अन्नं) विधिसे हीन नहीं दिया गया अन्न जिस में (मन्त्र-हीनं, अ–दक्षिणं) मन्त्र से हीन बिना दक्षिणा के (श्रद्धा-विरहितं, यज्ञं, तामसं, परिचक्षते) श्रद्धा से रहित यज्ञ को तामस कहते हैं ।

अ–विधि से हीन, अन्न दान से शून्य, मन्त्र से हीन, दक्षिणा से बिना और श्रद्धासे रहित यज्ञ को तामस कहते हैं ।

संगति–तप के सात्विक आदि तीन भेद दिखलाने के लिये पहले उसके शारीरिक आदि तीन भेद कहते हैं —

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४

श–(देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं) देव ब्राह्मण,गुरु और दानाओं की पूजा (शौचं, आर्जवं) शुद्धि सरलता (ब्रह्मचर्यं, अहिंसा, च)

ब्रह्मचर्य और अहिंसा (शारीरं, तपः, उच्यते) शारीरिक तप कहलाता है।

अ—देव, ब्राह्मण, गुरु और दानाओं की पूजा (अन्दर बाहर की) शुद्धि, (वेष और आकार में) सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा (किसी को पीड़ा न पहुंचाना) यह शारीरिक तप कहलाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते १५

श—(अनुद्वेग-करं, वाक्यं) न उद्वेग उत्पन्न करने वाला वाक्य (सत्यं, प्रिय-हितं, च, यत्) सत्य प्रिय और हित जो (स्वाध्याय-अभ्यसनं, च, एव) और स्वाध्यायका अभ्यास (वाङ्मयं, तपः, उच्यते) वाचिक तप कहलाता है ।

अ—वाक्य जो उद्वेग कारी (क्षोभकारी, दिक्क करने वाला) न हो, सत्य हो, प्रिय और हित हो, और स्वाध्याय का अभ्यास यह वाचिक तप कहलाता है।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६

श—(मनः-प्रसादः सौम्यत्वं) मन की सफाई नर्मी (मौनं, आत्म-विनिग्रहः, भाव-संशुद्धिः) मनन मन का रोकना भावना की शुद्धि (इति, एतत्, तपः मानसं, उच्यते) यह तप मानस कहलाता है।

अ—मन की सफाई (राग द्वेष से रहित होना) सौम्य भाव (नर्मदिली, मन का दूसरों की भलाई में झुके रहना) मनन (चिन्तन), मनको वश में रखना, और भावना की शुद्धि (व्यवहार में छल

कपट से रहित होना) यह मानस तप कहलाता है।

सं०—सो इसप्रकार शरीर वाणी और मन से साध्य तीन प्रकार का तप दिखलाया है, अब उस त्रिविध ही तप के सात्विकादि भेद से तीन भेद कहते हैं :-

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते॥

श—(श्रद्धया, परया, तप्तं) श्रद्धा परम से तपा हुआ (तपः, तत्, त्रिविधं, नरैः) तप वह तीन प्रकार का मनुष्यों से (अ-फल-आकाङ्क्षिभिः,युक्तैः) न फल की अभिलाषा वाले एकाग्र चित्तवालों से (सात्विकं, परिचक्षते) सात्विक कहते हैं।

अ—वह तीन ही प्रकार का तप जब परम श्रद्धा के साथ फल की अभिलाषा से रहित एकाग्रचित्त वाले पुरुषों से तपा जाता है, तब उसको सात्विक कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियतेतदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥१८

श—(सत्कार-मान-पूजा-अर्थं) सत्कार मान पूजा के अर्थ (तपः, दम्भेन, च, एव,यत्,क्रियते) तप दम्भ से जो किया जाता है (तत्, इह, प्रोक्तं) वह यहां कहा है (राजसं, चलं, अध्रुवं) राजस चल न टिकनेवाला।

अ—सत्कार मान और पूजा * के लिये जो दम्भ (पाखण्ड) से तप किया जाता है, वह चञ्चल न टिकनेवाला तप राजस कहलाता है।

---

* यह बड़ा भारी तपस्वी है, इत्यादि प्रशंसा सत्कार, उसके

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् । १९

श-(मूढ-ग्राहेण) मूढता के आग्रह से (आत्मनः, यत्, पीडया, क्रियते, तपः) अपनी जो पीड़ा से किया जाता है तप (परस्य, उत्सादन-अर्थं, वा) दूसरे के उखाड़ने के लिये अथवा (तत्, तामसं, उदाहृतं) वह तामस कहा गया है ।

अ-मूढ़ता के दुराग्रह से अपने आपको पीड़ा देकर जो तप किया जाता है वा दूसरे के उखाड़ने के लिये किया जाता है, वह तामस कहलाता है ।

सं०-अब दान के तीन भेद कहते हैं:-

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतं ।

श-(दातव्यं, इति, यत्, दानं) देना है इसप्रकार जो दान (दीयते, अनुपकारिणे) दिया जाता है बदला न देने वाले को (देशे, काले, च, पात्रे, च) देश काल और पात्र में (तत्, दानं, सात्विकं, स्मृतं) वह दान सात्विक माना गया है ।

अ-देना है (केवल) इस भावना से जो दान बदला न देने वाले को दिया जाता है, और देश काल तथा पात्र में दिया जाता है, वह दान सात्विक माना गया है ।

लिये उठ खड़े होना आदि मान, और पांव धोना वा कुछ देना आदि पूजा है; मन से आदर सत्कार, वाणी से प्रशंसा मान, और शरीर से नमस्कारादि पूजा है (श्रीरामानुज)

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥

श–(यत्, तु, प्रत्युपकार-अर्थं) जो पर प्रत्युपकार के अर्थ (फलं, उद्दिश्य, वा, पुनः) फल का उद्देश्य करके अथवा फिर (दीयते, च, परिक्लिष्टं) दिया जाता है तंगी से (तत्, दानं, राजसं, स्मृतं) वह दान राजस माना गया है ।

अ–पर जो प्रत्युपकार(बदले में लाभ उठाने)के अर्थ, अथवा फल का उद्देश्य करके दिया जाता है, और तंगी से दिया जाता है, वह दान राजस माना गया है ।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२

श–(अदेशकाले,यत्, दानं) विना देश काल जो दान (अपात्रेभ्यः, च, दीयते) और अपात्रों को दिया जाता है (असत्कृतं, अवज्ञातं) विना सत्कार किये अनादर से (तत्, तामसं, उदाहृतं) वह तामस कहा गया है ।

अ–जो दान विना देश वा बिना काल के और अपात्रों को दिया जाता है, (और पात्रों को भी) विना सत्कार किये वा अनादर से दिया जाता है वह तामस माना गया है ।

सं०–भगवद्भावना से वर्जित यज्ञ दान तप मोक्ष के लिये समर्थ नहीं होते हैं, सो कैसे इनको भगवद्भावना से युक्त करना चाहिये, इस अभिप्राय से कहते है :—

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा २३

श–(ओं, तत्, सत्, इति, निर्देशः) ओम्, तत्, सत्, यह कथन (ब्रह्मणः, त्रिविधः स्मृतः) ब्रह्मका तीन प्रकार का माना गया है, (ब्राह्मणाः, तेन, वेदाः, च, यज्ञाः, च, विहिताः, पुरा) ब्राह्मण उस से वेद और यज्ञ रचे गये हैं पहले ।

अ–ओंतत् सत्* यह तीन प्रकार का ब्रह्म का कथन माना गया है, उस (ओंतत् सत्) से पहले ब्राह्मण वेद और यज्ञ रचे गए हैं

संगति–अब अलग २ ओं आदि की उत्तमता दिखलाते हैं—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताःसततं ब्रह्मवादिनाम् २४

श–(तस्मात्, ओम्, इति, उदाहृत्य) इस लिये ओम् यह उच्चारण करके (यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः) यज्ञ दान और तप की क्रियाएं (प्रवर्तन्ते, विधान-उक्ताः) प्रवृत्त होती हैं विधि से कही हुई (सततं, ब्रह्म-वादिनां) सदा वेदवादियों की ।

---

* ओ मितिब्रह्म, (तै०उ०१।८) इत्यादि में ओम् ब्रह्मका नाम है और देखो (प्रश्न ५।२,छान्दो०१) और "तदिति एतस्य महतोभूतस्य नाम भवति" ऐतरेय इत्यादि में 'तत्' ब्रह्म का नाम है। और "सदेव सोम्येदमग्रआसीत्" इत्यादिमें सत् ब्रह्मका नामहै। ओम्=सर्वव्यापक तत्=वह परोक्ष, सत्=सत्ता वाला जगत् की असली सत्ता।

† ब्राह्मण, ब्राह्मणादि प्रजा, वेद और यज्ञ के मुख्य रक्षक होने से ब्राह्मणही कहा है।

अ—इस लिये वेदवादियों की शास्त्र विहित यज्ञ दान और तप की क्रियाएं सदा ओम् ऐसा उच्चारण करके प्रवृत्त होती हैं ॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञ तपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्चविविधाःक्रियन्तेमोक्षकाङ्क्षिभिः

श—(तत्, इति, अनभिसन्धाय, फलं) तत् इस प्रकार से उद्देश्य रख कर फल का (यज्ञ-तपः—क्रियाः) यज्ञ और तप की क्रियाएं (दान-क्रियाः, च, विविधाः) और दान की क्रियाएं अनेक प्रकार की (क्रियन्ते, मोक्ष-काङ्क्षिभिः) की जाती हैं मोक्ष चाहने वालों से ॥

अ—तत्*यह कह कर मोक्ष चाहने वाले जन फल का ख्याल न करके अनेक प्रकार की यज्ञ और तप और दान की क्रियाएं करते हैं ।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दःपार्थ युज्यते२६

श—(सद्भावे, साधु-भावे, च) असलीयत और नेकी में (सत्, इति, एतत्, प्रयुज्यते) सत् यह प्रयोग किया जाता है (प्रशस्ते, कर्मणि, तथा, सत्-शब्दः,पार्थ, युज्यते) मंगल कर्म में वैसे सत् शब्द हे पार्थ जोड़ा जाता है ॥

अ—सद्भावे (असलीयत) और साधुभाव (नेकी) में 'सत्' यह प्रयोग किया जाता है, तथा मंगल कर्म में हे पार्थ ! सत् शब्द बोला जाता है ।

---

* तत् वह अर्थात् ईश्वर अर्थात् फल का अभिप्राय न रख कर ईश्वरार्पण बुद्धि से करते हैं ।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिःसदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७

श–(यज्ञे, तपसि, दाने, च, स्थितिः) यज्ञ तप और दान में लगना (सत्, इति, उच्यते) सत् यह कहलाता है (कर्म, च, एव तत्-अर्थीयं, सत्, इति, एव, अभिधीयते) और कर्म उसके लिये सत् ऐसे ही कहाजाता है।

अ–यज्ञ, तप और दान में लगजाना सत् कहलाता है, उस (परमात्मा के) लिये जो कोई भी कर्म हो सब सत् ही कहा जाता है।

भाष्य–जिस लिये उक्त प्रकार से यह तीनों बड़े उत्तम नाम हैं, इस लिये हर एक कर्म की सद्गुणता के लिये आदि में इन का उच्चारण करे।

संगति–अब सारे कर्मों में श्रद्धा पूर्वक प्रवृत्ति के लिये अश्रद्धा-कृत प्रत्येक कर्म की निन्दा करते हैं।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह२८

श–(अश्रद्धया, हुतं, दत्तं) अश्रद्धया से होमा हुआ दिया हुआ (तपः, तप्तं,कृतं, च, यत्) तप तपा हुआ और किया हुआ जो, (असत्, इति, उच्यते, पार्थ) असत् ऐसे कहलाता है हे पार्थ (न च, तत्, प्रेत्य, नो, इह) न ही वह मर कर न ही यहां।

अ–अश्रद्धा से होमा हुआ, दिया हुआ, तप तपा हुआ औ जो कुछ और भी कर्म किया है, हे पार्थ! वह असत् कहलाता है,

न ही वह मरने के पीछे और न ही यहां होता है*।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोध्यायः

संगति–' सर्वं कर्माणि संन्यस्यास्ते सुखं वशी, (५।१३) तथा ' संन्यासयोगयुक्तात्मा' (९।२८) इत्यादि में कर्म का संन्यास उपदेश किया है, और ' त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः,(४।२०) सर्व कर्म फल त्यागं ततः कुरु यतात्मवान्, (१२।११) इत्यादि में फल मात्र के त्याग से कर्म के अनुष्ठान का उपदेश किया है। पर परम दयालु सर्वज्ञ भगवान् का उपदेश परस्पर विरुद्ध नहीं होसक्ता है, इस लिये कर्म के संन्यास और कर्म अनुष्ठान का अविरोध जानना चाहता हुआ—

अर्जुन उवाच=अर्जुन बोला

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १

श–(संन्यासस्य, महाबाहो तत्वं,इच्छामि, वेदितुं) संन्यास का हे महाबाहो तत्त्व चाहता हूं जानना (त्यागस्य, च, हृषीक-ईश,पृथक्) और त्याग का हे इन्द्रियों के मालिक अलग (केशि-निषूदन) हे केशी के मारने वाले।

---

* श्रद्धा रहित कर्म्म चाहे बड़े आयास से भी किया जाए,तथापि परलोक में उस का कोई फल नहीं होता और लोक में निन्दित होता है।

अ—हे महाबाहो! हे इन्द्रियों के मालिक! हे केशी (दैत्य) के मारनेवाले! मैं संन्यास और त्याग का अलग २ तत्त्व जानना चाहता हूं।

संगति—पहिले अध्यायों में संन्यास और त्याग शब्द का अर्थ खोल कर नहीं कहा, सो अब अर्जुन के पूछने पर उसके निर्णय के लिये—

श्री भगवानुवाच=श्री भगवान् बोले

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

श—(काम्यानां, कर्मणां, न्यासं) काम्य कर्मों के संन्यास को (संन्यासं, कवयः, विदुः,) संन्यास कवि जानते हैं (सर्व-कर्म फल-त्यागं) सारे कर्मों के फल के त्याग को (प्राहुः, त्यागं, विच-क्षणाः) कहते हैं त्याग निपुण।

अ—काम्य कर्मों के संन्यास को बुद्धिमान् संन्यास जानते हैं और सारे कर्मों के फल के त्याग को निपुण जन त्याग कहते हैं *।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

---

* यद्यपि अर्जुन ने संन्यास और त्याग दो अलग २ पूछे हैं, और इस श्लोक में भी संन्यास और त्याग अलग २ कहे हैं, तथापि चौथे श्लोक में केवल त्याग का ही प्रयोग करने से और सातवें श्लोकमें संन्यास और त्याग को पर्यायतया कहनेसे इनमें आन्तरिक भेद कोई नहीं है, केवल बाह्य भेद में संन्यास एक आश्रम के तौर पर है, जिसमें काम्य कर्म त्यागे जाते हैं, और त्याग कर्मों के फल का त्याग है, जो गृहस्थ भी करसक्ता है॥

श–(त्याज्यं, दोष-वत्, इति, एके, कर्म, प्राहुः, मनीषिणः) त्याज्य दोषवाला यह कई कर्म कहते हैं बुद्धिमान् (यज्ञ-दान-तपः-कर्म, न, त्याज्यं, इति, च, अपरे) यज्ञ दान और तप का कर्म त्याज्य नहीं है यह दूसरे।

अ–दोषवाला है (बन्ध का हेतु है) इसलिये सभी कर्म त्याज्य हैं, यह कई बुद्धिमान् कहते हैं, और दूसरे कहते हैं कि यज्ञ दान और तप का कर्म त्याज्य नहीं है।

संगति–इसप्रकार मतभेद कहकर अपना निश्चय बतलाते हैं–

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥४

श–(निश्चयं, शृणु, मे, तत्र) निश्चय सुन मेरा उसमें (त्यागे, भरत-सत्तम) त्याग में हे भरतों में श्रेष्ठ (त्यागः, हि पुरुष-व्याघ्र) त्याग निःसन्देह हे पुरुषों में श्रेष्ठ (त्रिविधः, संप्रकीर्तितः) तीन प्रकार का कहागया है।

अ–उस त्याग में अब मेरा निश्चय सुन हे पुरुषों में श्रेष्ठ! त्याग तीनप्रकार * का बतलायागया है।

संगति–पहले अपना निश्चय बतलाते हैं, फिर तीनों भेद–

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥५॥

श–(यज्ञ-दान-तपः-कर्म) यज्ञ दान तप का कर्म (न, त्याज्यं, कार्यं, एव, तत्) नहीं त्यागना चाहिये करना ही चाहिये वह

* ७।९श्लोकों में तामसादि तीन भेद कहेंगे।

(यज्ञः, दानं, तपः, च, एव) यज्ञ दान और तप निःसंदेह (पावनानि, मनीषिणां) पवित्र करने वाले बुद्धिमानों के।

अ-यज्ञ,दान और तप का कर्म नहीं त्यागना चाहिये, वह अवश्य करना चाहिये। क्योंकि यज्ञ दान और तप बुद्धिमानों के पवित्र करने वाले हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्। ६।

श-(एतानि, अपि, तु, कर्माणि) और यह भी कर्म (संगं, त्यक्त्वा, फलानि, च) संग को त्याग कर और फलों को (कर्तव्यानि, इति, मे, पार्थ) करने चाहियें यह मेरा हे पार्थ (निश्चितं, मतं, उत्तमं) निश्चित मत उत्तम।

अ-यह भी कर्म हे पार्थ संग * और फलों को त्याग कर करने चाहियें, यह मेरा निश्चित उत्तम मत है।

संगति-पूर्व कहे-त्याग के तीन भेद-दिखलाते हैं—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।७।

श-(नियतस्य, तु, संन्यासः, कर्मणः) नियत का तो त्याग कर्म का (न, उपपद्यते) नहीं योग्य है (मोहात्, तस्य, परित्यागः) मोह से उसका त्याग (तामसः, परिकीर्तितः) तामस कहागया है।

अ-नियत (अवश्यकर्तव्य) कर्म का त्याग योग्य नहीं होता है, मोह से उसका त्याग तामस कहागया है।

---

* संग को त्यागकर, करने में अपना लगाव त्याग कर, केवल ईश्वराराधन के तौर पर करने चाहियें।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ८

श–(दुःखं,इति,एव, यत्, कर्म) दुःख इतने से ही जो कर्म क (काय-क्लेश-भयात्, त्यजेत्) शरीर के क्लेश के डर से त्यागे (सः कृत्वा, राजसं, त्यागं) वह करके राजस त्याग को (न, एव, त्याग फलं, लभेत) नहीं त्याग का फल पावे ।

अ–जो कोई दुःख है ऐसा जानकर कर्म को शरीर के क्लेश के डर से त्याग देता है, (उसका त्याग राजस है) वह उस राजस त्याग को करके त्याग का फल नहीं पाता है ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागःसात्त्विकोमतः

श–(कर्यं, इतिं, एव, यत्, कर्म) करने योग्य है इस ही से जो कर्म (नियतं, क्रियते, अर्जुन) नियत किया जाता है हे अर्जुन (संगं, त्यक्त्वा, फलं, च, एव) संग को त्याग कर और फल को ही (सः, त्यागः, सात्विकः, मतः) वह त्याग सात्विक माना गया है ॥

अ–करने योग्य है केवल इसी बुद्धि से जब नियत (अवश्यकर्तव्य) कर्म संग और फल को त्याग करके किया जाता है, वह त्याग सात्विक मानागया है ॥

सं०–इस प्रकारके सात्विक त्याग में स्थित का लक्षण कहते हैं–

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागीसत्वसमाविष्टोमेधावीछिन्नसंशयः १०॥

श–(न, द्वेष्टि, अकुशलं, कर्म) नहीं द्वेष करता है अकुशल कर्म से (कुशले, न, अनुषज्जते) कुशल में नहीं प्रीति करता है (त्यागी, सत्त्व-समाविष्टः) त्यागी सत्त्व से व्याप्त (मेधावी, छिन्न-संशयः) बुद्धिमान् कटे हुए संशयों वाला ॥

अ–इस प्रकार सत्त्व से व्याप्त, बुद्धिमान्, दूर हुए संशयों वाला त्यागी अकुशल कर्म से द्वेष नहीं करता है और कुशल में प्रीति नहीं करता है* ॥

संगति–इस प्रकार संग और फल का त्याग होता है, न कि स्वरूप से कर्म का त्याग, यह अपना निश्चय दिखलाकर अब जो स्वरूप से कर्म का त्याग मानते हैं, उनके प्रति कहते हैं—

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तुकर्मफलत्यागीसत्यागीत्यभिधीयते ११।

श–(नहि, देह-भृता, शक्यं) नहीं देहधारी से शक्य (त्यक्तुं, कर्माणि, अशेषतः) त्यागना कर्मों का निःशेष (यः, तु, कर्म-फल-त्यागी) जो किन्तु कर्म के फल का त्यागी (सः, त्यागी, इति, अभिधीयते) वह त्यागी ऐसे कहाजाता है ॥

अ–कोई भी देह-धारी सारे के सारे कर्मों को नहीं त्याग सक्ता है, किन्तु जो कर्मों को करता हुआ ही कर्मों के फल का

---

* अकुशल=दुःखदायी, कुशल=सुखदायी । अर्थात् दूसरे लोगों की तरह कर्मों का इष्ट अनिष्ट फल उनका प्रेरने वा हटाने वाला नहीं होता, किन्तु, यह मेरा कर्तव्य है केवल यही बुद्धि उनकी प्रेरक होती है (अकुशल=दुःखदायी, सरदी में प्रातः स्नानादि और कुशल सुखदायी=ग्रीष्म में मध्यान्ह स्नानादि (श्री श्रीधर)

त्यागी है, वह त्यागी कहलाता।

संगति—इस प्रकारके कर्म-फल-त्याग का फल कहते हैं:—

अनिष्टमिष्टंमिश्रं च त्रिविधं कर्मणःफलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य नतुसंन्यासिनांक्वचित्

श—(अनिष्टं, इष्टं, मिश्रं) बुरा भला मिला जुला (त्रि-विधं, कर्मणः, फलं) तीन प्रकार का कर्म का फल (भवति, अत्यागिनां, प्रेत्य) होता है न त्यागियों को मरकर (न, तु, संन्यासिनां, क्वचित्) न कि त्यागियोंको कहीं।

अ—बुरा भला और मिलाजुला यह*तीन प्रकार का (कर्म-) फल जो प्रसिद्ध है, वह उनको होता है जो त्यागी नहीं है त्यागियों को कहीं नहीं।

संगति—कर्म में संगत्याग के लिये कर्म-सिद्धि के कारण जानने योग्य हैं, इस लिये वह कहते हैं:—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानिसिद्धयेसर्वकर्मणां १३

श—(पञ्च, एतानि, महा-बाहो) पांच यह बड़ी भुजावाले कारणानि, निबोध, मे) कारण समझ मुझ से (सांख्ये, कृत-अन्ते, प्रोक्तानि) सांख्य सिद्धान्त में कहे (सिद्धये, सर्व-कर्मणां) सिद्धि के लिये सारे कर्मों की।

---

*पाप का फल बुरा पुण्यका भला और मिले जुलों का मिला जुला फल होता है॥

अं–हे महाबहो ! सारे कर्मों की सिद्धि के लिये सांख्य सिद्धान्त में यह जो पांच कारण कहे हैं, वह मुझ से जान ।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४॥

श–(अधिष्ठानं, तथा, कर्ता) शरीर तथा कर्ता (करणं, च, पृथग्-विधं) और इन्द्रिय भिन्न प्रकार का (विविधाः, च, पृथक्, चेष्टाः) और भिन्न प्रकार की अलग २ चेष्टाएं (दैवं, च, एव, अत्र, पञ्चमं) और दैव ही इस में पांचवां ।

अ–शरीर, कर्ता (आत्मा), भिन्न प्रकार के इन्द्रिय, भिन्न २ प्रकार की चेष्टाएं (कर्म की शक्तियें), और पांचवां दैव* ।

संगति–इन्हीं पांच को सभी कर्म के कारण बतलाते हैं:—

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः १५

श–(शरीर-वाक्-मनोभिः) शरीर बाणी और मन से (यद् कर्म, प्रारभते नरः) जो कर्म प्रारम्भ करता है मनुष्य (न्याय्यं, वा, विपरीतं,वा) भला वा उलटा (पञ्च, एते, तस्य हेतवः) पांच यह उसके कारण ॥

अ–शरीर बाणी और मन के द्वारा पुरुष जो कोई भला वा बुरा कर्म आरम्भ करता है,यह पांच उसके हेतु होते हैं ॥

---

*दैव=इन्द्रियों के सहायक देवता जैसे नेत्र का सूर्य । अथवा सर्वान्तर्यामी ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः १६

श–(तत्र, एवं, सति) उस में ऐसा होते हुए (कर्तारं,आत्मानं, केवलं, तु, यः) कर्ता आत्मा को केवल जो (पश्यति, अकृत-बुद्धित्वात्) देखता है असंस्कृत बुद्धि वाला होने से (न, सः, पश्यति, दुर्मतिः) नहीं वह देखता है दुर्मति ॥

अ–सो ऐसा होते हुए जो केवल आत्मा को कर्ता देखता है वह दुर्मति बुद्धिके मंझा हुआ न होने से ठीक नहीं देखता है॥

संगति–तब कौन वह सुमति है, जिसको कर्म का लेप नहीं होता, इस आकांक्षा में कहते हैं:—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

श–(यस्य, न, अहंकृतः, भावः) जिसकी नहीं अहंकारवाली भावना (बुद्धिः, यस्य, न, लिप्यते) बुद्धि जिसकी लिप्त नहीं होती है (हत्वा, अपि, सः, इमान्, लोकान्) मारकर भी वह इन लोकों को (न, हन्ति, न, निबध्यते) न मारता है न बद्ध होता है ॥

अ–जिसकी भावना अहंकार वाली(मैंकर्ताहूं ऐसी)नहीं और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती है, वह मारकर भी इन लोकों को न मारता है न बन्धता है ।

भाष्य–जब कर्म में संग और फल का त्याग कर दिया, तब कर्म में राग द्वेष उसके प्रेरक नहीं होते, किन्तु स्वभावतः जो उस से कर्म होता है, उसमें उसका कर्तृत्व (मैं कर्त्ता हूं) का

अभिमान नहीं होता, न उसकी बुद्धि पर उस कर्म का असर होता है। इस अवस्था में पुरुष जो कुछ करता है, वह उसके लिये न करने के बराबर है, क्योंकि वह उस से स्वभावतः होता है, राग द्वेष से नहीं, जैसे इस समय स्वभावतः श्वास प्रश्वास चलने से जो क्षुद्र जीवों की मृत्यु होती है, उस से हम लिप्त नहीं होते। यहां मारकर भी नहीं मारता है, यह उपलक्षण है, अर्थात् उसका हर एक कर्म अकर्म होता है, अर्जुन को युद्ध में प्रेर रहे हैं, इसलिये ऐसा कहा है। पूर्व भी कहा है "त्यक्त्वा कर्म फलासंगं नित्य तृप्तो-निराश्रयः। कर्मण्यभि प्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः। (४। २०) ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा (५। १०)।

सं०—"मारकर भी न मारता है" न बन्धता है इसी के उप-पादन करने के लिये कर्म के प्रवर्तक, कर्म के आश्रय और कर्म के फल आदि को त्रिगुणात्मक बतलाते हुए तीनों गुणों से परवर्ती आत्मा का उनसे वास्तव सम्बन्ध नहीं है, इस अभिप्राय से कर्म के प्रवर्तक और कर्म के आश्रय कहते हैं।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्म चोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।१८

श—(ज्ञानं, ज्ञेयं, परिज्ञाता) ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता (त्रिविधा, कर्म-चोदना) तीन प्रकार की कर्म की प्रेरणा (करणं, कर्म, कर्त्ता, इति) करण कर्म कर्त्ता यह (त्रिविधः, कर्म-संग्रहः) तीन प्रकार का कर्म संग्रह=कर्म का आश्रय।

अ—ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता यह तीन कर्म के प्रवर्तक हैं, करण (साधन) कर्म और कर्ता यह तीन प्रकार का कर्म का आश्रय है।

भाष्य—ज्ञेय वस्तु और ज्ञाता के होते हुए भी यदि वस्तु का ज्ञान न हो, तो कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती, ज्ञान और ज्ञाता के होते हुए भी यदि ज्ञेय वस्तु न हो, तो भी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये यह तीनों कर्म के प्रवर्तक हैं। इन प्रवर्तकों के होते हुए करण (कर्म का साधन) कर्म और कर्ता (करनेवाला) यह तीनों कर्म का आश्रय होते हैं।

सं०—ज्ञानादियों को गुणात्मक सिद्ध करते हैं:—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।

श—(ज्ञानं, कर्म, च, कर्ता, च) ज्ञान कर्म और कर्ता (त्रिधा, एव, गुण-भेदतः) तीन प्रकार का ही गुणों के भेद से (प्रोच्यते, गुण-संख्याने, यथावत्) कहाजाता है, गुणों के ठीक २ कहने वाले= सांख्यशास्त्र में, ठीक २ (शृणु, तानि, अपि) सुन उनको भी।

अ—ज्ञान कर्म और कर्ता * सांख्यशास्त्र में गुणों के भेद से तीन ही प्रकार के कहे गये है, उनको भी ठीक २ सुन।

---

* पूर्व श्लोक में ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता और करण कर्म कर्ता छः कहे थे, उनमें से ज्ञाता और कर्ता एक है। और ज्ञेय (घड़ा आदि) तथा करण (कुल्हाड़ादि) बाह्य वस्तु होने से स्पष्ट त्रिगुणात्मक हैं। इसलिये परिशेषतः ज्ञान कर्म और कर्ता ही निरूपणीय हैं। पूर्व चौदहवें अध्याय में "तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्" इत्यादि से गुण किस तरह बन्धक होते हैं, यह निरूपण किया है, सत्तरहवें में "यजन्ते सात्विका देवान्" इत्यादि से गुण भेद से तीन प्रकार का स्वभाव निरूपण करने से रज तम के स्वभाव को त्यागकर सात्विक आहारादि की सेवा से सात्विक स्वभाव बनाना चाहिए यह कहा है, जिन अध्यात्म कर्मों का पूर्व निरूपण नहीं किया, उनमें भी सात्विकादि भेद यहां दिखलाते हैं।

सं०—उनमें से पहले ज्ञान के सात्विकादि तीन भेद कहते हैं :—

सर्व भूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकं ॥

श—(सर्व-भूतेषु, येन, एकं, भावं, अव्ययं, ईक्षते) सारे भूतों में जिस से एक भाव अविनाशी को देखता है (अ-विभक्तं, विभक्तेषु) न बटा हुआ बटे हुओं में (तत्, ज्ञानं, विद्धि, सात्विकं) उस ज्ञान को जान सात्विक ।

अ—जिस ज्ञान से (आपस में) अलग २ सारे भूतों में न अलग एक अविनाशी भाव को देखता है, उस ज्ञान को सात्विक जान * ।

पृथक्त्वेनतुयज्ज्ञानंनानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।

श—(पृथक्त्वेन, तु, यत्, ज्ञानं) अलग २ करके पर जो ज्ञान (नाना-भावान्, पृथग्-विधान्) नाना भावों को अलग २

---

* २० से २२ तक तीन श्लोकों में अद्वैतवादी और द्वैतवादियों के आशय में भेद है । श्री शंकराचार्य्य का यह अभिप्राय है, कि सब भूतों में एक आत्मा को देखना सात्विक ज्ञान है । श्रीरामानुज इन श्लोकों को कर्म्म के सम्बन्ध में लगाते हैं क्योंकि यहां पूर्व १८ में ज्ञान को कर्म्म का प्रवर्तक कहकर उसका भेद किया है । आशय यह है, कि सब भूतों में अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रियादि में आत्मा एक रूप है. शरीर श्वेत लम्ब आदि होने से एक दूसरे से अलग २ हैं, आत्मा ऐसे भेद से रहित सब में ज्ञानाकार है, शरीर नाशवाले हैं, आत्मा अविनाशी है । कर्म्माधिकार समय में आत्मा को ऐसा देखना सात्विकज्ञान है ।

प्रकार के (वेत्ति, सर्वेषु, भूतेषु) जानता है सारे भूतों में (तत्, ज्ञानं, विद्धि, राजसं) उस ज्ञान को जान राजस।

अ–पर जो ज्ञान अलग २ करके सारे भूतों में अलग प्रकार के नाना भावों को जानता है, उस ज्ञान को राजस जान*।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।२२

श–(यत्, तु, कृत्स्नवत्, एकस्मिन्, कार्ये, सक्तं) और जो परिपूर्ण की तरह एक कार्य में लगा हुआ (अहैतुकं) बिना युक्ति के (अतत्त्व-अर्थ-वत्, अल्पं, च) न यथार्थ विषय वाला और थोड़ा (तत्, तामसं, उदाहृतं) वह तामस मानागया है।

अ–जो एक कार्य (वस्तु) में ऐसा लगा हुआ है, कि मानों यही परिपूर्ण है, जो युक्ति से रहित है, अयथार्थ विषयवाला है और तंग है† ऐसा ज्ञान तामस है।

---

* श्री शंकराचार्य्य के अनुसार भिन्न २ देहों में भिन्न २ आत्मा का ज्ञान राजस है और श्री रामानुज के अनुसार भिन्न प्रकार के देहों में भिन्न प्रकार के आत्मा जानना राजस ज्ञान है।

† श्री शंकराचार्य्य के अनुसार एक ही कार्य्य अर्थात् देह वा बाहर की प्रतिमादि में इस तरह लगा हुआ ज्ञान कि बस आत्मा वा ईश्वर इतना ही है इस से परे नहीं, ऐसा ज्ञान तामस है जैसे नग्न क्षपणक आदि शरीर परिमाण ही आत्मा को मानते हैं अथवा पाषाण काष्ठ आदि मात्र 'प्रतिमामात्र' ही ईश्वर है। पर श्री रामानुज के अनुसार एक कार्य्य एककर्म है। छोटे फल वाला जैसे प्रेत भूतादिका आराधन, उसीको पूर्ण फलवाला जानना तामस है ऐसा ज्ञान अयथार्थ विषयवाला और अत्यल्प फल वाला होता है बिना युक्ति के उसको वह ऐसा मान लेते हैं।

सं०—अब तीन प्रकार का कर्म कहते हैं :—

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥

श—(नियतं, संग-राहितं) नियत लगाव से रहित (अ-राग-द्वेषतः-कृतं) विना राग द्वेष से किया हुआ (अफल-प्रेप्सुना) न फल चाहने वाले से (कर्म, यत्, तत्, तामसं, उदाहृतं) कर्म जो वह तामस कहा गया है।

अ—जो कर्म नियत (अपने वर्ण आश्रम के उचित, अवश्य कर्तव्य), (अपनत्व के) लगाव से रहित, फल न चाहने वाले से बिना राग द्वेष के किया गया है, वह सात्विक कहागया है ।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४

श—(यत्, तु, काम-ईप्सुना) जो और फल चाहने वाले से (स-अहंकारेण, वा, पुनः) अहंकार वाले से वा फिर (क्रियते, बहुल-आयासं) किया जाता है बड़े क्लेश वाला (तत्, राजसं, उदाहृतं) वह राजस कहा गया है।

अ—और जो कर्म फल चाहने वाले से (वा मेरे बराबर कौन और वेदवेत्ता है इत्यादि) अहंकार वाले से किया जाता है वा बड़े क्लेशवाला कर्म है, वह राजस कहलाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥२५॥

श–(अनुबंधं, क्षयं, हिंसां) फल क्षय हिंसा (अनपेक्ष्य, च, पौरुषं) और न परवाह करके पौरुष की (मोहात्, आरभ्यते, कर्म, यत्) मोह से आरम्भ किया जाता है कर्म जो (तत्, तामसं, उदाहृतं) वह तामस कहलाता है।

अ–फल (नतीजा) (शक्ति और धन का) क्षय, हिंसा (पर पीड़ा) और (अपने) पौरुष (कर सकने के सामर्थ्य) की परवाह न करके केवल मोह से ही जो कर्म आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहलाता है।

सं०–तीन प्रकार का कर्त्ता कहते हैं।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारःकर्तासात्विकउच्यते।

श–(मुक्त-संगः, अनहंवादी) छोड़े हुए लगाववाला न अहङ्कार की बात कहने वाला (धृति-उत्साह-समन्वितः) धैर्य उत्साह से भरा हुआ (सिद्धि-असिद्ध्योः, निर्-विकारः) सिद्धि असिद्धि में विकार रहित (कर्त्ता, सात्विकः, उच्यते) कर्त्ता सात्विक कहलाता है।

अ–छोड़े हुए लगाव वाला, अहंकार की बात न कहने वाला धैर्य और उत्साह से भरा हुआ (आरम्भ किये कार्य की) सिद्धि और असिद्धि में विकार (हर्ष विषाद) से रहित, ऐसा कर्त्ता सात्विक कहलाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥

श–(रागी, कर्म-फल-प्रेप्सुः) रागवाला कर्मफल का चाहने वाला, (लुब्धः, हिंसात्मकः, अशुचिः) लालची तंग करनेवाला अपवित्र (हर्ष-शोक-अन्वितः) हर्ष शोक से युक्त (कर्त्ता, राजसः, परीकीर्तितः) कर्ता राजस कहलाता है।

अ–(पुत्र आदि में) रागवाला, कर्म का फल चाहनेवाला लालची, तंग करनेवाला, अपवित्र, हर्ष शोक से युक्त, कर्त्ता राजस कहलाता है।

अयुक्तःप्राकृतःस्तब्धःशठोनैष्कृतिकोऽलसः
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते २८

श–(अयुक्तः, प्राकृतः, स्तब्धः) असावधान गंवार अनम्र (शठः, नैष्कृतिकः, अलसः) धूर्त कीनावर आलसी (विषादी, दीर्घ-सूत्री, च) निराश और दीर्घसूत्री (कर्त्ता, तामसः, उच्यते) कर्त्ता तामस कहलाता है।

अ–असावधान,गंवार,अनम्र (उजड्ड) धूर्त द्रोही (कीनावर) आलसी निराश (सदा गिरे हुए मन वाला) और दीर्घसूत्री (एक दिन के काम को महीने में भी न करनेवाला) कर्ता तामस कहलाता है।

सं०–अब बुद्धि और धृति के भेद कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं:–

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यामानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥२९

श–(बुद्धेः, भेदं, धृतेः, च, एव) बुद्धि के भेद और धृति के (गुणतः, त्रिविधं, शृणु) गुण से तीन प्रकार का सुन (प्रोच्यमानं,

अशेषेण) कहाजाता हुआ पूर्णता से (पृथक्त्वेन, धनञ्जय) अलग २ करके हे धनञ्जय ।

अ-बुद्धि का भेद और धृति का भी, जो गुणों से तीन प्रकार का है, उसको पूरा और अलग करके मैं कहता हूं, हे धनञ्जय सुन

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ।

श-(प्रवृत्ति, च, निवृत्ति च, कार्य-अकार्ये, भय-अभये) प्रवृत्ति और निवृत्ति कर्त अकर्तव्य भय अभय (बन्धं, मोक्षं, च, या, वेत्ति) बन्ध और मोक्ष को जो जानती है (बुद्धिः, सा, पार्थ, सात्विकी) बुद्धि वह हे पार्थ सात्विकी ।

अ-(धर्म में) प्रवृत्ति और (अधर्म से) निवृत्ति (देश काल के अनुसार) कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य, बन्ध और मोक्ष को जो बुद्धि* जानती है, हे पार्थ वह सात्विकी है ।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।

श-(यया, धर्मं, अधर्मं, च) जिस से धर्म और अधर्म को (कार्यं, च, अकार्यं, एव, च) करने योग्य और न करने योग्य को (अयथावत्, प्रजानाति) नहीं यथार्थ जानता है (बुद्धिः, सा, पार्थ, राजसी) बुद्धि हे पार्थ वह राजसी ।

अ-जिससे (परलोक के लिये) धर्म और अधर्म को (लोक

---

* पूर्व ज्ञान तीन प्रकार का कहा है, बुद्धि अन्तःकरण है, और ज्ञान उसकी वृत्ति होती है । यह दोनों में भेद है ।

के लिये) करने योग्य और न करने योग्य को अयथार्थ जानता है, हे पार्थ वह बुद्धि राजसी है ।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्चबुद्धिः सा पार्थ तामसी ।

श–(अधर्म, धर्म, इति, या, मन्यते) अधर्म को धर्म ऐसा जो मानती है (तमसा, आवृता) तम से ढकी हुई (सर्व-अर्थान्, विपरीतान्, च) और सारी बातों को उलटा (बुद्धिः, सा, पार्थ, तामसी) बुद्धि हे पार्थ वह तामसी ॥

अ–जो तमोगुण से ढकी हुई बुद्धि अधर्म को धर्म मान लेती है और सारी बातों को उलटा (भले को बुरा, बुरे को भला, सच को झूठ, झूठ को सच इत्यादि) मानती है हे पार्थ वह तामसी है ॥

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारण्याधृतिःसा पार्थ सात्विकी

श–(धृत्या, यया, धारयते) धृति जिस से धारण करता है (मनः-प्राण-इन्द्रिय-क्रियाः) मन प्राण इन्द्रियों की क्रियाएं (योगेन अव्यभिचारिण्या) योग से न बदलने वाली से (धृतिः, सा, पार्थ, सात्विकी) धृति वह हे पार्थ सात्विकी ।

अ–जिस न बदलनेवाली धृति से योग के द्वारा (कोई पुरुष) मन प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है हे पार्थ वह सात्विकी धृति * है ।

यया तु धर्मकामार्थन्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।

* धृति भी बुद्धि का ही भेद है, अर्थात् चित्त की दृढ़ता ।

श–(यया, तु, धर्म-काम-अर्थान्) जिस से धर्म अर्थ काम को (धृत्या, धारयते, अर्जुन) धृति से धारण करता है, हे अर्जुन (प्रसंगेन, फल-आकाङ्क्षी) प्रसंग से फल की आकांक्षा वाला (धृतिः, सा, पार्थ, राजसी) धृति वह हे पार्थ राजसी।

अ–जिस धृति से फल की आकांक्षा वाला हुआ लगाव से धर्म अर्थ और काम को धारण करता है, हे पार्थ वह राजसी धृति है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥

श–(यया, स्वप्नं, भयं, शोकं) जिस से स्वप्न भय शोक (विषादं, मदं, एव, च) विषाद और मद को (न, विमुञ्चति, दुर्मेधाः) नहीं छोड़ता दुर्बुद्धि (धृतिः, सा, पार्थ, तामसी) धृति वह हे पार्थ तामसी।

अ–जिस धृति से दुर्बुद्धि पुरुष स्वप्न (निद्रा) भय, शोक विषाद (निराशता) और मद को नहीं छोड़ता है (बार २ करता है) वह हे पार्थ तामसी धृति है।

सं०–कर्म और उसके साधन के तीन २ भेद कहकर अब फलरूप सुख के तीन भेद कहते हैं:–

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

श–(सुखं, तु, इदानीं, त्रि-विधं) सुख और अब तीन प्रकार

का (शृणु, मे, भरत-ऋषभ) सुन मुझ से हे भरतों में श्रेष्ठ ! (अभ्यासाद्, रमते, यत्र) अभ्यास से आनन्द मनाता है जिसमें (दुःख-अन्तं, च, निगच्छति) और दुःख के अन्त को प्राप्त होता है । ३६

श—(यद्, तद्, अग्रे, विषं, इव) जो वह पहले विष की तरह (परिणामे, अमृत-उपमं) परिणाम में अमृत के तुल्य (तद् सुखं, सात्विकं, प्रोक्तं) वह सुख सात्विक कहा गया है (आत्म-बुद्धि-प्रसाद-जं) अपनी बुद्धि की स्वच्छता से उत्पन्न हुआ ।

अ—हे भरतों में श्रेष्ठ ! अब मुझ से सुख तीन प्रकार का सुन । जिस (सुख) में अभ्यास से आनन्द मनाता है (न कि विषय सुख की तरह झटपट खुशी को पाता है) और (आनन्द मनाता हुआ) दुःख के अन्त को पहुंच जाता है । ३६ । जो आरम्भ में (मन के संयम के अधीन होने से) विष की तरह होता है, परिणाम में अमृत के तुल्य होजाता है, वह सुख सात्विक कहागया है, जो कि अपनी बुद्धि की स्वच्छता (निर्मलता, सफाई) से उत्पन्न होता है (न कि बाह्य विषयों के भोग से) ।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

श—(विषय-इन्द्रिय-संयोगात्) विषयों और इन्द्रियों के संयोग से (यद्, तद्, अग्रे, अमृत-उपमं) जो वह पहले अमृत के तुल्य (परिणामे, विषं, इव) परिणाम में विष की तरह (तद्, सुखं, राजसं, स्मृतं) वह सुख राजस माना गया है ।

अ—विषयों और इन्द्रियों के संयोग से जो सुख पहले अमृत की तरह होता है, और अन्त में (=बल वीर्य रूप प्रज्ञा धन उत्साह की

हानि का हेतु होने से उपभोग के अन्त में) विष की तरह होता है, वह सुख राजस माना गया है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९

श-(यत्, अग्रे, च, अनुबन्धे, च) जो आरम्भ में और फल में (सुखं, मोहनं, आत्मनः) सुख मोहने वाला आत्मा का (निद्रा-आलस्य-प्रमाद-उत्थं) निद्रा आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ (तत्, तामसं, उदाहृतं) वह तामस कहा गया है।

अ-जो सुख आरम्भ में और फल (नतीजे) में आत्मा का मोहकारी है, वह निद्रा आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होने वाला सुख तामस कहा गया है।

सं०-न कहे विषय का संग्रह करते हुए प्रकरण का उपसंहार करते हैं :—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।

श-(न, तत् अस्ति, पृथिव्यां, वा) नहीं वह है पृथिवी में वा (दिवि, देवेषु, वा पुनः) द्यौमें देवताओं में अथवा फिर (सत्त्वं) सत्त्व (प्रकृति-जैः, मुक्तं, यत्) प्रकृति से उत्पन्न होने वालों से छूटा हुआ जो (एभिः, स्यात्, त्रिभिः, गुणैः) इन से हो तीन गुणों से-

अ-(निदान) न ही पृथिवी में (मनुष्यादियों में) और न ही द्यौमें देवताओं में कोई ऐसा सत्त्व (प्राणि वा कोई अन्य वस्तु) है जो प्रकृति से उत्पन्न होने वाले इन तीन गुणों से छूटा हुआ हो।

संगति—यदि इस प्रकार कर्म कर्ता फल आदिक और सब प्राणी त्रिगुणात्मक ही हैं, तब इस का गुणों से मोक्ष कैसे होसक्ता है, इस आकांक्षा में, हर एक पुरुष का अपने स्वभावानुकूल शास्त्र विहित कर्तव्य का पालन करना परमेश्वर की आराधना है, इस आराधना द्वारा परमेश्वर के प्रासाद से ज्ञान प्राप्त होता है, उससे मोक्ष होता है। यह सारी गीता के अर्थ का जो सार है, इस को संग्रह करके दिखलाने के लिये नया प्रकरण आरम्भ करते हैं—

ब्राह्मण क्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।४१

श—(ब्राह्मण-क्षत्रिय—विशां) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के (शूद्राणां, च, परं-तप) और शूद्रों के हे शत्रुओं को तपाने वाले (कर्माणि, प्रविक्तानि) कर्म अलग २ बांटे गए (स्वाभाव—प्रभवैः, गुणैः) स्वभाव से उत्पन्न होने वाले गुणों से—

अ—(अपने) स्वभाव से उत्पन्न होने वाले गुणों द्वारा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों के कर्म अलग २ बांटे गए हैं।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

श—(शमः, दमः, तपः, शौचं) शम दम तप पवित्रता (क्षान्तिः, आर्जवं, एव, च) क्षमा और सरलता (ज्ञानं, विज्ञानं, आस्तिक्यं) ज्ञान विज्ञान आस्तिकता (ब्रह्म-कर्म, स्वभाजं) ब्राह्मण का कर्म स्वभाव से उत्पन्न होने वाला।

अ—शम, दम, (अपने ऊपर वशिता) तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान (शास्त्रीय ज्ञान) विज्ञान (अनुभव) आस्तिकता (ईश्वर

पर विश्वास) यह ब्राह्मण का स्वभाव जन्य* कर्म है ।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

श–(शौर्यं, तेजः, धृतिः, दाक्ष्यं) शूरता तेज धैर्य दक्षता (युद्धे, च, अपि, अपलायनं) और युद्ध में न भागना (दानं,ईश्वर-भावः, च) दान और ईश्वर-भाव (क्षात्रं, कर्म, स्वभावजं) क्षत्रिय का कर्म स्वभाव से उत्पन्न होने वाला ।

अ–शौर्य तेज धैर्य दक्षता (कुशलता निपुणता फुर्ती) युद्ध में न भागना दान (उदारता) और ईश्वरभाव (हकूमत करने का स्वभाव) यह क्षत्रिय का स्वभावज कर्म है ।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

श–(कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यं) खेती गौओं की रक्षा व्यापार (वैश्य–कर्म, स्वभावजं) वैश्य का कर्म स्वभाव से उत्पन्न होने वाला (परिचर्या-आत्मकं, कर्म) सेवारूप कर्म (शूद्रस्य,अपि, स्वभाव-जं) शूद्र का भी स्वभावज ।

अ–खेती गौओं की रक्षा और व्यापार वैश्य का स्वभावज कर्म है । सेवा रूप कर्म शूद्र का भी स्वभावज है ।

---

*पूर्व स्वभाव से उत्पन्न होने वाले गुणों द्वारा विभाग बतलाया था, यहां भी तदनुसार स्वभाव जन्य कहा है । अर्थात् यद्यपि क्षत्रिय आदि में भी शम दम क्षमा आदि होते हैं, पर उन में यह यत्न-साध्य होते हैं, और किसी २ अवसर पर प्रकट होते हैं,ब्राह्मणमें यह स्वाभाविक (कुदरती) होते हैं, यही भेद है ॥

संगति—अपने स्वभावज कर्मको पूरा करने का फल कहते हैं

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

श—(स्वे, स्वे, कर्मणि, अभिरतः) अपने २ कर्म में लगा हुआ (संसिद्धि,लभते, नरः) सिद्धि को प्राप्त होता है मनुष्य (स्व कर्म—निरतः) अपने कर्म में लगा हुआ (सिद्धि, यथा, विन्दति, तत्, शृणु) सिद्धि को जैसे पाता है, वह सुन । ४५ । (यतः प्रवृत्तिः, भूतानां) जिस से प्रवृत्ति भूतों की (येन, सर्वं, इदं, ततं) जिस ने सब यह फैलाया है (स्व—कर्मणा, तं, अभ्यर्च्य) अपने कर्म से उसको पूज कर (सिद्धि, विन्दति, मानवः) सिद्धि पाता है मनुष्य ।

अ—अपने २ कर्म में लगा हुआ पुरुष सिद्धि (पूर्णता) को पाता है, अपने कर्म में रतहुआ जैसे सिद्धि पाता है वह सुन । ४५ । जिस से भूतों की प्रवृत्ति (निकास) है, जिसने यह सब फैलाया है, अपने कर्म से उस को पूजकर सिद्धि को प्राप्त होता है ।

संगति—जिस लिये ऐसा है, इस लिये—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

श—(श्रेयान्, स्व—धर्मः, वि—गुणः) अच्छा अपना धर्म गुण हीन (पर-धर्मात्, सु—अनुष्ठितात्) दूसरे के धर्म ठीक २ पूरा किये

हुए से (स्वभाव-नियतं, कर्म, कुर्वन्) स्वभाव से नियत कर्म को करता हुआ (न, आप्नोति, कल्बिषं) नहीं प्राप्त होता है पाप को।

अ-ठीक २ अनुष्ठान किये हुए दूसरे के धर्म से अपना धर्म गुणहीन (अंगहीन) भी अच्छा है* स्वभाव से नियत कर्म करता हुआ पुरुष पाप को नहीं प्राप्त होता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:४८

श-(सहजं, कर्म, कौन्तेय) स्वाभाविक कर्म को हे कौन्तेय (स-दोषं, अपि, न, त्यजेत्) दोष सहित को भी न त्यागे (सर्व-आरम्भाः, हि, दोषेण) सारे कर्म क्योंकि दोष से (धूमेन,अग्निः, इव आवृताः) धुएं से आग की तरह घिरे हुए।

अ-हे कौन्तेय!स्वाभाविक कर्म चाहे दोष वाला भी हो,तो भी उस को न त्यागे* क्योंकि सभी कर्म दोष से घिरे हुए हैं जैसे धुएं से आग।

संगति-किस तरह कर्म करने से दोषका अंश दूर होकर गुणका अंश ही रह जाता है, इस अपेक्षा में कहते हैं —

असक्त बुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥

---

*क्षात्र धर्म में बन्धुओं को मारने से भिक्षा मांग खाना पर धर्म अच्छा है, यह मत समझो।

*जैसे धुएं के दोष को अलग करके प्रताप हो अन्धेरे और सरदी आदि के दूर करने के लिए सेवन किया जाता है, इसी तरह कर्म में भी दोष का अंश दूर करके गुणका अंश ही चित्त की शुद्धि के लिए सेवन किया जाता है (श्री श्रीधर)

श.-(अ-सक्त-बुद्धिः, सर्वत्र) न फंसी हुई बुद्धि वाला सर्वत्र (जित-आत्मा, विगत-स्पृहः) जीते हुए मन वाला दूर हुई इच्छा वाला (नैष्-कर्म्य-सिद्धिं, परमां) कर्मों से अलग होने की सिद्धि परम को (संन्यासेन, अधिगच्छति) त्याग से प्राप्त होता है ।

अ-सर्वत्र (पुत्र स्त्री घर आदि में) न फंसी हुई बुद्धि वाला जीते हुए मनवाला (विषयों से) दूर हुई इच्छा वाला पुरुष कर्म में आसक्ति और उसके फल के त्याग रूप त्याग से परम नैष्कर्म्य (कर्मों से मुक्त होने की) सिद्धि को प्राप्त होता है*

संगति-ऐसी सिद्धि का फल ब्रह्म-प्राप्ति दिखलाते हैं —

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।

(सिद्धिं, प्राप्तः, यथा, ब्रह्म, तथा, आप्नोति, निबोध, मे) सिद्धि को प्राप्त हुआ जैसे ब्रह्म को वैसे प्राप्त होता है जान मुझ से (समासेन, एव, कौन्तेय) संक्षेप से ही हे कौन्तेय (निष्ठा, ज्ञानस्य, या, परा) निष्ठा ज्ञान की जो सब से उत्तम ।

अ-सिद्धि को प्राप्त हुआ जैसे ब्रह्म को प्राप्त होता है, वह हे कौन्तेय ! मुझ से संक्षेप से ही जान, जो कि ज्ञान की परा निष्ठा (सब से ऊंची स्थिति) है ।

संगति-वही ब्रह्मप्राप्ति का प्रकार कहते हैं तीन से-

---

*निष्कर्म भाव से स्वरूपसे कर्मका त्याग अभिप्रेत नहीं, कर्मों में आसक्तिऔर फल का त्याग ही त्याग है और यही निष्कर्मता है जैसा कि पूर्व ३।४—८ और ४। २०में स्पष्ट कहआए हैं ।

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।५२
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते५३

श–(बुद्धया, विशुद्धया, युक्तः) बुद्धि शुद्ध से युक्त (धृत्या, आत्मानं,नियम्य,च) और धैर्य से अपने आपको रोककर(शब्दादीन्, विषयान्, त्यक्त्वा) शब्द आदि विषयों को त्याग कर (राग-द्वेषौ, व्युदस्य, च) और राग द्वेष को परे रखकर ।५१। (विविक्त-सेवी, लघु-आशी) एकान्तसेवी अल्पाहारी (यत-वाक्-काय-मानसः) रोका है वाणी शरीर और मन को जिसने (ध्यान-योग-परः, नित्यं) ध्यान और योग में तत्पर हुआ लगातार (वैराग्यं,समुपाश्रितः)वैराग्य का आश्रय लिये हुए ।५२। (अहंकारं, बलं, दर्पं) अहंकार वेग गर्व (कामं, क्रोधं, परिग्रहं) काम क्रोध लोभ (विमुच्य, निर्-ममः, शान्तः) छोड़ कर ममतारहित शान्त (ब्रह्म-भूयाय, कल्पते) ब्रह्म भाव के योग्य होता है।

अ–शुद्ध (माया रहित) बुद्धि से युक्त हुआ,धृति (१८।३३में पूर्व कही सात्विकी धृति) से अपने आपको रोककर, शब्द आदि विषयों को त्याग कर, रागद्वेष को परे रखकर ।५१। एकान्तसेवी अल्पाहारी, वाणी शरीर और मन को बस में किये हुए, लगातार

ध्यान (आत्मचिन्तन) और योग (उसी में मन को एकाग्र करना) में तत्पर हुआ, वैराग्य का आश्रय किये हुए ।५२। अहंकार,(इन्द्रियों के) वेग,गर्व,काम, क्रोध और लोभ को छोड़कर ममता रहित शान्ति वाला हुआ ब्रह्मभाव के योग्य होता है ।५३।

संगति–ब्रह्मभाव का फल कहते हैं–

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

श–(ब्रह्मभूतः, प्रसन्न-आत्मा) ब्रह्म हुआ प्रसन्न चित्त वाला (न, शोचति, न काङ्क्षति) न शोक करता है न इच्छा करता है (समः, सर्वेषु, भूतेषु) सम सारे भूतों में (मद्-भक्तिं, लभते, परां) मेरी भक्ति को पाता है परम को।

अ–ब्रह्म हुआ प्रसन्न चित्त वाला न शोक करता है, न इच्छा करता है, सब भूतों में सम हुआ वह मेरी परम भक्ति को पाता है*

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्

श–(भक्तया, मां, अभिजानाति) भक्ति से मुझे जानता है (यावान्, यः, च, अस्मि, तत्त्वतः) जैसा और जो हूं तत्त्व से (ततः मां, तत्त्वतः, ज्ञात्वा) तब मुझे तत्त्व से जानकर (विशते, तद्-अनन्तरं) प्रवेश करता है उसके पीछे।

अ–उस भक्ति से वह मुझे तत्त्व से जानता है, मैं जैसा (सर्व व्यापी) हूं, और जो (सच्चिदानन्द स्वरूप) हूं, तब मुझे तत्त्व से जानकर उसके अनन्तर मुझ में प्रवेश करता है।

---

*सब भूतों के भले में लगना परमात्मा की परा भक्ति है।

संगति—अपने कर्मों द्वारा परमेश्वर के आराधन से जो मोक्ष का प्रकार कहा है, उसी का उपसंहार करते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ५६

श—(सर्व-कर्माणि, अपि) सारे कर्मों को भी (सदा, कुर्वाणः, मद्-व्यपाश्रयः) सदा करता हुआ मेरे आश्रय हुआ (मत्-प्रसादात्, अवाप्नोति) मेरे प्रसाद से प्राप्त होता है (शाश्वतं, पदं, अव्ययं) सनातन पद अविनाशी।

अ—सर्वदा सारे कर्मों को करता हुआ भी जो मेरे आश्रय है वह मेरे प्रसाद से सनातन अविनाशी पद को प्राप्त होता है।

संगति—जिसलिये ऐसे है, इसलिये—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ५७

श—(चेतसा, सर्व-कर्माणि, मयि, संन्यस्य) चित्त से सारे कर्मों को मेरे ऊपर छोड़कर (मत्-परः, बुद्धि-योगं, उपाश्रित्य) मेरे परायण हुआ बुद्धि योग का आश्रय करके (मत्-चित्तः, सततं, भव) मुझ में चित्त वाला सदा हो।

अ—चित्त से सारे कर्मों को मेरे समर्पण करके, मेरे परायण हुआ, बुद्धि योग का आश्रय करके सदा मुझ में चित्त वाला हो।

संगति—इसी में तेरा कल्याण है, यह बतलाते हैं—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।

श–(मत्-चित्तः, सर्व-दुर्गाणि) मुझ में चित्तवाला हुआ सारे संकटों को (मत्-प्रसादात्, तरिष्यसि) मेरे अनुग्रह से तर जाएगा (अथ, चेत्) और यदि (त्वं, अहंकारात्, न, श्रोष्यसि) तू अहंकार से नहीं सुनेगा (विनङ्क्ष्यसि) विनष्ट होगा।

अ–मुझ में चित्तवाला हुआ मेरे अनुग्रह से तू सारे संकटों को तर जाएगा, और यदि अहंकार से (मेरे हित वचन को) नहीं सुनेगा, तो विनिष्ट होगा।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति

श–(यत्, अहंकारं, आश्रित्य) जो अहंकार का आश्रय करके (न, योत्स्ये, इति, मन्यसे) नहीं युद्ध करूंगा यह मानता है (मिथ्या, एषः, व्यवसायः, ते) मिथ्या यह निश्चय तेरा (प्रकृतिः, त्वां, नियोक्ष्यति) प्रकृति तुझे नियुक्त करेगी।

अ–अहंकार का आश्रय करके जो तू यह मानता है, कि 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' यह तेरा निश्चय मिथ्या ही है, प्रकृति तुझे (बलात् इसमें) नियुक्त करेगी।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुनेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्

श–(स्वभाव-जेन, कौन्तेय, निबद्धः, स्वेन, कर्मणा) स्वभाव से उत्पन्न होने वाले से हे कौन्तेय जकड़ा हुआ अपने कर्म से (कर्तुं, न, इच्छसि, यत्, मोहात्) करना नहीं चाहता है जो मोह से (करिष्यसि, अवशः, अपि, तत्) करेगा बेवस भी वह।

अ—हे कौन्तेय ! मोह से जिस (काम) को तू नहीं करना चाहता है, अपने स्वभावज कर्म से जकड़ा हुआ तू बेवस हुआ उसको करेगा।

संगति—अपने स्वभाव के अनुसार वर्तते हुए सब जीवों का परमात्मा नियन्ता है, यह दिखलाते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।

श—(ईश्वरः, सर्व-भूतानां, हृद्-देशे) ईश्वर सब भूतों के हृदय देश में (अर्जुन, तिष्ठति) हे अर्जुन स्थित है (भ्रामयन्, सर्व-भूतानि) घुमाता हुआ सब जीवों को (यन्त्र-आरूढानि, मायया) यन्त्र पर चढ़े हुए माया से ।

अ—ईश्वर हे अर्जुन ! (शरीर रूपी) यन्त्र पर चढ़े हुए सब भूतों को अपनी माया (प्रकृति) से घुमाता हुआ सब भूतों के हृदय देश में स्थित है ।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।तत्प्रसा-दात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

श—(तं, एव, शरणं, गच्छ) उसही में शरण ले (सर्व-भावेन, भारत) सारी भावना से हे भारत (तत्-प्रसादात्, परां, शान्ति उसकी कृपा से परम शान्ति को (स्थानं, प्राप्स्यसि, शाश्वतं) स्थान को प्राप्त होगा नित्य ।

अ—हे भारत ! सारी भावना (सर्वात्मा) से उसी की शरण ले, उसकी कृपा से परम शान्ति और नित्य स्थान को प्राप्त होगा ।

सं०—गीता के विषय को उपसंहार करते हुए कहते हैं :—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु। ६३

श—(इति, ते, ज्ञानं, आख्यातं,) यह तुझे ज्ञान बतलाया है (गुह्यात, गुह्यतरं, मया) गुह्य से गुह्यतर मैंने (विमृश्य, एतत, अशेषेण) विचार कर इसको पूरा (यथा, इच्छसि, तथा, कुरु) जैसे चाहता है वैसे कर।

अ—यह मैंने गुह्य से गुह्यतर ज्ञान तुझे बतलाया है, इसको पूरा विचारकर पीछे जैसे चाहता है वैसे कर (भाव यह है, कि इसके विचारने पर तेरा मोह निवृत्त होजाएगा)।

संगति—सब प्रकार से परमेश्वर के ही होकर, परमेश्वर पर पूरा भरोसा रखकर, सारी बागडोर उसी के हाथ में सौंप देनी ही गीता का परम रहस्य है,यह बात कृपया स्वयमेव अन्त में स्पष्ट कहते हैं :—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।

श—(सर्व-गुह्यतमं, भूयः) सारों का गुह्यतम फिर (शृणु, मे, परमं, वचः) सुन मेरा परम वचन (इष्टः, असि, मे, दृढं, इति) प्यारा है मेरा दृढ़ यह (ततः, वक्ष्यामि, ते, हितं) इसलिये कहूंगा तेरा हित।

अ—सारे गुह्यों का गुह्यतम यह मेरा परम वचन फिर सुन, तू मेरा बड़ा प्यारा है, इसलिये तेरा हित कहूंगा।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।

श–(मत्-मनाः, भव, मत्-भक्तः) मुझ में चित्तवाला हो मेरा भक्त (मत्-याजी, मां, नमस्-कुरु) मेरा यजन करनेवाला मुझे नमस्कार कर (मां, एव, एष्यसि) मुझे ही प्राप्त होगा (सत्यं, ते, प्रतिजाने) सत्य तेरे लिए प्रतिज्ञा करता हूं (प्रियः, असि, मे) प्यारा है मेरा ।

अ–मुझ में चित्तवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा यजन करने वाला हो, मुझे नमस्कार कर, (इसप्रकार वर्तता हुआ तू) मुझे ही प्राप्त होगा, तेरे लिये सच्ची प्रतिज्ञा करता हूं, क्योंकि तू मेरा प्यारा है

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।

श–(सर्व-धर्मान्, परित्यज्य) सारे धर्मों को त्यागकर (मां एकं, शरणं, व्रज) मुझ अकेले की शरणको प्राप्त हो (अहं, त्वा, सर्व-पापेभ्यः, मोक्षयिष्यामि) मैं तुझे सारे पापों से छुड़ाऊंगा । (मा, शुचः) मत शोककर ।

अ–सारे धर्मों को त्यागकर अकेली मेरी शरण ले, शोक मत कर, मैं तुझे सारे पापों से छुड़ाऊंगा । *

---

* अर्जुन के लिए उपदेश में यह अन्तिम श्लोक है, इसका आशय श्री शंकराचार्य्य ने यह लिया है, कि कर्म्म सारे त्यागकर केवल परमात्मज्ञान में तत्पर हो, परमात्मा तुझे सारे पापों अर्थात् पाप पुण्यों से छुड़ाएंगे, बन्धन से मुक्त करेंगे । श्री रामानुज ने यह आशय लिया है; कि कर्म्मों में आसक्ति और फलको त्यागही पूर्व (१८ । ९) त्याग कहे आये हैं, यहां धर्म्मों के त्याग से यह तात्पर्य है, कि कर्म्मों में आसक्ति और फल को त्यागकर केवल ईश्वर परायण हो, इस तरह बर्तने से परमात्मा सारे संचित पापों से तुझे छुड़ा लेंगे । श्री माधव ने लिखा है, कि धर्म्म के त्याग से अभिप्राय

संगति–इसप्रकार गीतार्थ का तत्त्व उपदेश करके उसके सम्प्रदाय के चलाने में नियम कहते हैं ;—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।
य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।

श–(इदं, ते, न, अतपस्काय) यह तुझे न तपहीन को (न, अभक्ताय, कदाचन) न भक्ति शून्य को कभी (न, च, अशुश्रूषवे, वाच्यं) और न न सुनना चाहते हुए को कहना चाहिये (न, च, मां, यः, अभ्यसूयति) और न मेरी जो असूया करता है।

अ–यह तुझे न कभी तपहीन को, न (गुरु और ईश्वर में) भक्ति शून्य को, और न सुनना न चाहते हुए को कहना चाहिये, और न उसको जो मेरी असूया* करता है।

फल की त्याग से है, अन्यथा युद्ध का विधान कैसे होता। अस्तु, पर हमें यह सीधा अभिप्राय प्रतीत होता है, कि अर्जुन जो चाचे आदि के वध के विचार से शोक में पड़कर यह कहता था, कि भिक्षा मांग कर खालेना मेरे लिये धर्म है, पर इन पूज्यों के विरुद्ध युद्ध धर्म नहीं है। इसका अन्तिम उत्तर श्रीकृष्ण ने यह दिया है, कि तू सारी बातों को छोड़कर मेरी शरण पकड़, अन्तर्यामी की स्वाभाविक प्रेरणा में प्रवृत्त हो, वह परमात्मा तुझे सारे पापों से बचाकर चलाएंगे। अथवा यह कि सारी बातों को छोड़कर मेरी शरण पकड़, पापों से बचाने के लिए, मैं तेरा जम्मेवार हूं तू शोक मतकर।

* जलन से झूठी निन्दा।

संगति—इन दोषों से रहित लोगों को गीताशास्त्र के उपदेश का फल कहते हैं :—

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ६८

श—(यः, इदं, परमं, गुह्यं) जो इस परम गुह्य को (मद्-भक्तेषु, अभिधास्यति) मेरे भक्तों में कहेगा (भक्तिं, मयि, परां, कृत्वा) भक्ति मुझ में परम करके (मां, एव, एष्यति, असंशयः) मुझे ही प्राप्त होगा निःसन्देह।

अ—जो इस परम गुह्य को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझ में परम भक्ति करके निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ६९

श—(न, च, तस्मात्, मनुष्येषु) और न उससे मनुष्यों में (कश्चित्, मे, प्रियकृत् तमः) कोई मेरा बढ़कर प्यार करनेवाला (भविता, न, च) और होगा न (तस्मात्, अन्यः, प्रियतरः, भुवि) उससे और बढ़कर प्यारा पृथिवी में।

अ—मनुष्यों के मध्य में उससे (गीता शास्त्र के प्रचारक से) बढ़कर कोई मेरा प्रिय करनेवाला नहीं है, और न ही मुझे उससे बढ़कर पृथिवी में कोई प्यारा होगा।

संगति—पढ़ने वाले के लिये फल कहते हैं :—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ७०

श-(अध्येष्यते, च, यः) और पढ़ेगा जो (इमं, धर्म्यं, संवादं, आवयोः) इस धर्मयुक्त संवाद को हमारे (ज्ञान-यज्ञेन, तेन, अहं, इष्टः, स्यां) ज्ञान यज्ञ के द्वारा उससे मैं पूजा हुआ हूंगा (इति, मे, मतिः) यह मेरा निश्चय।

अ-और जो कोई हमारे इस धर्मयुक्त संवाद को पढ़ेगा, उससे मैं ज्ञानयज्ञ द्वारा पूजा हुआ हूंगा, यह मेरा निश्चय है।

संगति-अब सुनने वाले के लिये फल कहते हैं :—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्य-
कर्मणाम् ॥ ७१ ॥

श-(श्रद्धावान्, अनुसूयः, च) श्रद्धावाला और असूया रहित (शृणुयात्, अपि, यः, नरः) सुने भी जो पुरुष (सः, आपि, मुक्तः) वह भी मुक्त हुआ (शुभान्, लोकान्, प्राप्नुयात, पुण्य-कर्मणां) शुभ लोकों को प्राप्त हो पुण्य कर्म वालों के।

अ-और जो पुरुष श्रद्धावान् और असूया रहित होकर सुने भी, वह भी (पापों से) मुक्त हुआ पुण्य कर्मियों के शुभ लोकों को प्राप्त होगा।

संगति-यदि मेरे उपदेश ने पूरा काम न किया हो, तो फिर उपदेश करूंगा, इस भाव से श्रीकृष्ण अर्जुन को पूछते हैं :-

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।

कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

श–(कच्चित, एतत्, श्रुतं, पार्थ) क्या यह सुना हे पार्थ (त्वया, एक-अग्रेण, चेतसा) तूने एकाग्रचित्त से (कच्चित्, अज्ञानसंमोहः, प्रनष्टः, ते, धनञ्जय) क्या अज्ञान की भूल नष्ट हुई तेरी हे धनञ्जय

अ–क्या हे पार्थ तूने यह एकाग्रचित्त से सुना है, और क्या हे धनञ्जय अज्ञान से उत्पन्न हुई तेरी भूल नष्ट हुई है। *

संगति–कृतार्थ हुआ :–

अर्जुन उवाच–अर्जुन बोला।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ७३

श–(नष्टः, मोहः, स्मृतिः, लब्धा) दूर होगई भूल स्मृति पाली (त्वत्-प्रसादात्, मया, अच्युत) तेरी कृपा से मैंने हे अच्युत (स्थितः, अस्मि, गत-संदेहः) स्थित हूं दूर हुए संदेह वाला (करिष्ये, वचनं, तव) करूंगा वचन तेरा।

अ–हे अच्युत तेरी कृपा से भूल दूर होगई और स्मृति मैंने पाली है † मेरा संदेह दूर होगया, मैं तैयार हूं, तेरा वचन करूंगा।

---

* यदि शिष्य को समझ न आए, तो फिर यत्न करकेभी शिष्य को कृतार्थ करना चाहिए, यह आचार्य्य का धर्म्म भी इससे दिखलाया गया है॥

† आत्मा को मनुष्य भूला हुआ है। उसको जानना अपने आपको स्मृति है। इसीलिए उपनिषद् में भी कहा है "सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृति लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः"=अन्तःकरण की शुद्धि होने पर स्मृति अटल होती है, और स्मृति होजाने पर सारी गांठें खुल जाती हैं।

संगति—गीता का विषय समाप्त हुआ, अब कथा का सम्बन्ध दिखलाते के लिये :—

सञ्जय उवाच—सञ्जय बोला।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥

श—(इति, अहं) इसप्रकार मैं (वासुदेवस्य, पार्थस्य, च, महात्मनः) कृष्ण और अर्जुन महात्मा का (संवादं, इमं, अश्रौषं) संवाद यह सुना (अद्भुतं, रोम-हर्षण) अचरज रोमाञ्च करनेवाले।

अ—इसप्रकार मैंने श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन का यह संवाद सुना है, जो अद्भुत और रोमाञ्च करनेवाला है।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्

श—(व्यास-प्रसादात, श्रुतवान्) व्यास की कृपा से सुना (एतत, गुह्यं, अहं, परं) यह गुह्य मैंने परम (योगं, योग-ईश्वरात, कृष्णात्) योग योग के मालिक कृष्ण से (साक्षात्, कथयतः, स्वयं) साक्षात् कहते हुए आप॥

अ—यह परम गुह्य योग मैंने व्यास की कृपा (दिव्य नेत्र श्रोत्रादि देने की कृपा) से स्वयं साक्षात् कहते हुए योग के मालिक श्रीकृष्ण से सुना है।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ७६

श–(राजन्, संस्मृत्य, संस्मृत्य) हे राजन् स्मरण करके स्मरण करके (संवादं, इमं, अद्भुतं) संवाद इस अद्भुत को (केशव-अर्जुनयोः, पुण्यं) कृष्ण और अर्जुन के पुण्य (हृष्यामि, च, मुहुर्मुहः) हर्षित होता हूं वारवार।

अ–हे राजन् (हे धृतराष्ट्र) श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस अद्भुत पुण्य संवाद को स्मरण कर २ के बार २ हर्षित (वा रोमाञ्चित) होता हूं।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनःपुनः

श–(तत्, च, संस्मृत्य, संस्मृत्य) और वह स्मरण करके स्मरण करकें (रूपं, अति-अद्भुतं, हरेः) रूप अति अद्भुत हरि का (विस्मयः, मे, महान्, राजन्) विस्मय मुझे बड़ा हे राजन् (हृष्यामि, च, पुनः, पुनः) हर्षित होता हूं फिर २।

अ–और हरि के उस अति अद्भुत रूप को स्मरण कर२ के हे राजन्! मुझे बड़ा विस्मय होता है, और फिर २ हर्षित होता हूं।

संगति–बहुत कहने से क्या।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ७८

श–(यत्र, योग-ईश्वरः, कृष्णः) जहां योग का मालिक कृष्ण (यत्र, पार्थः, धनुः-धरः) जहां अर्जुन धनुषधारी (तत्र, श्रीः, विजयः, भूतिः) वहां लक्ष्मी विजय वृद्धि (ध्रुवा, नीतिः) अटल नीति (मतिः, मम) निश्चय मेरा।

अ—जहां योगेश्वर कृष्ण है और जहां धनुषधारी अर्जुन है, वहां (राज्य) लक्ष्मी, विजय, वृद्धि और नीति अटल है, यह मेरा निश्चय है *

* अन्त में इस कथन से संजय का यह आशय है, कि अब भी तू पुत्रों को समझा बुझाकर पाण्डवों से सन्धि करले, यही अच्छी बात है।

इति श्री मद्भगवद्गीता० मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः

॥ समाप्त ॥

—ॐ तत्सत्—

ग्यारह उपनिषदें—

(१) ईश .... =)	(८) एतरेय ....)
(२) केन .... =)	(९) छान्दोग्य .... २)
(३) कठ .... ।=)	(१०) बृहदारण्यक .... २=)
(४) प्रश्न .... ।)	(११) श्वेताश्वेतर .... ।)॥
(५-६) मुण्डक और माण्डूक्य दोनों इकट्ठी ।-)॥	ग्यारह इकट्ठी लेने में केवल .... ५॥=)
(७) तैत्तिरीय .... ।=)	

(१२) **उपनिषदों की भूमिका**—उपनिषदों की हर एक बात इसमें थोड़े में बतलाई गई है, **अद्वैत विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत** मतों का भी वर्णन है।

(१३) **उपनिषदों की शिक्षा**—अर्थात 'उपनिषदें हमें क्या सिखलाती हैं' यह पुस्तक चार भागों में छपी है, इसमें उपनिषदों के सारे विषय आजाते हैं। जैसे परमात्मा की बाबत जो२ बात जिस २ उपनिषद् में लिखी है, वह सब एक जगह इकट्ठी की गई है। मूल उपनिषद् भी और हिन्दी भाष्य भी, और इसके सिवा उसी विषय के वेदमन्त्र भी और दूसरे प्रमाण भी लिखे गए हैं। इसी तरह आत्मा आदि की बाबत समझो, पुस्तक बड़ी ही मनोरञ्जक है, और इससे वाकफीयत बहुत बढ़ती है-मूल्य इस प्रकार है।

पहला भाग—परमात्मा के वर्णन में—विषय ३७-मू० ॥=)

दूसरा भाग—आत्मा और पुनर्जन्म के वर्णन में—विषय६८मू०॥)

तीसरा भाग—मरने के पीछे की अवस्थाओं, कर्म चरित और सामाजिक जीवन के वर्णन में—विषय ५५-मू ॥)

चौथा भाग—उपासना, उसके फल और मुक्ति के वर्णन में—विषय ८१-मू० ॥=)

दर्शन शास्त्र

(१४) नवदर्शन संग्रह—आर्यावर्त में नौ दर्शन बने हैं-छः जो प्रसिद्ध हैं और तीन यह-नास्तिक, बौद्ध और जैन। नव-दर्शन संग्रह में इन नौं के सिद्धान्तों का पूरा वर्णन है, दर्शनों के सिद्धान्त और उनके आपस में भेद, इस ग्रन्थ से बड़ी आसानी के साथ समझ में बैठ सक्ते हैं, अवश्य पढ़ने योग्य है-मू १)

(१५) वेदान्त दर्शन—सम्पूर्ण चारों अध्याय, भाष्य बड़ा खोलकर किया हुआ है-दो जिल्दों में, मूल्य ३॥)

(१६) योग दर्शन ॥।) * (१७) पारस्कर गृह्यसूत्र—सूत्रों का भाष्य मन्त्रों के अर्थ, संस्कारों की पद्धतियां, सब खोल कर दीगई हैं। मू० १॥) (१८) वासिष्ठ धर्म्म सूत्र—महर्षि वसिष्ठ का धर्म शास्त्र ।)॥ (१९) उपदेशसप्तक—वेद आदि सत् शास्त्रों के आधार पर धर्म के उपदेश ।-) (२०) वेद उपदेश वेद का उपदेश परमात्मा के विषय में मू० ॥।) (२१) शंकराचार्य का जीवन चरित्र—कुमारिल भट्टाचार्य और मण्डन मिश्र का जीवन चरित्र भी साथ है ॥) (२२) प्रार्थना पुस्तक -) (२३) ओंकार की उपासना और माहात्म्य -) (२४) वेद और रामायण के उपदेश रत्न -) (२५) वेद और महाभारतके उपदेश रत्न -) (२६) वेद, मनुस्मृति और गीता के उपदेश रत्न -)। श्री मद्भगवद्गीता २) (२८) 'गीता हमें क्या शिक्षा देती है' ।)

पता—राजाराम सम्पादक
आर्षग्रन्थावलि लाहौर ॥